हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

१९३४



हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

हिंदुस्तानी, १९३४

संपादक—रामचंद्र टंडन

लेख-सूची

हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

(१) मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था—लेखक, मिस्टर अब्दुल्लाह यूसुफ़ अली, एम्० ए०, एल्-एल्० एम्० । मूल्य १।)

(२) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—लेखक, राय बहादुर महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा । सचित्र । मूल्य ३)

(३) कवि-रहस्य—लेखक, महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा । मूल्य १।)

(४) अरब और भारत के संबंध—लेखक, मौलाना सैयद सुलैमान साहब नदवी । अनुवादक, बाबू रामचंद्र वर्मा । मूल्य ४)

(५) हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता—लेखक, डाक्टर बेनीप्रसाद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० एस्-सी० (लंदन) । मूल्य ६)

(६) जंतु-जगत—लेखक, बाबू ब्रजेश बहादुर, बी० ए०, एल्-एल्० बी० । सचित्र । मूल्य ६।।)

(७) गोस्वामी तुलसीदास—लेखक, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास और श्रीयुत पीतांबरदत्त बड़थ्वाल । सचित्र । मूल्य ३)

(८) सतसई-सप्तक—संग्रहकर्ता, राय बहादुर बाबू श्यामसुंदरदास । मूल्य ६)

(९) चर्म बनाने के सिद्धांत—लेखक, बाबू देवीदत्त अरोरा, बी० एस्-सी० । मूल्य ३)

(१०) हिंदी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट—संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए० । मूल्य १।।)

(११) सौर-परिवार—लेखक, डाक्टर गोरखप्रसाद, डी० एस्-सी०, एफ्० आर० ए० एस्० । सचित्र । मूल्य १२)

(१२) अयोध्या का इतिहास—लेखक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए० । सचित्र । मूल्य ३)

(१३) घाघ और भड्डरी—संपादक, पंडित रामनरेश त्रिपाठी मूल्य ३)

(१४) वेलि क्रिसन रुकमणी री—संपादक, ठाकुर रामसिंह, एम्० ए० और श्री सूर्यकरण पारीक, एम्० ए० । मूल्य ६)

(१५) चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—लेखक, श्रीयुत गंगाप्रसाद मेहता, एम्० ए० । सचित्र । मूल्य ३)

(१६) भोजराज—लेखक, श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेउ । मूल्य ३॥) सजिल्द, ३) बिना जिल्द ।

(१७) हिंदी उर्दू या हिंदुस्तानी—लेखक, श्रीयुत पंडित पद्मसिंह शर्मा । मूल्य सजिल्द १॥), बिना जिल्द १)

(१८) नातन—लेसिंग के जर्मन नाटक का अनुवाद । अनुवादक—मिर्ज़ा अबुलफ़ज़्ल । मूल्य १)

(१९) हिंदी भाषा का इतिहास—लेखक, श्रीयुत धीरेंद्र वर्मा, एम्० ए० । मूल्य सजिल्द ४), बिना जिल्द ३॥)

(२०) औद्योगिक तथा व्यापारिक भूगोल—लेखक, श्रीयुत शंकरसहाय सक्सेना । मूल्य सजिल्द ५॥), बिना जिल्द ५)

(२१) ग्रामीय अर्थशास्त्र—लेखक, श्रीयुत ब्रजगोपाल भटनागर, एम्० ए० । मूल्य ४॥) सजिल्द; ४) बिना जिल्द ।

(२२) भारतीय इतिहास की रूपरेखा (२ भाग)—लेखक, श्रीयुत जयचंद्र विद्यालंकार । मूल्य प्रत्येक भाग का सजिल्द ५॥), बिना जिल्द ५)

हिंदुस्तानी

तिमाही पत्रिका

की पहले तीन वर्ष की कुछ फ़ाइलें अभी प्राप्त हो सकती हैं । मूल्य पहले वर्ष का ८) तथा दूसरे और तीसरे वर्ष का ५) ।

प्रकाशक

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

सोल एजेंट

इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग ४ } जनवरी १९३४ { अंक १

तिब्बत में बौद्धधर्म

[लेखक—त्रिपिटकाचार्य महापंडित राहुल सांकृत्यायन]

ईसा से पूर्व तीसरी शताब्दी से ही बौद्धधर्म भारत की सीमा से बाहर फैलने लगा था। उस वक्त उस के धर्म-दूत न केवल बर्मा और लंका में बल्कि मेसोपोटामिया, मेसोदानिया और मिश्र तक पहुँच गए थे। इसी समय मध्य-एशिया में बौद्धधर्म ही नहीं फैला, बल्कि परंपरा के अनुसार सम्राट् अशोक का एक पुत्र कूचा आस-पास के और प्रदेशों में अपना राज्य भी क़ायम करने में सफल हुआ। जनश्रुति तो चीन में बौद्धधर्म का पहुँचना पहले बतलाती है किंतु ५६ ई० में खोतन के काश्यप-मातंग द्वारा किए गए बौद्ध ग्रंथों के चीनी अनुवाद तो अब भी प्राप्य हैं। ३७२ ई० में बौद्धधर्म कोरिया में, और ५३८ ई० में जापान में स्थापित हुआ। हिंदू-चीन में भी वह ईसा की तीसरी शताब्दी से पूर्व पहुँच चुका था। इस प्रकार जब कि बौद्धधर्म भारत से दूर दूर देशों में इतना पहले पहुँच चुका था, तो पड़ोसी भोट (तिब्बत) देश में ५८० ई० से पूर्व वह क्यों न पहुँच सका ?

वस्तुतः इस का कारण भोट देश की भौगोलिक स्थिति और बहुत कुछ उसी के कारण सामाजिक विकास की गति का मंद होना है। साधारणतः भोट देश में बस्तियाँ समुद्र तल से दस हज़ार से १२ हज़ार फ़ीट ऊपर बसी

हुई हैं यदि वह कहीं इन से नीची है, तो अन्यत्र १४ हजार फीट पर भी आप उन्हें देखेंगे। इतनी ऊँचाई पर होने के कारण एक तो वहाँ सर्दी बहुत पड़ती है और दूसरे वहाँ के पहाड़ वृक्ष-वनस्पति-शून्य हैं। इस प्रकार वहाँ जीवन-संघर्ष आरंभ से ही मनुष्य के लिए कुछ कठिन रहा है। लेकिन भोट देश-वासियों ने बहुत पहले ही इस को अधिक भीषण न होने देने के लिए जनसंख्या-निरोध की औषधि ढूँढ़ निकाली, और सभी भाइयों की एक ही पत्नी का नियम बना डाला। अब उतने ही खेत और उतने ही भेड़-बकरियों के गल्ले उन की आने वाली संतति के लिए भी काफी होने लगे। वह अपनी वर्तमान अवस्था से संतुष्ट रहने लगे। उस समय उन की प्रधान जीविका पशु-पालन थी। यदि परंपरा स्वीकार की जाय, तो कृषि का आरंभ (ब्य-खि) स्पु-ल्दे-गुङ्-र्ग्यल्[1] (प्रायः ईसवी सन् के आरंभ) के समय में हुआ। वस्तुतः यदि बाहर की दुनिया ने दुर्गम हिमालय की घाटियों को पार कर भोट-वासियों को बाह्य दुनिया का परिचय न कराया होता, तो कौन जानता है कि तिब्बत में अभी तक कोई परिवर्तन हुआ होता?

तिब्बत में बौद्धधर्म के प्रवेश के बारे में कुछ कहने से पूर्व यहाँ तिब्बत देश के बारे में कुछ कह देना आवश्यक है। तिब्बत देश पूर्व से पश्चिम तक प्रायः उतना ही लंबा है, जितना कि भारत। उत्तर-दक्षिण इस की चौड़ाई छः-सात सौ मील है। इस के चार भाग हैं—

(१) *पश्चिमी तिब्बत*—जिस में लदाख, शङ्-शुङ्[2] या गूगे (मान-

---

[1] डाक्टर ए० एच० फ्रांके, 'एँटिक्विटीज़ अव् इंडियन टिबेट', भाग २, पृ० ७९।

[2] भोट-भाषा के शब्दों के उच्चारण में इन नियमों का ध्यान रखने पर वह मध्य भोट के उच्चारण के अनुसार हो जायगा।—

(१) जितने अक्षर-समूह में केवल एक स्वर उच्चारित होता है, उसे एक विभाजक रेखा से अलग किया गया है; जैसे—ब्क्र-शिस् (= ट-शि)।

(२) स्वर-युक्तवर्ण के पीछे के स्वरहीन द्, ल्, स् उच्चारित नहीं होते; सिर्फ उन के पूर्व वाले अ, उ, ओ स्वर, विकृत हो अँ, उँ और ओँ (जर्मन ä, ü और ö) बन जाते हैं

सरोवर और लद्दाख के बीच का प्रदेश), और स्पु-रङ्स् (मानसरोवर से पूर्व ग्चङ् तक का प्रदेश) हैं।

(२) *मध्य तिब्बत*—अर्थात् ग्चङ् (नेपाल, स्पु-रङ्स्, द्बुस्, ल्हो-ख और ब्यङ्-थङ् से घिरा प्रदेश, जिस में ऽफग्-रि, ब्क्र-शिस्-ल्हुन्-पो, ञ-नम् और स्क्यिद्-रोङ् की बस्तियाँ हैं), द्बुस् (द्बुस्-छु नदी की उपत्यका का प्रदेश, जिस मे द्गऽ-ल्दन्, ल्ह-स, छु-शल् आदि की बस्तियाँ हैं), ल्हो-ख (छु-शल् से नीचे ब्रह्मपुत्र का तटवर्ती प्रदेश, जिस के निचले भाग मे कोङ्-पो प्रदेश है), और कोङ्-पो (पूर्व-वाहिनी ब्रह्मपुत्र का अंतिम और उष्णतम भाग, जो कि भोट के राजवंश का ही मूल-स्थान न था, बल्कि वर्तमान दलाई लामा और टशी लामा की भी जन्मभूमि है। यहीं यर्-लुङ् बस्ती है, जहाँ स्रोङ्-ब्चन्-स्गम्-पो के पूर्वज रहा करते थे)।

(३) *पूर्वीय तिब्बत*—अर्थात्, खम्स् (पूर्व में चीन के युन्-नन् और से-चु-आन् प्रांतों तक फैला प्रदेश, जिस में छब्-म्दो और ब्दे-ग्येस् के मशहूर मठ स्थापित हुए), अम्-दो (खम्स् के उत्तर में चीन से मध्य-एशिया के वणिक्-पथ के पास तक फैला प्रदेश, जिस में ब्क्र-शिस्-ख्यिल्, चो-नस्, स्कु-ऽबुम् के प्रसिद्ध मठ स्थापित हुए। महान् सुधारक चोङ्-ख-प भी यहीं की चोङ्-ख बस्ती में उत्पन्न हुआ था; कोकोनोर का महान् सरोवर और मंगोलों

---

(३) सभी स्वर ह्रस्व लिखे जाते हैं। आमतौर से उन का उच्चारण डेढ मात्रा के बराबर होता है; किंतु दीर्घ और प्लुत उच्चारण भी होते हैं।

(४) जिन वर्णों के नीचे हलंत का चिह्न (्) लगा है, उन के उच्चारण नहीं करने चाहिए, विशेष कर यदि वह स्वरयुक्त वर्ण के पूर्व हों।

(५) संयुक्त वर्णों का उच्चारण होना चाहिए, हाँ यह ध्यान रखना चाहिए, कि—

क्र, त्र, प्र=ट; ख्र, फ्र=ठ; ग्र, द्र, ब्र=ड

(६) भोट वर्णमाला के कुछ अक्षरों के मैंने इस प्रकार संकेत रक्खे हैं—

च Ts) छ (Tsh) ज्ञ Dz) श (Zh स Z) ऽ h या a)

की गु-गुर् जाति यहाँ बसती है) और गद् (ल्हासा से दक्खिन में)।

(४) ङाङ्-थङ्---(चङ्-थङ्). यह वह अधित्यका मैदान है, जो मध्य और पश्चिमीय तिब्बत से चीनी तुर्किस्तान तक फैला हुआ है।

१—आरंभ-युग (५८०-७८२ ई०)

स्रोङ्-गचन् गम्-पो के जन्म (५९७ ई०) से पूर्व भोट देश छोटी-छोटी सर्दारियों में बँटा था। स्रोङ्-चन् का जन्म मध्य तिब्बत के यर्लुङ् प्रदेश कोङ्-पो से हुआ था। कृषि के साथ सभ्यता का भी आरम्भ इसी प्रदेश में होना स्वाभाविक था। परंपरा तो बतलाती है, कि स्रोङ्-चन् का प्रथम पूर्वज कोसलराज प्रसेनजित (ई० पू० पांचवीं-छटो शताब्दी) का पुत्र था। जो भी हो, इस में तो शक नहीं कि स्रोङ्-ब्चन् का वंश और उस का प्रदेश अधिक उन्नतावस्था में था। यह प्रदेश औरों की अपेक्षा अधिक घना भी बसा था। बाहर के राजाओं और सम्राटों की शान-व-शौकत की कथायें यहाँ पहुँच चुकी थी। बाप के मरने के बाद तेरह वर्ष की अवस्था में ही स्रोङ्-ब्चन् अपने छोटे राज्य का स्वामी बना। किंतु वह उतने पर संतुष्ट रहने वाला कब था? अपने समकालीन सम्राट् हर्षवर्धन की भाँति उसे भी दिग्विजय की सूझी। निडर और कष्ट सहन में पटु अपने भोट योद्धाओं को संगठित कर उस ने एक सुदृढ़ सेना बनाई, और द्वुस् (मध्य) और ग्चङ् के प्रदेशों को अपने अधिकार में कर, उत्तरोत्तर बढ़ते हुए अपने सैन्यबल द्वारा उस ने पश्चिम में गिल्गित, उत्तर में चीनी तुर्किस्तान तक को ही नहीं जीत लिया, बल्कि नेपाल के राजा तथा चीन के सम्राट् को भी कुछ प्रदेशों के साथ अपनी कन्यायें देने पर बाध्य किया। इस प्रकार विजयी भोट देश का सभ्य दुनिया में प्रवेश हुआ। स्रोङ्-ब्चन् सारे भोट और पार्श्ववर्ती प्रदेशों का सम्राट् बना।

इस विशाल साम्राज्य के संचालन के लिए उसे कई बातें करनी पड़ीं, जिस में पहिली बात थी राजधानी को ब्रह्मपुत्र उपत्यका से हटा कर उस के लिए द्वुस्-छु नदी के तट पर ल्ह-स (ल्हासा) नगर का निर्माण करना

इस के पूर्व जो र(वं)-स (अज-भूमि) था, वह अब ल्ह-स (देवभूमि) हो गया। ५८० ई० से नेपालाधिपति अंशुवर्मा की कन्या भ्रि-चुन् सम्राट् के विवाहार्थ ल्हासा पहुँची। दूसरे वर्ष चीन-राजकन्या कोङ्-जो श्री राजामात्य मूगर् के साथ ल्हासा आई। इस से पूर्व ही सम्राट् ने यह अनुभव किया था, कि इतने बड़े राज्य का संचालन एक लिपि के बिना सुकर नहीं। इसी लिए वह थोन्-मि (थोन-गाँव-निवासी) अनु के पुत्र को सोलह साथियों[1] के साथ भारत में विद्याध्ययन के लिए भेज चुका था। नेपाल-राज-कन्या थोन्-मि के साथ ही ल्हासा पहुँची।

नेपाल-राजकुमारी अपने साथ अक्षोभ्य, मैत्रेय और चंदन की तारा की मूर्तियाँ ले आई। उधर चीन-राजकन्या ने एक पुरातन बुद्ध-प्रतिमा—जो किसी समय भारत से मध्य-एशिया और वहाँ से चीन पहुँची थी—दहेज में पाई। चीन-कुमारी रानी कोङ्-जो हुई। उस ने अपनी प्रतिमा को प्रतिष्ठित करने के लिए ल्हासा नगर के उत्तरी भाग में र-मो-छे का मंदिर बनवाया। नेपालकुमारी रानी भ्रि-चुन के पास इतना धन न था, कि वह अपनी मूर्तियों के लिए मंदिर बनवाती। सम्राट् स्रोङ्-बचन् को जब यह मालूम हुआ, तो उस ने एक जलाशय पटवा कर, ल्हासा नगर के मध्य में ऽखुल्-स्नङ् का सुंदर मंदिर बनवाया, जिसे आज कल जो-खङ् कहते हैं।

थोन्-मि ने राजा के आदेशानुसार भोट-भाषा लिखने के लिए एक लिपि बनाई जो कश्मीर की उस समय की लिपि के समान थी। भोट-भाषा में उतने स्वरों की आवश्यकता न थी, इस लिए उस ने अ को छोड़ इ-उ-ए-ओ यह चार स्वर बनाए। अ को ले कर व्यंजनों की संख्या तीस की। वर्गों के चतुर्थ अक्षर (घ, झ इत्यादि) और मूर्धन्य ष अनावश्यक होने के कारण छोड़ दिए गए। साथ ही विशेष उच्चारण के लिए च़, छ़, ज़, श़, स़, ऽ—इन छः नए अक्षरों का निर्माण करना पड़ा। थोन्-मि ने स्वयं भोट-भाषा का प्रथम व्याकरण बनाया। स्रोङ्-बचन् ने लिपि और व्याकरण आदि के सीखने के लिए अपना चार वर्ष का

[1] ओवरमिलर ऽु-स्तोन् भाग २ पृ० ४२

समय दिया। ल्हासा के लाल पर्वत (लचगास गि) में उत्कीर्ण वह गुफा आज भी दिखलाई जाती है, जिस में रह कर स्रोङ्-ब्चन चार वर्ष तक इस नई लिपि और व्याकरण का अभ्यास करता रहा।

कहते हैं, मिट्टी के बर्तन, पनचक्की और करघे का प्रचार भी इसी सम्राट् के समय में हुआ। जो भी हो, इस में तो शक नहीं, कि सम्राट् स्रोङ्-ब्चन तिब्बत का एक सुशासक ही न था, बल्कि वह भोट देश के आनेवाले साहित्य, धर्म, राजनीति आदि सभी का निर्माता था। अपनी दोनों बौद्ध रानियों और अमात्य थोन्-मि के प्रभाव में वह बौद्ध हुआ। बौद्धधर्म ने अब एक अशिक्षित जाति को सुसंस्कृत बनाने का अवसर पाया। कला-कौशल, आचार-व्यवहार, शिक्षण-अध्ययन सभी के लिए चीनी और भारतीय बौद्ध विद्वानों को खुला अवसर मिला। उन्हों ने बड़ी उदारता से काम लिया। यह कोशिश न की, कि इस अशिक्षित जाति के (जिस का न कोई पुराना साहित्य था, न जिस की कोई उन्नत संस्कृति थी) व्यक्तित्व को मिटा कर उसे भारतीय या चीनी बनाने की कोशिश करते। उन्हों ने बहुत सी बातें भोट जाति को दीं, किंतु सब का भोटी-करण कर के। बौद्ध-धर्मग्रंथों के अनुवाद करने के लिए भारतीय पंडित कुसर (या कुमार), नेपाली शीलमंजु, कश्मीरी तुन, चीनी भिक्षु महादेव, तथा थोन-मि और उस के शिष्य धर्मकोश एवं, ल्ह-लुङ्-छोस्-र्जे-द्पल् नियुक्त हुए। थोन-मि की आठ पुस्तकों में से अब कुछ ही बाकी हैं। शेष पुराने अनुवाद नहीं मिलते। कारण, यह है कि आरंभ के अनुवाद उतने अच्छे नहीं थे, इस लिए पीछे के सुंदर अनुवादों के सामने उन का प्रचार नहीं हो सका। कहा जाता है, थोन्-मि ने 'करंडव्यूह-सूत्र', 'रत्नमेघ-सूत्र' और 'कर्मशतक' के अनुवाद किए थे। चीनी आचार्यों ने विशेषतः गणित और वैद्यक की पुस्तकों के अनुवाद किए। इस काम में भारत, ली (चीनी तुर्किस्तान) और चीन तीनों देशों के बौद्ध विद्वानों ने सहयोग दिया था। ली देश के दो भिक्षुओं ने सम्राट् की जीवनी भी लिखी थी।

बासठ वर्ष के सुदीर्घ और प्रशांत शासन के बाद ६३८ ई० में ८२ वर्ष की　　　में सम्राट् स्रोङ्-ब्चन ने ल्हासा के उत्तरवाले फन्-युल प्रदेश के

सल-मी स्थान में अपना शरीर छोड़ा। उस की मृत्यु के बाद सम्राज्ञी कोङ्-जो की आज्ञा से चीन से आई बुद्ध-मूर्ति भी ऽखुल्-स्नङ् में ला कर स्थापित की गई, और आज तक वहीं है।

सम्राट् मङ्-स्रोङ्-मङ्-ब्चन् (६३८-६५२ ई०)—सम्राट् स्रोङ्-ब्चन् को, नेपाली रानी ख्रि-चुन् से एक कुमार गुङ्-स्रोङ्-गङ्-ब्चन् पैदा हुआ था, किंतु वह पिता के जीवन ही में जाता रहा। पिता के मरने पर चीनी रानी का पुत्र मङ्-स्रोङ्-मङ्-ब्चन् पंद्रह वर्ष की अवस्था में सिंहासन पर बैठा। पिता के महान् व्यक्तित्व ने इस के काम को यद्यपि ढाँक लिया, तो भी एक बार इसे अपना पराक्रम दिखाने का अवसर मिला। स्रोङ्-ब्चन् की मृत्यु के बाद, (यद्यपि नया सम्राट् चीन-राजकन्या का पुत्र था, तो भी) चीनियों ने भोट की शक्ति को निर्बल समझ उन से युद्ध छेड़ा, किंतु चीनियों को हारना पड़ा। धार्मिक बातों में इस सम्राट् ने तथा इस के पुत्र दुर्-स्रोङ् (६५२-७० ई०) ने अपने पूर्वज का अनुसरण किया। दुर्-स्रोङ् ने चीन-सम्राट् की कन्या बुन्-शिङ्-कोङ् से व्याह किया था।

ख्रि-ल्दे-ग्चुग्-ब्र्तन् (६७०-७४२)—अपने पिता दुर्-स्रोङ् के बाद राजगद्दी पर बैठा। इस बार भी चीन ने अपने खोए हुए प्रदेशों को छीनना चाहा। गिल्गित के लिए एक खासी लड़ाई छिड़ गई। अब की बार भी चीन को हारना पड़ा। चीन-सम्राट् ने अपनी कन्या चिन-चेङ् (या ग्यिम-क्य) को भोट-युवराज ऽजङ्-छ्-ल्ह-द्पोन् के लिए प्रदान किया। जिस वक्त राजकुमार अपनी भावी पत्नी से मिलने जा रहा था, उसी समय किसी आकस्मिक घटना-वश उसका शरीरांत हो गया। अंत में राजकुमारी का सम्राट् ग्चुग्-ब्र्तन् के साथ व्याह हुआ। इस व्याह के दहेज में भोटराज को ह्वाङ्-हो नदी तटवर्ती चिन्-चु और कु-ए-इ प्रदेश मिले। (ब्लन्-क) मूलकोष और (ङग्) ज्ञानकुमार ने इस समय कुछ बौद्धग्रंथों के अनुवाद किए, जिन में 'सुवर्ण-प्रभासोत्तम सूत्र' मुख्य था।

२—शांतरक्षित-युग (७६३-९८२ ई०)

ख्रि-स्रोङ्-ल्दे-ब्चन् (७४२-८५ ई०)—सम्राट् ख्रि-ल्दे-ग्चुग-

स्रोङ्-चन् को चीन-राजकुमारी से लोह-अश्व वर्ष (७३० ई०) में सम्-यस् के पास एक पुत्र हुआ। यही आगे चल कर भोट-देश का अशोक बना। अभी यह तेरह वर्ष का ही था कि इस के पिता का देहांत हो गया, और महान् स्रोङ्-चन् की भाँति, किंतु उस से कहीं अधिक विशाल साम्राज्य का वह उत्तराधिकारी हुआ। स्रोङ्-चन् के समय में अब इन पौने दो सौ वर्षों में बहुत फर्क पड़ गया था। सारे भोट देश में संस्कृति का एक नया प्रवाह उमड़ आया था। राजवंश अब रक्त में अधिकतर चीनी था, क्योंकि अब तक के प्रायः सभी सम्राट् चीन-राजकन्याओं से ब्याह करते आए थे, तो भी वह भाव में पूरे भोटदेशीय बने रहे। हाँ, दर्बार में चीनी विद्वानों का भी प्रभाव था, विशेषकर धर्माचार्य तो कितने ही चीन-देशीय थे।

स्रोङ्-चन् के समय (६४० ई०) में बौद्धधर्म के प्रवेश से पूर्व भी भोट में एक प्रकार का धर्म प्रचलित था, जो अधिकतर भूत-प्रेत की पूजा पर निर्भर था, जिसे कि बोन्-धर्म कहते हैं। यद्यपि बौद्धधर्म ने बहुत उदारता दिखलाई (जहाँ तक कि उन के कितने ही पूजा-प्रकारों में संबंध था) तो भी दोनों धर्मों में प्रधानता के लिए संघर्ष जारी रहा। ख्रि-स्रोङ्-लदे-चन् के बाल्य-काल में बौद्ध-विरोधी मंत्रियों का इतना प्राबल्य हो गया, कि उन्हों ने ल्हा-सा के पहले तो बुद्ध-मूर्ति को हटा कर चीन भेजना चाहा, किंतु पीछे उसे ज़मीन के भीतर गाड़ दिया, और मंदिर को कसाई-खाने के रूप में परिणत कर दिया। उसी समय दो एक मंत्रियों पर कुछ आकस्मिक आपत्तियाँ पड़ीं, जिस से डर कर उन्हों ने मूर्ति नेपाल की सीमा के समीप वाले मङ्-युल् प्रदेश के स्किद्-रोङ् स्थान में भेज दी।

तरुण सम्राट् को पढ़ते समय अपने पूर्वजों के चरित्रों को पढ़ने का भी अवसर मिला। उस समय उसे अपने पूर्वजों की बौद्धधर्म पर अपार श्रद्धा का पता लगा। उस ने छिपाए हुए ग्रंथों की खोज करा कर उन्हें चुपचाप पढ़ना शुरू किया, और अंत में उस की भी पूर्वजों जैसी ही बौद्धधर्म पर आस्था हो गई। उस ने दो चीनी विद्वानों में और गो तथा, कश्मीरी पंडित अनंत को धर्म-ग्रंथों के अनुवाद के काम में लगाया किंतु बोन् धर्मी मंत्रियों के विरोध के

कारण उन्हें मङ्-युल् भेज देना पड़ा। पंडित अनंत और चीनी विद्वान् तो मङ्-युल् ही में ठहरे, जहाँ का तत्कालीन प्रांताधिपति बौद्ध था; किंतु ग्सल्-स्नङ्—जो कि आगे चल कर ये-शेस्-द्बङ्-पो (ज्ञानेंद्र) के नाम से प्रसिद्ध हुआ—वहाँ से भारत चला गया। महाबोधि (बोधगया) के दर्शन के बाद वह नालंदा पहुँचा। वहाँ उस ने आचार्य शांतरक्षित के बारे में सुना। किंतु आचार्य उस समय वहाँ न थे। नेपाल पहुँचने पर सौभाग्य से उसे आचार्य का दर्शन हुआ। ज्ञानेंद्र के आग्रह पर आचार्य मङ्-युल् पधारे। कुछ दिनों वहाँ रह कर वह फिर नेपाल लौट गए। हाँ, यह याद रखना चाहिए, कि उस समय मध्यभारत (युक्त-प्रांत, विहार) से तिब्बत जाने का प्रधान रास्ता नेपाल और स्क्यिद्-रोङ् (मङ्-युल्) हो कर ही था। ज्ञानेद्र को आचार्य शांतरक्षित के सत्संग से बहुत लाभ हुआ।

इस सम्राट् के समय में भी चीन ने भोट की तलवार से परीक्षा ली। भोट सेना विजयी हुई। इस विजय की कथा उसी समय एक पाषाण-स्तंभ पर लिखी गई, जो अब भी ल्हासा में पोतला के नीचे मौजूद है।

अब ज्ञानेंद्र मङ्-युल् से ल्हासा गया। सम्राट् से धर्म-चर्चा हुई। सम्राट् और कितने ही अमात्य बौद्धधर्म को फिर उस के पूर्व-स्थान पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे, किंतु बलशाली मंत्री मा-शङ् ख्रोम्-प-स्क्येद् के सामने किसी की हिम्मत नहीं पड़ती थी। अंत में सम्राट् और अन्य अमात्यों की राय से मा-शङ् जीवित ही दफ़न कर दिया गया, और इस प्रकार बोन्-धर्म की शक्ति हमेशा के लिए क्षीण हो गई। अब सम्राट् की आज्ञा से ज्ञानेद्र आचार्य शांतरक्षित को बुलाने गया। आचार्य के लिए सब से बड़ी दिक़्क़त भाषा की थी; किंतु कश्मीरी पंडित अनंत बहुत वर्षों तक तिब्बत में रहने के कारण भोट-भाषा का अच्छा ज्ञान रखते थे। आचार्य संस्कृत में बोलते थे; और वह उस का उल्था कर दिया करते थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि भोट-सम्राट् ने नालंदा के इस अद्भुत विद्वान् का खूब सन्मान किया। ल्हासा पहुँच कर चार मास तक आचार्य राजमहल में दश कुशल (शुभकर्म), अठारह धातु और द्वादशाग पर देते रहे सम्राट उन का

बड़ा ही अनुरक्त शिष्य हो गया। इसी समय नदी की बाढ़ में फङ्-थङ् स्थान बह गया, लोहितगिरि (मर-पो-रि) पर बिजली गिरी, और देश में ढोरों की बीमारी फैल गई। लोगों ने शोर किया, कि यह आचार्य के उपदेश से रुष्ट हुए तिब्बत के देवताओं के प्रकोप का फल है। लाचार इच्छा न रहते हुए भी सम्राट् आचार्य को कुछ दिनों के लिए वापस भेजने पर मजबूर हुए।

कितने ही समय के बाद सम्राट् ने ज्ञानेंद्र को धर्म-ग्रंथों के संग्रह के लिए चीन, और सङ्-शि (चीन)-भिक्षु को तीस साथियों के साथ आचार्य शांतरक्षित को बुलाने के लिए भारत भेजा। ज्ञानेंद्र के चीन से लौटने पर भी जब आचार्य नहीं आए, तो सम्राट् ने ज्ञानेंद्र को भी रवाना किया। आचार्य शांतरक्षित ७५ वर्ष की बुढ़ापे की अवस्था में भी धर्म-प्रचार के उत्तम अवसर को हाथ से कब छोड़ने वाले थे। वह फिर तिब्बत पहुँचे। ब्रह्मपुत्र की उपत्यका के ब्सम्-यस् (सम्-ये) में उन का निवास कराया गया।

यद्यपि बौद्धधर्म का तिब्बत में प्रवेश प्रायः दो सौ वर्ष पूर्व हुआ था किंतु अब तक न कोई भोट-देशीय भिक्षु बना था, और न वहाँ कोई मठ ही स्थापित हुआ था। राजा की इच्छानुसार आचार्य ने ब्रह्मपुत्र से प्रायः दो मील उत्तर एक भूमि मठ के निर्माण के लिए चुनी। यहीं मगधेश्वर महाराज धर्मपाल (७६९-८०९ ई०) के बनवाये उड्यंतपुरी (बिहार-शरीफ) महाविहार के नमूने (?) पर बसम्-यस् विहार की नींव डाली गई। विहार का आरंभ ७६३ ई०[1] में हुआ, और समाप्ति ७७५ ई० में। मठ के मध्य में सुमेरु की भाँति प्रधान विहार (मंदिर) बनाया गया, और चारों तरफ चार महाद्वीप और आठ उपद्वीपों की भाँति भिक्षुओं के रहने के लिए बारह ग्लिङ् (द्वीप) बनाए गए। इन में दस निम्न हैं—(१) खम्स्-ग्सुम्-खङ्-ग्लिङ्, (२) ब्दुद्-ऽदुल्-स्ङग्-प-ग्लिङ्, (३) नम्-दग्-ख्रिम्स्-खङ्-ग्लिङ्, (४) द्गे-र्ग्यस्-ब्ये-म-ग्लिङ, (५) ऽछल्-ग्सेर्-खङ्-ग्लिङ्; (६) मि-ग्यो-ब्सम्-ग्तन्-ग्लिङ्; (७) ब्दे-

[1] जलशश (७६३ ई०) की जगह पर अग्नि-शश गलती से लिखा मालूम होता है

सूब्योर्-छ्ङ्स्-पडि-ग्लिङ्, (८) द्कोर्-म्ज़ोद्-पे-हर्-ग्लिङ्; (९) ज्ञम्-ग्लिङ्; (१०) ग्र्य-गर्-ग्लिङ्। दो के नामों का पता नहीं। प्रधान विहार के चारो कोनों पर, कुछ हटकर, पक्की ईंटों के लाल नीले आदि रंगों वाले चार सुंदर स्तूप बनवाए गए। चक्रवाल की भाँति एक ऊँचे प्राकार से सारा मठ घेर दिया गया और चारों दिशाओं मे प्रवेश के लिए चार फाटक लगाए गए। इस विहार के बनाने मे बारह वर्ष लगे। जिस समय विहार तैयार हुआ होगा, उस समय यह अद्भुत चीज़ रही होगी, लेकिन दुर्भाग्यवश, बारहवीं शताब्दी के आरंभ मे किसी असावधानी के कारण उस मे आग लग गई, जिस से अधिकांश मकान जल गए। फिर र (बं)-लो-च-व दों-र्जे-ग्रग्स् ने उसी शताब्दी में इस का पुनर्निर्माण कराया। यह मठ तिब्बत के अन्य पुराने मठों—श-लु (स्थापित १०४० ई०), स्नर्-थङ् (स्थापित ११५३ ई०) आदि—की भाँति पहाड़ की भुजा पर स्थित न हो कर मध्य-भारत के पुराने मठों की भाँति, समतल भूमि पर बना है।

विहार-निर्माण आरंभ करने के समय ही राजा की इच्छा हुई, कि भोट-देशीय पुरुष भिक्षु-दीक्षा से दीक्षित किए जावें। विहार का कुछ काम हो जाने पर आचार्य ने नालदा से सर्वास्तिवादी भिक्षुओं को बुलवाया। भिक्षु-नियम के अनुसार भिक्षु बनाना संघ का काम है, कोई एक व्यक्ति भिक्षु नहीं बना सकता। यद्यपि मध्य-भारत (युक्त-प्रांत, विहार) से बाहर पाँच भिक्षु भी होने से कोरम पूरा हो जाता है, तो भी आचार्य ने बारह भिक्षु बुलाए; और मेष-वर्ष (७६७ ई०) में—(१) ज्ञानेंद्र, (२) द्पल्-द्ब्यङ्स्, (३) (ग्चङ्) शीलेंद्र-रक्षित, (४) (मं) रिन्-छेन्-म्छोग्, (५) (ङखोन्) क्लुडि-द्वङ्-पो, (६) (ग्चङ्) देवेंद्ररक्षित, (७) (प-गोर्) वैरोचनरक्षित—यह सात भोट देशीय कुल-पुत्र भिक्षु बनाए गए।

भिक्षु-संघ और भिक्षु-विहार स्थापित कर आचार्य शांतरक्षित ने भोट देश में बौद्धधर्म की नींव दृढ़ कर दी। यहाँ एक और व्यक्ति के विषय में कुछ लिख देना आवश्यक है। तिब्बत के पुरातन भिक्षुओं द्वारा स्थापित परंपरावाले आज कल ञिङ्-म-प कहे जाते हैं। यद्यपि यह लोग आचार्य शांतरक्षित को भी अपना नेता मानते हैं, तो भी अधिक श्रेय एक व्यक्ति

को देते हैं। इस का कारण, उन का वास्तविकता की अपेक्षा जादू तथा मंत्र में असाधारण अनुराग है। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है, कि पद्मसम्भव शांतरक्षित के अनुगामी भिक्षुओं में एक साधारण भिक्षु था। स्तन-ग्युर में इस की भिक्षु-नियम-संबंधी कुछ छोटी पुस्तकें भी मिलती हैं। पद्मसंभव राजा इंद्रभूति (इंद्रबोधि) का पुत्र कहा जाता है, किंतु भारतीय परंपरा, इंद्रभूति को चौरासी सिद्धों में मानती हुई भी, उस के पुत्र पद्मसंभव के बारे में कुछ नहीं जानती। इंद्रभूति आदि-सिद्ध सरह (७५० ई०) के बाद हुआ था, फिर उस के पुत्र का बसम्-यस् बनने के समय तिब्बत पहुँचना भी संभव नहीं। सब बातों पर विचार करने से ज्ञात होता है, कि एक साधारण भिक्षु पद्मसंभव को आसमान पर चढ़ाने के लिए, पीछे के ञिङ्-म-प संप्रदाय वालों ने तरह तरह की अद्भुत कहानियाँ गढ़ीं; और इस के लिए मूल-संस्थापक आचार्य शांतरक्षित तो पीछे डाल दिए गए, और पद्मसंभव की तिब्बत में बुद्ध से भी अधिक पूजा होने लगी।

अन्य कार्यों से निवृत्त हो आचार्य ने बौद्धग्रंथों के अनुवाद की ओर ध्यान दिया। अभी तक अनुवादों का कोई पक्का निर्धारित नियम नहीं बना था। इसी लिए मालूम होता है, इस समय के बहुत से अनुवाद पीछे अग्राह्य हो गए। आचार्य शांतरक्षित के अनुवाद किए ग्रंथों में दिङ्नाग-विरचित 'हेतुचक्र' भी है जिसे उन्हों ने लो-च-व धर्मकोष की सहायता से अनुवादित किया था।

सौ वर्ष की आयु में (प्रायः ७८० ई० के करीब) घोड़े के पैर की चोट से आचार्य का देहांत हो गया। विहार के पूर्व की छोटी पहाड़ी पर उन का शरीर एक स्तूप में रक्खा गया। साढ़े ग्यारह सौ वर्ष तक, मानो वह उसी पहाड़ी टेकरी पर से अपने कार्य की देख रेख कर रहे थे। २०-२५ वर्ष हुए वह जीर्ण-शीर्ण स्तूप गिर पड़ा, और आचार्य का अस्थिमय शरीर नीचे गिर गया। वहाँ से जमा कर आचार्य शांतरक्षित का कपाल और कुछ हड्डियाँ इस समय प्रधान मंदिर में शीशे के अंदर रक्खी गई हैं

आचार्य शांतरक्षित असाधारण दार्शनिक थे, इस का हाल ही में, संस्कृत में प्रकाशित उन के दार्शनिक ग्रंथ 'तत्त्व-संग्रह' से पता लगता है। वह अपने समय के बौद्ध, ब्राह्मण, जैन सभी दर्शनों के प्रगाढ़ विद्वान् थे। ऐसे विद्वान् की देश में भी प्रतिष्ठा कम न थी, किंतु यह वह समय था, जब कि भारत से साहस-मय जीवन नष्ट न हुआ था। देश में प्राप्त सम्मान का ख्याल छोड़ ७५ वर्ष की उम्र में हिमालय की दुर्गम घाटियों को पार करने को वह तैयार हो गए, जब उन्हों ने देखा, कि इस प्रकार वह अपने धर्म की सेवा कर सकते हैं। इस त्याग के लिए ही उन का नाम बोधिसत्व पड़ा, और आज भी तिब्बत में अधिकांश लोग उन्हें आचार्य शांतरक्षित की जगह मुखन्-छेन् (महापंडित) बोधिसत्व के नाम से ही ज्यादा जानते हैं।

आचार्य शांतरक्षित के बाद उन के शिष्य द्पल्-द्ब्यङ्स् (श्रीघोष) संघ-नायक बने। स्रोङ्-ब्चन् के काल से ही भोट में चीनी बौद्ध विद्वानों की प्रधानता थी, यद्यपि कभी कभी कुछ भारतीय विद्वान् भिक्षु भी वहाँ पहुँच जाते थे। सम्राट् ख्रि-स्रोङ्-ल्दे-ब्चन् की गंभीर ज्ञानपिपासा ने उन्हें बौद्धधर्म के मूल-स्रोत भारतवर्ष की ओर आकृष्ट किया। आचार्य शांतरक्षित के पहुँचने के बाद तो अब भारतीय भिक्षुओं की प्रधानता हो गई। किंतु, आचार्य के देहांत के बाद महत्वाकांक्षी चीनी भिक्षुओं ने विवाद खड़ा किया, और वह भी एक सिद्धांत की आड़ में। उन्हों ने उपदेश देना शुरू किया कि सारे कर्मों को छोड़ कर परम निष्कर्मण्यता का आश्रय लेना ही बुद्ध-पद की प्राप्ति का एक मात्र साधन है। श्रीघोष इस के विरुद्ध, यथार्थ सिद्धांत का प्रतिपादन करते रहे। धीरे धीरे स्तोन्-मुन्-प (अकर्मण्यतावादी या सद्यो-वादी) सम्प्रदाय का जोर बढ़ने लगा, और शांतरक्षित के अनुयायी चेन्-मिन्-प (कर्मण्यतावादी, या क्रमिकवादी) का बल घटने लगा। इस झगड़े से घबड़ा कर ज्ञानेंद्र ब्सम्-यस् छोड़ दक्षिण ल्हो-ब्रग् में ध्यान और एकांत-चिंतन के लिए चले गए। जब राजा ने कहा, कि सिद्धांत और आचार दोनों में सब को आचार्य बोधिसत्व के सिद्धांत को मानना चाहिए, तो अकर्मण्यता-वादी दल ने कर्मण्यता-वादियों को मार डालने की धमकी देनी

शुरू की। अंत में इस झगड़े को मिटाने का उपाय जानने के लिए राजा ने ज्ञानेंद्र के पास आदमी भेजा। दो बार ज्ञानेंद्र ने आने से इन्कार कर दिया, किंतु तीसरी बार वह राजा के पास आए। राजा के पूछने पर उन्हों ने बताया कि हमारे आचार्य ने कहा था, कि यदि कोई विवाद खड़ा हो, तो हमारे शिष्य कमलशील को बुलाना। अपने गुरु की भाँति आचार्य कमलशील भी नालंदा के एक महान विद्वान थे। शांतरक्षित के ७००० श्लोकों के दार्शनिक ग्रंथ 'तत्त्वसंग्रह' पर इन्हों ने एक विस्तारपूर्ण पंजिका लिखी है। यह दोनों ग्रंथ बड़ोदा की गायकवाड़-ओरियंटल-सीरीज़ में छप चुके हैं।

अकर्मण्यता-वादियों के नेता चीनी भिक्षु ह्-शाङ् को जब पता लगा, तो उस ने अपने पक्ष के प्रमाण में 'ध्यान-स्वप्न-चक्र' नामक ग्रंथ लिख कर, महायान सूत्रों से बहुत से प्रमाण जमा कर डाले। इस ने अपने शिष्यों को भी इस बड़े शास्त्रार्थ के लिए तैयार कर लिया। आचार्य कमलशील के पहुँचने पर, शास्त्रार्थ का समय नियत हुआ। सम्राट् ने स्वयं मध्यस्थ का आसन ग्रहण किया। दाहिनी ओर अकर्मण्यतावादी और उन के नेता ह्शाङ् (भिक्षु)[1] बैठे, बाईं ओर आचार्य कमलशील, ज्ञानेंद्र, श्रीघोष और दूसरे लोग। सम्राट् ने दोनों पक्षों के मुखियों के हाथ में फूल की मालाएँ दे दीं, और कहा, जो हारे वह विजेता को माला दे और यहाँ से हमेशा के लिए चला जावे। ह्शाङ् ने पहले अपने पक्ष के समर्थन में भाषण दिया, जिस का उत्तर आचार्य कमलशील ने दिया। इस के कहने की आवश्यकता नहीं, कि शास्त्रार्थ में दुभाषिया से काम लिया जाता था। अकर्मण्यतावादियों की अंत में पराजय हुई। वह आचार्य के हाथ में माला दे कर देश से निकल गए।

पीछे ह्शाङ् ने धन-लोभ दे कर चार चीनी क़साइयों को भेजा, जिन्हों ने आचार्य कमलशील को मार डाला। ज्ञानेंद्र ने भी शोकाक्रांत हो निराहार से प्राण त्याग दिए, और सम्राट् भी ६९ वर्ष की अवस्था में (७८२ ई०) परलोक-गामी हुए।

---

[1] ह्शाङ् यह चीनी शब्द है, जिस का अर्थ भिक्षु है। इस ह्शङ् का असली नाम मालूम नहीं

इस समय आचार्य विमलमित्र, बुद्धगुह्य, शांतिगर्भ, और विशुद्धसिंह ने भोट-देशीय लो-च्-व (अनुवादक)[1]—धर्मालोक, (बन्-दे) नम्-म्ख़ऽ, (स्गो) रिन्-छेन-स्दे, नम्-पर-मि-तोग्-प और शाक्य-प्रभ की सहायता से कितने ही ग्रंथों के अनुवाद किए। तो भी अभी वास्तविक अनुवाद का काल आरंभ न हुआ था।

मु-नि-ब्चन्-पो (७८५-८६ ई०)—सम्राट् ख्रि-स्रोङ् वीर थे, किंतु उस से भी अधिक वह धार्मिक थे। उन के विचारों का असर उन की संतान पर पड़ा। जब उन के बाद उन का पुत्र मुनि-ब्चन्-पो गद्दी पर बैठा, तो वह दूसरा ही स्वप्न देखने लगा। उस का पिता और सारा घर धार्मिक शिक्षा, विशेष कर बोधिसत्त्व-आदर्श (अर्थात् दूसरों के हित के लिए तन, मन, धन ही नहीं, हाथ में आई अपनी मुक्ति तक का परित्याग करना) से सराबोर था। तरुण सम्राट् ने अपने आस-पास प्रजा में दरिद्रता देखी; जो दरिद्र नहीं थे, उन्हें भी उस ने अपने से अधिक धनी की शान-व-शौकत तथा अपमान भरे बर्ताव से असंतोष की भट्ठी मे जलते देखा। वह सोचने लगा, किस प्रकार इस दुःख का अंत किया जावे। अंत में उस की समझ में आया कि धन का सम-वितरण ही इस का एक मात्र उपाय है। इस प्रकार ७८५-८६ ई० में उस ने आर्थिक साम्यवाद का प्रयोग करना शुरू किया। किंतु इतने बड़े प्रयोग के लिए देश में क्षेत्र तैयार न था। श्रम के सम-वितरण के बिना कभी भी अर्थ का सम-वितरण सफल नहीं हो सकता। एक बार धन का सम-वितरण हो जाने पर आलसियों से कोई काम लेने वाला न रहा, थोड़े दिनों मे खा-पी कर वह फिर फ़ाक़ेमस्त हो गए, और दूसरे मेहनती लोगों के पास फिर संपत्ति जमा होने लगी। सम्राट् ने एक के बाद एक तीन बार तक अर्थ का सम-विभाग किया। तीसरी बार के बाद यह प्रयोग दूर के लोगों को ही नहीं, बल्कि उस

---

[1] लो-च्-व शब्द लोक और चक्षु दो शब्दों के आदि अक्षरों से मिल कर बना है। चाहे वह लोग लोक के चक्षु न भी हों, किंतु इस में तो शक नहीं कि भारतीय आचार्यों के लिए—जो भोट भाषा से अनभिज्ञ थे वह अवश्य चक्षु थे

की मां को भी असह्य हो गया, और इस प्रकार उन्नीस मास के शासन के बाद ही, माता द्वारा दिए गए विष से, इस महात्मा की मृत्यु हुई। मुनि-व्चन-पो को कुछ लोग पागल कहेंगे, किंतु यदि वह पागल था, तो एक पवित्र आदर्श के पीछे। आज-कल जब कि मनन-शील पुरुषों की विचार-धारा संसार को साम्यवाद की ओर ले जा रही है, इस साम्यवाद के शहीद का आदर-पूर्वक स्मरण जरूर होगा।

खि-ल्दे-चुग्-न्-पो या सद्-न-लेगस् (७८८-८१७ ई०)—मुनि-व्चन-पो के बाद उस का भाई ख्रि-ल्दे-व्चन-पो सिंहासन पर बैठा। इस का भी बौद्धधर्म पर स्नेह अपने पिता और भाई से कम नहीं था। सुदूर पश्चिम बल्तिस्तान के स्कर्-र्दो नगर में इस ने बौद्ध-मंदिर बनवाया। अब तक कितने ही ग्रंथों के अनुवाद भोट भाषा में हो चुके थे, किंतु अभी तक अनुवाद के शब्दों और भाषा में किसी खास नियम का पालन नहीं किया जाता था। जिस को जो प्रतिशब्द अच्छा लगा, वह उसी का प्रयोग करता था। अश्ववर्ष (७९० या ८०२ ई०) में सम्राट् ने अनुवाद करने वाले भारतीय पंडित जिनमित्र, सुरेंद्रबोधि, शीलेंद्रबोधि, दानशील, बोधिमित्र तथा उन के सहायक भोट विद्वान् रत्नरक्षित, धर्मताशील, ज्ञानसेन (ये-शेस्-स्दे) जयरक्षित, मंजुश्रीवर्म, रत्नेंद्रशील से कहा कि पहले देवपुत्र (मेरे) पिता के समय आचार्य बोधिसत्व, जालंद्र, ज्ञानदेवकोष, ब्राह्मण अनंत आदि ने अनुवाद किए, किंतु उन्हों ने एक ऐसी भाषा का निर्माण किया, जो देश-वासियों के समझने लायक नहीं है। चीन, ली, सहोर आदि की भाषाओं के अनुवाद से प्रत्यनुवाद किए गए थे, जिन में प्रतिशब्द का कोई नियम नहीं रक्खा गया। इस की वजह से धर्मग्रंथों के समझने में कठिनाई होती है। इस लिए आप लोग अब सीधे संस्कृत से अनुवाद करें, और प्रतिशब्दों की एक तालिका बना लें। अनुवाद का एक नियम हो, जिस का उल्लंघन न होना चाहिए। पिछले अनुवादों का फिर से संशोधन कर देना चाहिए।

इस प्रकार नवीं शताब्दी के मध्य से संस्कृत ग्रंथों के नियमबद्ध अनु

वाद भोट भाषा में होने लगे। इन अनुवादों में प्रतिशब्द चुनते समय संस्कृत के धातु-प्रत्ययों का भोट भाषा के धातु-प्रत्ययों से मेल होने का पूरा ख्याल रक्खा गया है, और संस्कृत के हर एक विशेष शब्द के लिए एक एक शब्द नियत कर दिया गया है। उदाहरणार्थ—छोस्-ऽ जिन् (धर्म-धर), छोस्-स्क्योङ् (धर्मपाल)। हाँ, सङ्स्-र्ग्यस् (बुद्ध), ब्यङ्-छुप् (बोधि) आदि कुछ शब्द जो पिछली दो शताब्दियों मे बहुप्रचलित हो गए थे, उन्हें उन्हों ने वैसा ही रहने दिया। प्रतिशब्दों को चुन कर उन्हों ने पृथक् पुस्तकें बना लीं, जो 'व्युत्पत्ति' के नाम से अब भी स्तन्-ऽ ग्युर् के भीतर मौजूद हैं[1]। महायान तथा दूसरे सूत्रों का अधिकांश अनुवाद इसी समय का है। इस समय कुछ तंत्र-ग्रंथों के भी अनुवाद हुए थे। इस समय के अनुवादों में नागार्जुन, असंग, वसुबंधु, चंद्रकीर्ति, विनीतदेव, शांतरक्षित, कमलशील आदि के कितने ही गंभीर दर्शन-ग्रंथ भी हैं। जिनमित्र, ये-शेस्-स्दे, धर्मताशील के अतिरिक्त भोट-देशीय आचार्य दूपल्-ब्र्चेग्स् इस काल के महान् अनुवादक हैं। जितना अनुवाद-कार्य ७९०-८४० ई० में हुआ, उतना किसी काल मे न हो सका।

रल्-प-चन् (८१७-८४१ ई०)—बड़े भाई (ग्लङ्) दर्-म के रहते भी पिता के मरने के बाद यही राजपद के योग्य समझा गया। यह पिता-पितामह से चले आते बौद्धधर्म के कार्य को चलाता ही नहीं रहा, बल्कि उस के प्रति अपनी भक्ति दिखाने मे इस ने अपने पूर्वजों को भी मात करना चाहा। धर्मोपदेश सुनते वक्त यह अपने शिर के केशों पर रेशमी चादर बिछा कर उस पर व्याख्याता को बैठाता था। एक एक भिक्षु की सेवा के लिए इस ने सात सात कुटुंब नियुक्त किए थे। राज-कार्य मे भी भिक्षुओं को बहुत अधिकार दे रक्खा था। राजधानी ल्हासा का सारा ही प्रबंध एक भिक्षु के हाथ मे था। राजा का

[1] तिब्बत में भारतीय ग्रंथों के अनुवाद का काम भारतीय पंडित और भोट-देशीय विद्वान् मिल कर करते थे। भोट-देशीय विद्वान् लो-च्-व कहे जाते हैं। इस प्रकार भोट और संस्कृत दोनों भाषाओं का गंभीर ज्ञान एकत्रित हो जाने से भोटिया अनुवाद संसार में अद्वितीय हैं

पुत्र चुड्-मी स्वयं भिक्षु हो गया। वस्तुतः यह अभी भक्ति मर्यादा को पार कर रही थी। इस ने अयोग्य व्यक्तियों को भिक्षु बनने की ओर प्रेरित किया। फिर यह सारा दोष राजा और उस के स्नेहास्पद धर्म पर लगने लगा। ग्लङ्-दर्-म (जो राजपद से वंचित कर दिया गया था) और बौद्धधर्म-विरोधी अमात्यों को यह अच्छा मौक़ा हाथ लगा; खबर उड़ाई गई कि राजा के आदर-भाजन भिक्षु (बन-दे) योन-तन-दुपल् का महारानी ङङ्-छुल्-म के साथ अनुचित संबंध है। अंत में षड्यंत्रियों ने योन्-तन-दुपल् को मार डाला, जिस पर रानी ने आत्महत्या कर ली। स्वयं सम्राट् भी लोह-पक्षी वर्ष (८४१ ई०) में ग्लङ्-दर्-म के कृपापात्र दुपस्-र्ग्यल्-तारे और (चो-गे) लेगस्-सूम द्वारा मार डाला गया। इस प्रकार १६२ वर्ष (५८०—७४२ ई०) तक सत्कृत और संमानित हो कर, फिर १०० वर्ष (७४२—८४१ ई०) तक असाधारण भक्ति का भाजन रह कर, अब बौद्धधर्म ने भोट देश में बुरे दिन देखे।

ग्लङ्-दर्-म (८४१-२ ई०)—भाई को हत्या करा कर ग्लङ्-दर्-म सिंहासन पर बैठा। चीनी इतिहास-लेखक[1] दर्-म के बारे में लिखते हैं—वह शराब का प्रेमी, खेलों का शौकीन, स्त्री-लंपट, क्रूर, अत्याचारी और कृतघ्न था। यह सब होते हुए भी दर्-म को बौद्धधर्म पर अत्याचार करने का मौक़ा न मिला होता यदि बौद्ध-भिक्षुओं ने प्रभुत्व और मान की लिप्सा से प्रेरित हो अपने प्रभाव से अनुचित लाभ उठाना न शुरू किया होता, और रल्-प-चन बौद्धधर्म के प्रति मर्यादित भक्ति दिखलाते हुए अपने राजा के कर्तव्य का भी ध्यान रखता। ग्लङ्-दर्-म ने अपने भाई के हत्यारे दुपस्-र्ग्यल् को मंत्री का पद प्रदान किया। सभी ऊँचे पदों पर बौद्ध-विरोधियों की नियुक्ति हुई। अनुवादकों के रहने के मकान और पाठशालायें नष्ट कर दी गईं। उस ने आज्ञा दी कि भिक्षु अपने धार्मिक जीवन को छोड़ गृहस्थ बन जावें। जो भिक्षु-वेष को छोड़ने के लिए तैयार न थे, उन्हें धनुष-बाण दे कर शिकारी बनने के लिए मजबूर किया गया। आज्ञा उल्लंघन करने वाले कितने ही भिक्षु तलवार के घाट उतारे गए।

---

[1] 'थङ्-शु', 'ऐंटिक्विटीज़ अव् इंडियन टिबेट,' भाग २, पृ० ९२ से उद्धृत।

जो-खङ् के मंदिर से हटा कर बुद्ध-मूर्ति बालू के नीचे दबा दी गई। मंदिर का द्वार बंद कर के उस पर शराब पीते हुए भिक्षुओं की तसवीर अंकित कर दी गई। ल्हासा के र-मो-छे मंदिर और ब्सम-यस् विहार के द्वार भी इसी प्रकार बंद कर दिए गए। उस वक्त अधिकांश पुस्तकें ल्हासा की चट्टानों में छिपा दी गईं थीं। (अङ्) निङ्-ङे-ऽजिन-ब्सुङ्-पो और (मैं) रिन्-छेन-मछोग् मार डाले गए। बाकी पंडित और लो-च-व देश छोड़ कर भाग गए। अत्याचार के मारे बौद्ध भिक्षुओं का रहना असंभव हो गया। उस समय (ग्चङ्)-रब्-ग्सल्, (फो-खोङ्-प, ग्यो) द्मर-ऽब्युङ्, और (सूतोद्- लुङ्-प-स्मर्) शाक्यमुनि तीन भिक्षु द्पल्-छु-बो-रि के पहाड़ में एकांत जीवन बिता रहे थे। उन्हों ने खिय-र-ब्येद्-प भिक्षु को आते देखा। पूछने पर ग्लङ्- दर्-म के अत्याचार की बात मालूम हुई। इस पर वह तीनों भिक्षु अपने 'विनय' ग्रंथों को समेट कर, एक खच्चर पर लाद कर, मङऽ-रिस् (मानसरोवर) की ओर भाग कर चले गए। वहाँ से वह तुर्किस्तान (होर्) पहुँचे। वहाँ उन्हों ने बौद्ध-धर्म का प्रचार करना चाहा, किंतु भाषा और जाति के भेद के कारण वह उस में सफल न हो सके और वहाँ से दक्षिण को अम्-दो चले गए।

बौद्धों ने ग़लती की थी, और उस का दंड मिलना भी ज़रूरी था। तो भी इन पौने तीन सौ वर्षों में बौद्धधर्म ने भोट देश की बहुत सेवा की थी। यह संभव नहीं था कि इस थोड़े से अपराध के लिए वह मिटा दिया जाता। अंत में प्रतिक्रिया का रुख बदला। लोग वस्तुतः वर्तमान को ही पूरी तरह जानते हैं। अब बौद्ध अधिकारियों के गुण-दोष तो बीती हुई वस्तु हो गए थे, लेकिन लोग दर्-म के वर्तमान अत्याचारों को देख रहे थे। अब वह उस से ऊबते जारहे थे। उस समय (ल्ह-लुङ) द्पल्-ग्यि-र्दो-र्जे नामक एक भिक्षु येर्-पऽि-ल्हस्-ब्चिङ-पो पार्वत्य स्थान में ध्यान-रत था। उस ने जब यह सब बातें सुनीं तो वह अपने को रोक न सका। उस ने भीतर से सफ़ेद और बाहर से काली एक पोस्तीन धारण की; हाथ में लोहे के धनुष-बाण लिए, और फिर वह अपने सफ़ेद घोड़े को स्याही से काला कर, उस पर सवार हो ल्हासा की ओर चल पड़ा। राजा उस समय जो-खङ् के पास स्थापित महास्तंभ (र्दो-रिङ्) पर खुदे लेख

को पढ़ रहा था। सवार ने घोड़े से उतर कर वंदना करने के बहाने से तीर का ऐसा निशाना मारा, कि वह जा कर ठीक राजा के कलेजे में लगा। और वह इस घोष के साथ कि यदि किसी पापी राजा को मारना हो, तो ऐसे मारना चाहिए, घोड़े पर सवार हो कर निकल भागा। ल्हासा में शोर मच गया। लेकिन जनता तो पहले ही राजा से विरक्त हो चुकी थी। किसी ने उसे न पकड़ पाया। दूपल् दों-र्जे एक जलाशय में आ कर घोड़े की स्याही धो, अपनी पोस्तीन का सफेद हिस्सा ऊपर कर के चलता बना। अपने स्थान पर पहुँच वह 'अभिधर्मसमुच्चय' (असंग), 'प्रभावती'(विनय-टीका), और 'कर्मशतक' की पोथियों को ले कर खमूस् की ओर चला गया। मरते वक्त दर्-म ने यह शब्द कहे थे—"क्यों न मैं तीन वर्ष पूर्व मारा गया, जिस में कि मैं इतने पाप और अत्याचार से बच जाता, या तीन वर्ष बाद मारा जाता जिस में कि मैं बौद्धधर्म को देश से मिटा सकता।" [1]

ऽोद्-स्रुङ्स् (८४२-९०५ ई०)—दर्-म के मरने के बाद उस की बड़ी रानी ने गर्भवती होने का बहाना किया, और जब ढूंढ़ने पर उसे एक लड़का मिला, तो मंत्रियों को दिखला कर कहा—'यह मेरा लड़का है'। दाँतवाले बच्चे को देखकर मंत्री जाल समझ गए, और बोले—अच्छा यह जाये अपनी माँ की आज्ञा-पालन करे। इस पर माँ का आज्ञा-पालक (युम्-ब्रतन्) ही उस का नाम पड़ गया। छोटी रानी का लड़का ऽोद्-स्रुङ्स् (काश्यप) गद्दी का मालिक हुआ। यद्यपि यह और इस के पुत्र दूपल्-ऽखोर्-व-चन् (९०५-२३ ई०) ने दर्-म की भूल को नहीं दुहराया, किंतु अब राजशक्ति क्षीण हो गई थी। इसी समय राज्य के कितने ही भाग स्वतंत्र हो गए।

दूपल्-छु-बो-रि से अपनी पुस्तकें खच्चर पर लाद कर भागे हुए तीन भिक्षुओं के बारे में मैं पहले कह चुका हूँ। जब वह दक्षिण अम्-दो में रहते थे, तो पता पा कर दूगोङ् स्-क बस्ती के रहने वाले एक तरुण ने उन के पास आ कर प्रव्रज्या पाने की प्रार्थना की। इस पर भिक्षुओं ने उसे 'विनय' की एक

---

[1] 'ऐंटिक्विटीस अव् इंडियन टिबेट', भाग २, पृष्ठ ९३३

पुस्तक पढ़ने को दी, और कहा, यदि यह बातें तुम्हें स्वीकार हों, तो हम तुम्हें श्रामणेर बनायेंगे। नरुग्ण ने पढ़ कर इस की प्रार्थना की। इस पर वह श्रामणेर बनाया गया, और नाम (द्गोङ्स्-प) रब्-ग्सल् (प्रकाश) पड़ा। पीछे उस ने भिक्षु बनाए जाने की प्रार्थना की, किंतु वहाँ संघ का कोरम पूरा करने के लिए पाँच भिक्षु न थे, कोरम के लिए और दो भिक्षुओं की तलाश करते हुए उसे (ल्ह-लुङ) द्पल् - र्दो - र्जे मिला। प्रार्थना किए जाने पर उस ने कहा, मैं ने राजा को मारा है, इस लिए 'पाराजिक' अपराध का अपराधी होने से अब मैं भिक्षु नहीं रहा। फिर ढूँढने पर उसे क्ये-बङ् और ग्यि-बङ् दो ह्व-शङ् (चीनी भिक्षु) मिले। इस प्रकार पंच-गण संघ बना कर उस ने भिक्षु की दीक्षा पाई। यह रब्-ग्सल् आचार्य शांतरक्षित की परंपरा का आगे चलाने-वाला पुरुष हुआ। पीछे द्बुस् प्रदेश के पाँच पुरुष (क्लु-मेस-) .छुल्-ख्रिम्स्, शेस्-रब्-ल्दिङ्-ये-शेस्-योन-तन. (रग्-शि) .छुल-ख्रिम्स्-ऽब्युङ्-ग्नस्, (र्बे) .छुल्-ख्रिम्स-ब्लो-ग्रोस् और (सुम-प) ये-शेस्-ब्लो; तथा ग्चङ् प्रदेश के पाँच पुरुष—गुर्-मो-(रब्-ख-प) ब्लो-स्तोन, र्दो-र्जे द्बङ्-प्युग्, (शब्-सगो-ल्ङऽि-छोङ्-ब्चुन) शेस्-रब्-सेङ्-गे, (मङऽ-रिस्) ऽोद-ब्र्ग्यद्, और (फो-ख्रोङ्-) ड-प-दे-द्कर्-पो—यह दश व्यक्ति आ कर भिक्षु रब्-ग्सल् के शिष्य हुए। इन्हीं दस भिक्षुओं ने लौट कर मध्य तिब्बत में फिर से प्रचार करना शुरू किया। ञिङ्-म-प संप्रदाय के सभी मठ इन्हीं की परंपरा से संबंध रखते हैं।

२—दीपंकर-युग (१०४२-११०२)

स्रोङ्-ब्चन् के वंश ने लगातार पौने तीन सौ वर्ष तक अपने विस्तृत साम्राज्य को क़ायम रक्खा। धर्म की असाधारण भक्ति रखते हुए भी इन में सात पीढ़ियों तक शासक और योद्धा की योग्यता बनी रही। ऐसे उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। भारत में गुप्त-सम्राटों का वंश वीर पैदा करने में मशहूर रहा है, किंतु वह भी दो सौ वर्ष तक ही चला। मुग़ल बादशाह भी पाँच पीढ़ियों तक ही प्रबल रहे किंतु दर्-म के बाद पतन शीघ्रता से होने लगा द्पल

ऽग्लोर्-ब-चन् (मृ०९८३ई०) तक जो कुछ बचा था वह भी उस के बाद जाता रहा। तिब्बत खास ही अनेक टुकड़ों में बट गया। क्रांति के कारण ऽग्लोर-ब-चन् का दूसरा पुत्र खि सुक्यिद्-ल्दे-ञि-म-मगोन् ल्हासा छोड़ने पर मजबूर हुआ। वह एक सौ सवारों के साथ पश्चिमी तिब्बत (मृङऽ-रिस्) की ओर चला गया। वहाँ अपने विश्वास-पात्र सेवकों की सहायता से उस ने अपने लिए स्थान बना लिया। अश्व-वर्ष (९८२ ई०) में उस ने र-ले में लाल-महल बनवाया। मेष वर्ष (९८३ ई०) में चे-शी-ग्र्य-रि नामक महल बनवाया। इसी वक्त स्पुद्-रङ्स् के शासक द्गे-ब्शेस्-ब्चन् ने उसे अपनी राजधानी में बुलाया और अपनी कन्या ऽब्रो-स्-ऽग्लोर्-स्क्योद् के साथ अपना राज्य उसे प्रदान किया। ञि-म-मगोन् ने फिर मृङऽ-रिस्-स्कोर-गसुम (लदाख, गूगे, और स्पु-रङ्स्) को अपने अधिकार में कर के एक स्वतंत्र राज्य क़ायम किया। अंत में राज्य को इस ने अपने तीनों पुत्रों—द्पल्-ग्यि-ल्दे (लदाख), बक्र-शिस्-ल्दे-मगोन (स्पु-रङ्स्) और ल्दे-ग्चुग्-मगोन् (शङ्-शुङ या गूगे) में बाँट दिया। ल्दे-ग्चुग्-मगोन् का ज्येष्ठ पुत्र ऽखोर्-ल्दे राज्य को अपने छोटे भाई स्रोङ्-ल्देके हाथ में सौंप कर स्वयं अपने दोनों पुत्रों, नागराज और देवराज के साथ भिक्षु हो गया।

ग्यारहवीं शताब्दी के प्रथम पाद में तिब्बत में बौद्धधर्म में बहुत से विकार पैदा हो गए थे। भिक्षुओं ने धर्म-ग्रंथों का पढ़ना छोड़ दिया था। वह वर्षा-वास के तीन मास तक ही भिक्षु-आचार का पालन करते थे, उस के बाद उस की परवा नहीं करते थे। तांत्रिक लोग मद्य और व्यभिचार को ही परम धर्म-चर्या मानते थे। मठों के अधिकारी चमकीली वेष-भूषा पहिन कर, अपने को स्थविर और अर्हत् प्रकट करते फिरते थे। ऽखोर्-ल्दे (भिक्षु बनने पर इस का नाम ये-शेस्-ऽोद अर्थात् ज्ञानप्रभ पड़ा) ने स्वयं धर्म-ग्रंथों को पढ़ा था, और वह एक विचारशील व्यक्ति था। इस का तो इसी से पता लगता है, कि तंत्रों के बुद्ध-वचन होने में उसे बहुत संदेह था।[1] वह अच्छी तरह समझता था,

[1] 'बु-स्तोन्', भाग २, पृष्ठ २१२

कि बौद्धधर्म ही उस के पूर्वजों की एक चिरस्थायी कृति है। धर्म के इस ह्रास को हटाने के लिए उस ने सब से जरूरी बात समझी—धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन। इस के लिए उस ने रिन-छेन्-ब्सङ्-पो (९५८-१०५५ ई०), लेगस्पठि-शेस्-रब् आदि इक्कीस तरुणों को चुन कर कश्मीर पढ़ने के लिए भेजा। मानसरोवर जैसी ठंडी जगह के रहने वाले इन नौजवानों के लिए कश्मीर भी गर्म था। अंत में दो को छोड़ कर बाक़ी सब वहीं बीमारी से मर गए। रिन-छेन-ब्सङ्-पो ने लौट कर पंडित श्रद्धाकरवर्मा, पद्माकरगुप्त, बुद्ध श्रीशांत, बुद्धपाल, और कमलगुप्त आदि की सहायता से कितने ही दर्शन और तंत्र-ग्रंथों के भोट भाषा में अनुवाद किए। 'हस्तवाल-प्रकरण' (आर्यदेव), 'अभिसमयालंकारालोक' (हरिभद्र), 'वैद्यक अष्टांग-हृदसंहिता' (नागार्जुन), 'चतुर्विपर्यय-कथा' (मातृचेट) 'सप्तगुणपरिवर्णन-कथा' (वसुबंधु), 'सुमागधावदान' आदि ग्रंथों के इन्हीं ने अनुवाद किए। पीछे दीपंकर श्रीज्ञान (९८२-१०५४ ई०) के तिब्बत पहुँचने पर और भी कितने ही ग्रंथों के भाषांतर करने में सहायता की। रिन्-छेन्-ब्सङ्-पो ने गूगे (शङ्-शुङ्) सपिति और लदाख में कई सुंदर मंदिर बनवाए, जिन में कई[1] अब भी मौजूद हैं, और उन में उस समय की भारतीय चित्रकला के सुंदर नमूने पाए जाते हैं।

राजभिक्षु ज्ञानप्रभ ने जब देखा, कि उन के भेजे इक्कीस तरुणों में उन्नीस कश्मीर से जीवित नहीं लौट सके, तो उन्हों ने सोचा कि यहाँ से भारत में विद्यार्थियों को भेजने के स्थान पर यही अच्छा होगा, कि भारत से ही किसी अच्छे पंडित को यहाँ बुलाया जावे, जो यहाँ आ कर सुधार का काम करे। उन्हें यह भी मालूम हुआ, कि विक्रमशिला महाविहार में ऐसे एक पंडित भिक्षु दीपंकर श्रीज्ञान हैं। उन के बुलाने के लिए आदमी भेजा गया, किंतु वह न आए।

[1] लदाख में सुम्-दा और अल्-ची के मंदिर, और स्पि-ति का तब्-लुङ् मंदिर इन्हीं में से है। इन में सारे ही चित्र भारतीय चित्रकारों के बनाए हैं। दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी की चित्रकला के यह सुंदर कोश हैं। खेद है कि रक्षा का कोई प्रबंध न होने से यह नष्ट होते जा रहे हैं

दूसरी बार फिर दूत भेजने की तैयारी हुई। इस के लिए कुछ सोने का संग्रह करने जब वह अपने सीमांत प्रदेश में गए हुए थे, उसी समय पड़ोसी राजा ने उन्हें पकड़ लिया। उन के उत्तराधिकारी ब्यङ्-छुप्-ऽोद् (बोधिप्रभ) ने चाहा, कि धन दे कर उन्हें छुड़ा लें, किंतु ज्ञानप्रभ ने कहा, वह धन भारत से किसी पंडित के बुलाने में खर्च किया जाय।

ग्यारहवीं शताब्दी में विक्रमशिला विहार (वर्तमान सुल्तानगंज, ज़िला, भागलपुर) उत्तरी भारत में एक बड़ा ही विशाल विद्याकेंद्र था। युवराज होने की अवस्था में चंद्रगुप्त विक्रमादित्य चंपा का प्रदेशाधिकारी था। उस वक्त सुल्तानगंज की दोनों पहाड़ी टेकरियों पर उस ने कुछ मंदिर बनवाए थे, और उसी के नाम पर यह स्थान विक्रमशिला के नाम से प्रसिद्ध हुआ। पीछे पालवंशीय महाराज धर्मपाल (७६९-८०९ ई०) ने गंगा-तटवर्ती इस मनोरम स्थान पर एक सुंदर विहार बनवाया, यही विक्रमशिला महाविहार हुआ। इस विहार के कुछ ही दूर दक्षिण में एक सामंत राजा की राजधानी थी, जिस के यहाँ दीपंकर श्रीज्ञान का जन्म हुआ था। नालंदा, राजगृह, विक्रमशिला, वज्रासन (बोधगया) ही नहीं बल्कि सुदूर सुवर्ण द्वीप (सुमात्रा) तक जा कर दीपंकर ने विद्याध्ययन किया। पीछे वह विक्रमशिला के आठ महापंडितों में एक हो कर वहीं अध्यापन का कार्य करने लगे। यद्यपि पहली बार राजभिक्षु ज्ञानप्रभ के निमंत्रण को उन्हों ने अस्वीकार कर दिया था, किंतु जब राजभिक्षु बोधिप्रभ के भेजे दूतों के मुख से उन्हों ने ज्ञानप्रभ के महान् त्याग की बात सुनी, तो चलने के लिए उन्हों ने अपनी स्वीकृति दे दी। इस प्रकार १०४२ ई० (जल-अश्व वर्ष) में वह ङ-ऽरिस् पहुँचे। भोट देशवासियों ने उन का बड़ा स्वागत किया। पहले मानसरोवर के पश्चिम में अवस्थित थो-ग्लिङ् (शङ्-शुङ्) मठ में रहे। यहीं उन्हों ने अपना प्रसिद्ध ग्रंथ 'बोधिपथप्रदीप' लिखा। १०४४ में वह स्पु-रङ्स् गए। यहीं उन्हें (ऽब्रोम्-स्तोन) ग्यल्-बऽि -ऽब्युङ्-ग्नस् (१००३-६४ ई०) मिला। यह उन का प्रधान शिष्य था, और तब से अंत तक यह बराबर अपने गुरु के साथ रहा। दीपंकर (अतिशा) के अनुयायी (ऽब्रोम-स्तोन् की वाले) ब्कऽ-दम्-प के नाम से प्रसिद्ध हुए चोङ्-ख-प १३५७-

१४१९ ई०) का भी इसी ब्क-दम्-प संप्रदाय से संबंध था और इसी लिए उस के अनुयायी द्गे-लुगस्-प अपने को नवीन ब्क-दम्-प भी कहते हैं।

दीपंकर श्रीज्ञान ने अपने जीवन के अंतिम तेरह वर्ष तिब्बत देश में धार्मिक सुधार और ग्रंथानुवाद में बिताए। मङ-रिस् से वह ग्चङ् और द्बुस् प्रदेशों में गए। १०४७ ई० में वह ब्सम्-यस् पहुँचे। उस वक्त वहाँ के पुस्तकभंडार को देख कर वह दंग रह गए। वहाँ उन्हें कुछ ऐसी पुस्तकें भी देखने को मिलीं जो भारत के बड़े बड़े विद्यालयों में भी दुर्लभ थीं। १०५० ई० में वह येर्-प गए, और १०५१ ई० (लोह-शश वर्ष) में उन्हों ने 'कालचक्र' पर अपनी टीका लिखी। १०५४ ई० में ७३ वर्ष की अवस्था, में ल्हासा से आधे दिन के रास्ते पर स्ञे-थङ् स्थान में, उन का शरीरांत हुआ।

अनुवाद करने में उन के प्रधान सहायक (नग्-छो) छुल्-खिम्स्-र्ग्यल् ब, रिन-छिन्-ब्सङ्-पो, द्गे-वडि-ब्लो-ग्रोस् और शाक्य—ब्लो-ग्रोस् थे। इन के अनुवादित और संशोधित ग्रंथों की संख्या सैकड़ों है। महान् दार्शनिक भाव्य (भावविवेक) के ग्रंथ 'मध्यमकरत्नप्रदीप' और उस की व्याख्या को इन्हों ने ही (र्ग्य) चोन्-सेङ् और नग्-छो के दुभाषिया होते हुए, अनुवादित किया था।

पंडित सोमनाथ (१०२७ ई०)। दीपंकर श्रीज्ञान के भोट पहुँचने से कुछ पूर्व कश्मीरी पंडित सोमनाथ भोट गए। (र्ग्य-चो) स्-वडि-ओद्-सेर की सहायता से इन्हों ने 'कालचक्र ज्योतिष' का भोट भाषा में अनुवाद किया, और तभी से भोट देश में बृहस्पति चक्र के ६० संवत्सरों का नया क्रम जारी हुआ। साठ संवत्सरों के एक चक्र को भोट भाषा में रब्-ब्युङ् (प्रभव) कहते हैं। यह प्रभव हमारे यहाँ के भी षष्ठी संवत्सर-चक्र का आदिम संवत्सर है। लक्ष्मीकर, दानश्री चंद्रराहुल, सोमनाथ के साथ ही भोट देश गए थे।[1]

दीपंकर श्रीज्ञान के विद्यागुरु सिद्ध महापंडित अवधूतिपा (अद्वयवज्र

[1] 'द्पग्-प-ब्सम्-ल्जोन्' (?), 'छोस्-ब्युङ्', पृष्ठ १५२क, १९८ख, २५१ख

या मैत्रीपा भी) थे। इन्हीं के शिष्य वैशाली (बसाढ़, जि० मुजफ्फरपुर) के रहने वाले कायस्थ पंडित गयाधर थे। यह (ड्रोग्-मि) शाक्य ये-शेस् (मृत्यु १०७४ ई०) के निमंत्रण पर भोट गए। और पाँच वर्ष रह कर उन्हों ने बहुत से तंत्र-ग्रंथों के भोट भाषा में अनुवाद किए। चलते वक्त ड्रोग्-मि ने इन्हें पाँच सौ तोला सोना अर्पित किया। यह स्वयं भी हिंदी भाषा के कवि थे, इन के पुत्र तिमृपा एक पहुँचे हुए सिद्ध समझे जाते थे। पंडित गयाधर ने (ग्यि-जो) स-वड्-ओद्-सेर् के साथ 'बुद्धकपाल-तंत्र' का अनुवाद किया था, और (ड्गोस् ल
खुग्-प) ल्हस्-ब्चस् के साथ 'वज्रडाकतंत्र'[1] का।

ज्ञानप्रभ के समय में ही लो-च-व पद्मरुचि ने स्मृतिज्ञानकीर्ति और सूक्ष्म-दीर्घ दो भारतीय पंडितों को अनुवाद के कार्य के लिए बुलाया। लो-च-व हैजे से नेपाल में मर गया, और यह लोग भोट में पहुँच गए। इन्हें उस समय भाषा भी न आती थी। पंडित सूक्ष्मदीर्घ तो (रोङ्-प) छोस्-ब्सङ् के पास रहने लगे, किंतु स्मृतिज्ञानकीर्ति ने किसी का आश्रय ढूँढ़ने की अपेक्षा भेड़ की चरवाही पसंद की। यह मालूम नहीं, कितने वर्षों तक तिब्बत के खानाबदोश ब्यङ्-प की भाँति इन्हों ने चँवरी के बालों के काले तंबुओं में रह, ते-नग् में चरवाही का जीवन व्यतीत किया। स्मृतिज्ञान, मालूम होता है, कोई मस्त मौला ही थे। इस भेड़ की चरवाही में एक फायदा जरूर हुआ, वह यह कि उन्हें भोट भाषा का सुंदर अभ्यास हो गया। स्मृतिज्ञान और विभूतिचंद्र (१२०४ ई०) जैसे बहुत थोड़े ही भारतीय पंडित हैं, जिन्हों ने बिना लो-च-व की सहायता के भारतीय ग्रंथों का भोट भाषा में अनुवाद किया हो। पीछे (सुम्यल-से-चब्) बसोद्-नम्स्-र्ग्यल्-म्छन के निमंत्रण पर सुमन-लुङ् में जा कर उसे इन्हों ने बौद्ध ग्रंथों को पढ़ाया। फिर खमस् (पूर्वीय भोट) में जा कर ड्न्-क्लोङ्-थङ् में अभिधर्मकोश के अध्ययन के लिए एक विद्यालय स्थापित

[1] इस ग्रंथ की मूल संस्कृत प्रति ताड़-पत्र पर लेखक को १९३० ई० में छ-लु विहार से प्राप्त हुई।

किया। इन्हों ने 'चतुष्पीठ-टीका', 'वचनमुख' आदि कितने ही अपने लिखे ग्रंथों का भोट भाषा में उल्था किया।

शि-व-ऽोद् (ज्ञानप्रभ के भाई), राजा ख्रोङ्-ल्दे के पुत्र ल्ह-ल्दे थे। इन के तीन पुत्रों मे बड़ा ऽोद्-ल्दे राजा हुआ, और व्यङ्-छुप्-ऽोद् और शि-व-ऽोद् दोनो छोटे लड़के भिक्षु हो गए। दीपंकर श्रीज्ञान को बुला कर जिस प्रकार व्यङ्-छुप्-ऽोद्‌ने धर्मप्रचार कराया, यह पहले लिखा जा चुका है। राजा ऽोद्-ल्दे ने पंडित सुनयश्री को बुला कर कितने ही ग्रंथो के अनुवाद कराए। शि-व-ऽोद् (शांतिप्रभ) स्वयं अच्छा विद्वान् था। इस ने जहाँ सुजन श्रीज्ञान, मंत्रकलश और गुणाकरभद्र से कितनी ही पुस्तकों के अनुवाद कराए वहाँ स्वयं आचार्य शांतरक्षित के गंभीर दार्शनिक ग्रंथ 'तत्वसंग्रह' का अनुवाद किया।

चे-ल्दे। ऽोद्-ल्दे के बाद उस का पुत्र चे-ल्दे मानसरोवर प्रांत (शङ्-शुङ् और म्ङ-रङ्स्) का शासक हुआ। १०७६ ई० में इस ने एक अच्छा विद्यालय स्थापित किया, और (ङोग्) ब्लो-ल्दन्-शेस्-रब् (१०५९-११०८) को उसी साल कश्मीर पढ़ने के लिए भेजा। १०९२ ई० तक ङोग् ने कश्मीर में रह कर पंडित परहितभद्र और भव्यराज से न्याय, तथा ब्राह्मण सज्जन और अमरगोमी आदि से योगाचार के कितने ही ग्रंथों का अध्ययन किया। पंडित भव्यराज अनुपमनगर (प्रवरपुर = श्रीनगर ?) के पूर्व और चक्रधरपुर सिद्धस्थान मे रहते थे। यहीं ङोग् ने धर्मकीर्ति के प्रसिद्ध न्याय-ग्रंथ 'प्रमाणवार्तिक'[1] का फिर से भोट भाषा में अनुवाद किया। पंडित परहितभद्र की सहायता से इस ने धर्मकीर्ति के 'प्रमाणविनिश्चय' और 'न्यायविंदु' के अनुवाद भी किए। चे-ल्दे के बाद उस के पुत्र राजा द्बङ्-ल्दे और पौत्र राजा ब्क्र-शिस्-ल्दे भी ङोग् के काम में सहायता करते रहे। कश्मीर में सत्रह वर्ष रह कर ङोग् ने भोट में लौट कर चौदह वर्षों तक अपना काम किया। यहाँ

---

[1] प्रथम बार इस का अनुवाद दीपंकर के साथी सुभूतिश्रीशांति और द्गे-बडि-ब्लो-ग्रोस् ने किया था

रहते हुए उस ने पंडित अतुलदास, सुमतिकीर्ति, अमरचंद्र और कुमारकलश के साथ अनुवाद का काम किया। प्रसिद्ध 'मंजुश्रीमूलकल्प' का इस ने पंडित कुमारकलश के साथ मिल कर उल्था किया था।

फ-दम्-प-सङ्स्-ग्यॅस् (मृ० ११९८ ई०)। १०९२ ई० में यह भारतीय पंडित-सिद्ध भोट देश में आया। यह नेपाल के रास्ते ञ-नम् हो कर गुलङ्-स्कार पहुँचा था। यहां रहते हुए इस ने कुछ ग्रंथों के अनुवाद में सहायता पहुंचाई। यह पूरा परिव्राजक था। ११०१ ई० में यह चीन गया, ११९२ ई० में फिर तिब्बत आया। इस ने शि-ब्येद् संप्रदाय की स्थापना की, जिस का कि एक समय भोट देश में अच्छा प्रभाव था।

इसी काल में एक और विद्वान लो-चु-व हुआ, जिस का नाम (प-छब्) ञि-म-ग्रग्स् (रविकीर्ति) है। इस का जन्म १०५५ ई० में हुआ था, अर्थात उसी वर्ष जिस वर्ष कि महान् लो-च्-व रिन्-छेन् बसङ्-पो का देहांत हुआ। इस ने कश्मीर में जा कर तेईस वर्ष तक अध्ययन किया। इस ने (आर्यदेव के), 'चतुःशतक शास्त्र', (चंद्रकीर्ति के) 'मध्यमकावतार-भाष्य' (पूर्णवर्द्धन की) अभिधर्मकोशटीका 'लक्षणानुसारिणी', (चंद्रकीर्ति की) मूलमध्यक-वृत्ति 'प्रसन्नपदा' जैसे गंभीर दार्शनिक ग्रंथों के अनुवाद से अपनी मातृभाषा के कोश को पूर्ण किया। कनकवर्मा, तिलकलश आदि पंडित इस के सहायक थे।

(मर्-प) छोस्-क्यि-ब्लो-ग्रोस्। यह सिद्ध नारोपा (नाडपाद, मृ० १०४० ई०) का शिष्य था, और तीन बार भारत में जा कर रहा था। इस ने अनुवाद का काम कम किया, किंतु यह और मि-ल-रस्-प (१०४०-११२३ ई०) जैसे इस के शिष्य अपनी विचित्र चर्या से तिब्बत में चौरासी सिद्धों के यथार्थ प्रतिनिधि थे। मि-ल-रस्-प भोट देश का सर्वोत्तम कवि ही नहीं था, बल्कि इस के निस्पृह अकृत्रिम जीवन ने इन आठ शताब्दियों में वहाँ बहुतों के जीवन में भारी प्रभाव डाला है। मर्-प, मि-ल की परंपरा वाले लोग द्कर्-ग्र्युद्-प कहे जाते हैं। भोट देश के ड्गस्-पो, ऽब्रि-गोङ्-प, फग्-ग्रुब्-प, ऽब्रुग्-प, सतग्-लुङ्-प और स्कर्-म-प इसी द्कर्-ग्र्युद्-प संप्रदाय की शाखाएँ हैं। कर्-म (स्कर्-म) सकर्-म-बक्-सि-छोस् ऽजिन् (१२०४-८३) अपने सिद्धत्व के

कारण मंगोल-सम्राट् का गुरु हुआ था। फग्-ग्रुप्-प और ऽब्रि-गोङ्-प ने कितने ही वर्षों तक मध्य भोट पर शासन किया।

४—स-स्क्य-युग (११०२-१३७६ ई०)

(ऽखोन्) द्कोन्-म्छोग्-र्ग्यल्-पो (१०३४-११०२ ई०) नाम के एक गृहस्थ धर्माचार्य ने, ग्चङ् (चङ्) प्रदेश मे १०७३ ई० में स-स्क्य नामक विहार की स्थापना की। यद्यपि इस विहार का आरंभ बहुत छोटे से हुआ, किंतु इस ने आगे चल कर बौद्धधर्म की बड़ी सेवा की। इस के संघराजों का प्रभाव भोट देश से बाहर चीन और मंगोलिया तक पड़ा। चंगेजखां (चिङ्-हिर्-ह्वान्) के शासन-काल में १२२२ ई० में यहीं के संघराज ने सर्व प्रथम मंगोलिया में बौद्धधर्म का प्रचार किया।

(ऽखोन) द्कोन्-म्छोग्-र्ग्यल् ने *ब-रि-लो-च-ब* (मृ० ११११ ई०) को अपना उत्तराधिकारी चुना। ब-रि कितने ही समय तक भारत में जा कर वज्रासन (बोधगया) के आचार्य अभयाकरगुप्त के पास रहा था। अभयाकरगुप्त का जन्म झारखंड (वैद्यनाथ के आसपास का प्रदेश) में क्षत्रिय पिता और ब्राह्मणी माता से हुआ था[1]। यह शास्त्रों के अच्छे पंडित थे। पीछे इन्हों ने अवधूतिपा के शिष्य सौरिपा से सिद्ध-चर्या की दीक्षा ली। मगधेश्वर रामपाल (१०५७- ११०२) के यह गुरु थे। नालंदा और विक्रमशिला दोनों ही विश्वविद्यालयों के यह महापंडित माने जाते थे। इन का देहांत ११२५ ई० में हुआ।

ब-रि ने अपना उत्तराधिकारी, मठ के संस्थापक द्कोन्-म्छोग्-र्ग्यल् के पुत्र *कुन्-द्गऽ-स्ञिङ्-पो* (१०९२-११५८) को चुना। उस के बाद उस के पुत्र *ग्रग्स्-प-र्ग्यल्-म्छन्* (११४७-१२१६ ई०) विहाराधिपति हुए। यह अच्छे विद्वान् थे। इन्हों ने दिङ्नाग के 'न्यायप्रवेश' और 'चंडमहारोषणतंत्र' आदि ग्रंथों के अनुवाद किए।

(स्नो-फु) *ब्यम्स्-प-द्पल्* (जन्म ११७३ ई०) इसी काल में हुआ था। यह

---

[1] 'पिन्-छेन् , पृ० ४० क

काशिराज जयचंद के दीक्षा-गुरु मित्रयोगी[1] (जगन्मित्रानंद) को ११९८ ई० में भोट ले गया। मित्रयोगी की 'चतुरंगधर्मचर्या' का इस ने अनुवाद किया। १२०० ई० में कश्मीरी पंडित सुगतश्री को बुला कर उन के साथ इस ने अभिसमयालंकार की टीका 'प्रज्ञाप्रदीप' का अनुवाद किया। इसी के निमन्त्रण पर विक्रम-शिला के अन्तिम प्रधान-स्थविर शाक्यश्रीभद्र भोट देश में आए।

शाक्यश्रीभद्र—इन का जन्म कश्मीर में ११२७ ई० में हुआ था। बोध-गया, नालंदा, विक्रमशिला उस समय सारे बौद्धजगत के जीवित केंद्र थे। इसी लिए यह भी मगध की ओर आए। सुखश्री इन के दीक्षा गुरु थे। रविगुप्त, चंद्रगुप्त, विख्यातदेव (छोटे वज्रासनीय), विनयश्री, अभयकीर्ति और रविश्रीज्ञान इन के विद्यागुरु थे। अपने समय के यह महा-विद्वान थे—यह तो इसी से मालूम होता है, कि यह मगध-नरेश के गुरु तथा विक्रम-शिला महाविहार के प्रधान नायक थे। मुहम्मद-बिन-बख्तियार ने जब नालंदा और विक्रमशिला को ध्वस्त कर दिया, तो यह जगत्तला[2] (बंगाल) चले गए। वहाँ कुछ दिन रह कर, और संभवतः उस के भी ध्वस्त होने पर जब यह जगत्तला के पंडित विभूतिचंद्र, तथा दानशील, संघश्री (नेपाली), सुगतश्री आदि नौ पंडितों के साथ नेपाल में थे, तो वहीं इन्हें ऽख्रो-फु लो-च्-व मिला। उस की प्रार्थना पर यह १२०० ई० में भोट देश में आ कर, दस वर्ष तक रहे। इन्हों ने पुस्तक-अनुवाद का काम नहीं किया; और इन के ग्रंथ भी एकाध ही

[1] इन का जन्म राढ (पश्चिमी बंगाल) देश का था। सिद्ध तैलोपा के शिष्य ललितवज्र से इन्हों ने भिक्षुचर्या की दीक्षा ली थी। पीछे उद्दन्तपुरी विहार के प्रधान हुए। काशीश्वर महाराज जयचंद इन के शिष्य थे ('ड्पग्-ब्सम्-ल्जोन्-ब्जङ्', पृष्ठ १५२ क; 'इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली', मार्च १९३५, पृ० [illegible]-३०)

[2] इसे मगधराज महाराज रामपाल (१०५७-११०२ ई०) ने अपने शासन के सातवें वर्ष (१०६४ ई०) में स्थापित किया था ('स्तन् ऽग्युर्'; अष्टसाहस्रिका टीका के अन्त में)



अनुदित ग्रन्थों से जान पड़ता है, कि महाविद्वान होते हुए भी, यह लेखनी के धनी न थे। स-स्क्य में पहुँचने पर तत्कालीन विहाराधिपति ग्रग्स्-प-र्ग्यल्-म्छन के भतीजे और उत्तराधिकारी, कुन्-द्गाऽ-र्ग्यल्-म्छन् (११८२-१२५१ ई०) १२२८ ई० में इन के भिक्षु-शिष्य हुए। 'प्रमाणवार्तिक' आदि कितने ही न्याय के गम्भीर ग्रंथों का उन्हों ने इन से अध्ययन किया। ब्यङ्-छुप्-द्पल् और द्गे वङि-द्पल् आदि और भी कितने ही शाक्यश्रीभद्र के शिष्य हुए। स-स्क्य-सम्प्रदाय के पीछे इतने प्रभावशाली बनने में उस का विक्रम-शिला के अंतिम प्रधाननायक से संबंध भी कारण हुआ। दस वर्ष रह कर, १२१३ ई० में, शाक्य-श्रीभद्र अपनी जन्मभूमि कश्मीर को लौट गए, जहाँ १२२५ ई० में ९८ वर्ष की दीर्घ आयु में इन का देहांत हुआ। इन के अनुयायी विभूतिचंद्र, दानशील आदि भोट ही में रह गए, जिन में विभूति का भोट भाषा पर इतना अधिकार हो गया, कि उन्हों ने कितने ही ग्रंथों के अनुवाद बिना किसी लो-च-व की सहायता ही के किए।

कुन्-द्गाऽ-र्ग्यल्-म्छन्, संघराज (११८२-५१ ई०)। यह भोट देश के उन चंद धर्माचार्यों में हैं, जिन्हों ने धर्मप्रचार के लिए बहुत भारी काम किया। भोट-देशीय ऐतिहासिकों के मतानुसार चंगेजखाँ (जन्म११६२ ई०) ११९४ ई० में चीन का सम्राट् हुआ। १२०७ ई० में मि-ञ्यग् प्रदेश को छोड़ कर सारा भोट उसके अधिकार में चला गया। जिस समय चंगेज देश-विजय कर रहा था, उसी समय स-स्क्य-पंडित कुन्-द्गाऽ-र्ग्यल्-म्छन् ने धर्म-विजय की ठानी, और उन्हों ने १२२२ ई० में मंगोल देश में धर्मप्रचारक भेजे। १२३९ ई० में मंगोल सर्दार छि-र्ग-दो-र्त ने मध्यभोट पर चढ़ाई की, और स-स्क्य मठ के पाँच सौ भिक्षुओं को मार डाला। र-स्ग्रेङ् और र्ग्यल्-खङ् के मठों को भी इसने जला डाला। १२४३ ई० में संघराज ने अपने दो भतीजों ऽफग्स्-प और फ्यग्-न को प्रचार के लिए मंगोलिया भेजा। १२४६ ई० में वह स्वयं चीन के मंगोल सम्राट् गोतन से मिले, और दूसरे वर्ष सम्राट् के गुरु बने। सम्राट् ने १२४८ ई० में भोट देश के द्बुस् और ग्चङ् प्रदेश अपने गुरु को प्रदान किए। भोट देश में धर्माचार्यों के शासन का सूत्रपात इसी समय से हुआ के

काम में लगे रहते हुए, मंगोलिया के स्प्रुल्-स्दे स्थान में, १२५२ ई० में, इन का देहांत हुआ। यह अच्छे पंडित और कवि थे। इन की पुस्तक 'स-स्क्य-लेग्स्-ब्शद्' की नीति-शिक्षा-पूर्ण गाथाएँ अब भी भोट देश के पाठ्य-विषयों में हैं।

ऽफग्स्-प, संघराज (१२५१-८० ई०)। इन का जन्म १२३४ ई० में हुआ था। इन के मंगोलिया जाने का बात पहले ही कही जा चुकी है। चचा की मृत्यु के बाद यह संघराज बने। स-स्क्य विहार में तब से अब तक यही प्रथा चली आती है, कि घर का एक व्यक्ति भिक्षु बन जाता है, और वही पीछे संघराज के पद पर बैठता है। चचा ने ऽफग्स्-प की शिक्षा का विशेष ध्यान रक्खा था। १२५१ ई० में ऽफग्स्-प भावी चीन-सम्राट्, राजकुमार कुब्ले-ख़ान् के गुरु बने। १२६५ ई० तक वह चीन और मंगोलिया में ही रहे। १२६९ ई० में फिर मंगोलिया गए, और १२८० ई० में उन का देहांत हुआ।

स्कर्-म-पक्-सि-छो-ऽजिन् (१२०४-८३ ई०)। स-स्क्य के ऽफग्स्-प का यह समकालीन था। यद्यपि पांडित्य में स-स्क्यों की समानता नहीं कर सकता था, किंतु यह अपने समय का अद्भुत चमत्कारी सिद्ध समझा जाता था। चीन के मंगोल-सम्राट् मुन्-खे ने इस के सिद्धत्व की परीक्षा ली, और १२५६ ई० में उस ने इसे अपना गुरु बनाया।

जिस समय स-स्क्य-प और द्कर्-ग्र्युद्-प सम्प्रदाय के प्रमुख इस प्रकार विद्या, सिद्ध-चर्या, और धर्म-प्रचार के जोश से अपने प्रभाव को बढ़ा रहे थे, उसी समय आचार्य शांतरक्षित का अनुयायी, भोट का सब से पुराना धार्मिक संप्रदाय ञिङ्-म-प नीचे गिरता जा रहा था। इस ने पुराने बोन-धर्म की भूत-प्रेत-पूजा, जादू-मंतर को अपना कर, उस में और और तरक्की की। इस के गुरु लोग मिथ्या-विश्वास-पूर्ण नई नई पुस्तकें बना कर, उन्हें बुद्ध, पद्मसंभव या किसी और पुराने आचार्य के नाम से पत्थरों और जमीन से खोद कर निकाल रहे थे। गनेर्-स्तोन ने ११९८ ई० में और ञिङ्-म-धर्माचार्य स-द्बङ् ने १२५६ ई० में, ऐसे ही जाली ग्रंथों को खोद निकाला था।

स्कर्-म-पक्-शि के मरने (१२८३ ई०) पर, उस के योग्य शिष्यों में से न चुना जा कर, एक छोटा बालक रङ्-ब्युङ्-र्दो-र्जे (जन्म १२८४ ई०) उस का अवतार स्वीकार किया गया। इस से पूर्व यद्यपि एकाध ऐसे उदाहरण थे, किंतु अब तो अवतारी लामों की बीमारी सी फैल गई। स्कर्-म को देखा-देखी पीछे ग्दन्-सुग्-प, ञिङ्-म आदि दूसरे-संप्रदाय निकायों ने इस प्रथा को अपनाया। आगे चल कर द्गे-लुग्-प के अनुयायियों ने भी अपने दलाई-लामा (र्ग्यल्-व-रिन्-पो-छे) और टशी लामा (पण्-छेन्-रिन्-पो-छे) के चुनावों में ऐसा ही किया; और इस प्रकार आजकल छोटे छोटे मठों से ले कर बड़ी बड़ी जागीरवाली महंतशाहियों के लिए ऐसे हजारों अवतारी लामा तिब्बत में पाए जाते हैं। इस प्रथा के इतने अधिक प्रचार का कारण क्या है? गद्दीधर के बाल्यकाल में कुछ स्वार्थियों को मठ का सारा प्रबंध अपने हाथ में रखने का मौका मिलता है; और अवतारी लामा के माँ-बाप और संबंधियों के लिए मठ एक घर की संपत्ति सी बन जाता है। लेकिन इस प्रथा के कारण उत्तराधिकार के लिए विद्या और गुण का महत्त्व जाता रहा, और फिर अधिकांश नालायक लोग इन पदों पर आने लगे।

बारहवीं शताब्दी के चौरासी सिद्धों के बहुत से हिंदी दोहों और गीतों के भी भोट भाषा में अनुवाद हुए। इसी समय (शोङ्-स्तोन्) र्दो-र्जे-र्ग्यल-म्छन (मृत्यु १२७७ ई० ?) ने पंडित लक्ष्मीकर की सहायता से 'काव्यादर्श' (दंडी), 'नागानंद' (हर्षवर्द्धन), और 'बोधिसत्त्वावदानकल्पलता' (क्षेमेंद्र) ग्रंथों के भोट भाषा में भाषांतर किए।

अब मठों के हाथ में शासन का अधिकार आने पर उन्हों ने भी वही करना शुरू किया, जो शासकों में हुआ करता है। १२५२ ई० में स-स्क्यवालों ने भोट के तेरह प्रांतों पर अधिकार कर लिया। १२८५ ई० में ऽब्रि-गोङ् के अधिकारियों ने अपने विरोधी ब्य-युल् मठ को जला डाला। १२९० ई० में स-स्क्यवालों ने ऽब्रि-गोङ् को लूट लिया।

(बु-स्तोन्) रिन्-छेन्-ग्रुब् (१२९०-१३६४ ई०)। तेरहवीं सदी के अंत के साथ, भारत के बौद्ध केंद्रों से बौद्धधर्म का अंत हो गया अब भोट देश को

सजीव बौद्ध-भारत से विचारों के दानादान का अवसर न रह गया। भोट में भी अब प्रभावशाली महंतशाहियों की प्रतिद्वंद्विता का समय आरंभ हुआ। अब तक जितने भी भारतीय ग्रंथ भोट भाषा में अनूदित हुए थे, उन को क्रम लगा कर इकट्ठा संगृहीत करने का काम नहीं हुआ था, इस लिए सारी अनुवादित पुस्तकों का न किसी को पता था, और न वह एक जगह मिल सकती थीं। ऐसे समय (१२९० ई०) में (बु-स्तोन्) रिन्-छेन्-ग्रुब् का जन्म हुआ। यह शा-लु विहार में जा कर भिक्षु हुए। यह अपने ही समय के नहीं, बल्कि आज तक के, भोट देश के अद्वितीय विद्वान हुए। शुरू में स-स्क्य मठ में भी यह अध्यापन का काम करते रहे, जिस से इन्हें वहाँ के विशाल पुस्तकालय को देखने का अवसर मिला। यद्यपि इन्होंने 'कलापधातु-काय' (दुर्गसिंह), 'त्याद्यन्तप्रक्रिया' (हर्ष-कीर्ति) आदि कुछ थोड़े से ग्रंथों के अनुवाद किए हैं; किंतु, इन का दूसरा काम बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इन्हों ने अपने समय तक के सभी अनुवादित ग्रंथों को एकत्रित कर क्रमानुसार दो महान् संग्रहों में जमा किया, यही स्क-ऽग्युर् (कन्-जुर्) और स्तन-ऽग्युर् (तन्-जुर्) हैं। इन में स्क-ऽग्युर में तो उन ग्रंथों को एकत्रित किया, जिन्हें बुद्ध-वचन कहा जाता है ('स्क' शब्द का अर्थ भोट भाषा में 'वचन' होता है) 'स्तन्' का अर्थ है शास्त्र, और 'ऽग्युर' कहते हैं, अनुवाद को। स्तन्-ऽग्युर् में बुद्ध-वचन से भिन्न—आचार्यों के दर्शन, काव्य, वैद्यक, ज्योतिष, देवता-साधन, और स्क-ऽग्युर्, तथा स्तन-ऽग्युर् की टीकाएं तथा कितने ही और ग्रंथों की टीकाएं संगृहीत हैं। इन्हों ने इन संग्रहों को अपने ही तत्वावधान में और एक निश्चित क्रम से लिखवा कर अलग अलग वेष्टनों में विभक्त किया। साथ ही ग्रंथों की सूची भी बनाई। यह मूल प्रति अब भी शा-लु-विहार में (जो कि ग्याँची से दो दिन के रास्ते पर है) मौजूद है। बु-स्तोन् ने स्वयं पचासों ग्रंथ लिखे, जिन में एक में भारत और भोट देश में बौद्धधर्म के इतिहास (१३२२ ई० में लिखित) का महत्त्वपूर्ण वर्णन है। १३६४ ई० में शा लु विहार में इस महान् विद्वान् के देहांत के साथ भोट देश के धार्मिक इतिहास के सब से महत्त्वपूर्ण खंड की समाप्ति होती है

स-स्क्य-युग के अंत में (शङ्-स्तोन्) दग्स्-प-र्ग्यल्-म्छन्, चंद्रगोमी के 'लोकानंद' नाटक और कालिदास के 'मेघदूत' तथा कुछ और ग्रंथों के अनु-वादक स्तग्-ठुङ्-लो-चा (१३०० ई०) जैसे कुछ और विद्वान अनुवादक हुए।

५—चोङ्-ख-प-युग (१३७६-१६६४)

चोङ्-ख-प। बु-स्तोन के देहांत के सात वर्ष पूर्व (१३५७ ई० में) अम्-दो प्रांत के चोङ्-ख ग्राम में एक मेधावी बालक उत्पन्न हुआ। जिस का भिक्षु-नाम यद्यपि ब्लो-ब्सङ्-ग्रग्स्-प (सुमति कीर्ति) है, तो भी वह अधिकतर अपने जन्म-ग्राम के नाम से चोङ्-ख-प (चोङ्-ख वाला) ही कर के प्रसिद्ध है। अम्-दो ल्हासा से मंगोलिया के रास्ते पर मंगोलिया की सीमा के पास एक छोटा सा प्रदेश है। चोङ्-ख-प के पूर्व यह प्रदेश अशिक्षित लोगों का ही निवास-स्थान समझा जाता था। सात वर्ष की अवस्था (१३६३ ई०) में यह दोन-ग्रिन-प का श्रामणेर बना। तब से पंद्रह वर्ष की अवस्था तक वहीं अध्ययन करता रहा। तब उसे विशेष अध्ययन के लिए अच्छे अध्यापकों की आवश्यकता हुई, और १३७२ ई० में मध्य-भोट में चला आया। उन्नीस वर्ष की छोटी अवस्था (१३७६ ई०) में उस ने अपना प्रथम ग्रंथ लिखा। (रे-म्दऽ-प) ग्शोन्-नु-ब्लो-ग्रोस् से इस ने दर्शन-शास्त्र पढ़ा। 'विनय' में इस का गुरु बु-स्तोन का शिष्य (दुमर्-स्तोन) ग्यें-ब्लो-रिन-छेन था। चोङ्-ख-प बु-स्तोन के ग्रंथों से बहुत प्रभावित हुआ, और वस्तुतः उस के इतने महान कार्य को संपन्न करने में बु-स्तोन के कार्य ने बहुत उत्साह प्रदान किया। उस को अफसोस था, कि क्यों न मुझे बु-स्तोन् के चरणों में बैठ कर अध्ययन करने का सौभाग्य मिला। इस ने स-स्क्य-प, ङिङ्-म-प और (दीपंकर के अनुयायी) ब्कऽ-ग्दम्-प तीनों ही संप्रदायों से बहुत सी बातें सीखीं। इस के अनुयायी अपने को ब्कऽ-ग्दम्-प के अंतर्गत मान कर अपने को नवीन ब्कऽ-ग्दम्-प कहते हैं। वस्तुतः जिस प्रकार ब्कऽ-ग्दम्-प मठ स्वेच्छा से द्गे-लुग्स्-प (चोङ्-ख-प के संप्र-दाय) में परिणत हो गए, उस से उन का यह कहना अयुक्त भी नहीं है।

चोङ्-ख-प के जन्म से दो वर्ष पूर्व (१३५४ ई० में) फग्-ग्रुब् के

(सि-तु) ब्यङ्-छुप्-ग्यंल् (जन्म १३०२ ई०) ने सारे ग्-चङ् प्रदेश पर अधि-कार कर लिया था। १३४९, ई० में उस ने द्बुस् प्रदेश को भी अपने राज्य मे मिला लिया। इस प्रकार चोङ्-ख-प के कार्य-क्षेत्र में पदार्पण करने के समय मध्य-भोट में एक सुदृढ़ शासन स्थापित हो चुका था। किंतु धार्मिक स्थिति बहुत बुरी थी। बड़े बड़े विद्वान् एक एक कर के चल बसे थे। पुराने विद्या-केंद्र अपना वैभव खो चुके थे। म्दन्-ग्रिद्-प (दर्शनपार्श्व) और व्कऽ-दम्-प यद्यपि अब भी ज्ञान और वैराग्य की ज्योति जलाए हुए थे, किंतु वह ज्योति पहाड़ों की गुफाओं और देश के गुमनाम कोनों में छिपी हुई थी। चोङ्-ख-प में ज्ञान और वैराग्य, अथवा प्रज्ञा और समाधि दोनों उचित मात्रा मे मौजूद थीं; और उस से भी अधिक उस में धर्म की बिगड़ी अवस्था के सुधारने की लगन थी। वह विद्वान, सुवक्ता और सुलेखक था, और अपनी ओर योग्य व्यक्तियों को आकर्षण करने की शक्ति रखता था। इतने अधिक योग्य और कार्य-कुशल शिष्य किसी भी भोट-देशीय आचार्य को न मिले। द्-सु-लोन का सारा काम एक अकेले व्यक्ति का था। १३९५ ई० तक चोङ्-ख-प का विद्यार्थी जीवन रहा। १३९६ ई० मे अब वह अपने जीवनोद्देश्य— बौद्धधर्म में आई बुराइयों के दूर करने और विद्या-प्रचार—में लग गया। वह समझता था, कि लोगों का मिथ्या-विश्वास हटाया नहीं जा सकता, जब तक कि उन मे दर्शन-शास्त्र तथा विद्या का प्रचार न किया जाय। उस के इस काम ने म्दन्-ग्रिद्-प के काम को ले लिया, और इस प्रकार कुछ ही समय में म्दन्-ग्रिद्-प के सारे मठ द्गे-लुग्स् संप्रदाय में शामिल हो गए। १३९६ ई० मे उस ने ग्दन् का महाविद्यालय स्था-पित किया। १४०५ ई० मे ल्हासा में संघ-संमेलन के लिए एक विशाल भवन (स्मोन्-लम्-छेन्-पो) बनवाया, और उसी वर्ष ल्हासा से दो दिन के रास्ते पर द्गऽ-ल्दन् (गन्दन्) का महाविहार स्थापित किया। उस के शिष्यों मे जम्-द्ब्यङ्स् (१३७८-१४४९ ई०) ने १४१६ ई० में ऽब्रस्-स्पुङ्स् (डे-पुङ् = धान्यकटक) के महाविहार की स्थापना की। शाक्य-ये-शेस् (जन्म १३८२ ई०) ने १४१९ ई० में से-र महाविहार की स्थापना की इसी वर्ष चोङ्-ख-प की गन्दन् में मृत्यु हुई पीछे उस के शिष्य (प्रथम दलाई लामा) द्गे-ऽदुन् ग्रुब

(१३९१-१४७४ ई०) ने १४४७ ई० में ब्क्र-शिस्-ल्हुन्-पो (टशील्हुन्पो) महाविहार स्थापित किया, और (म्ञद्) शेस्-रब्-द्सङ् (१३९५-१४५७ ई०) ने ख्मम्स् प्रदेश में छब्-म्दो (१४३७) के महाविहार की स्थापना की।

चोङ्-ख-प ने जहाँ शास्त्रों के अध्ययन के लिए इतना किया, वहाँ उस ने भिक्षु-नियमोंके प्रचार के लिए कम काम नहीं किया। इसी काम के लिए तो इस के अनुयायी द्गे-लुग्स्-प (भिक्षु-नियमानुयायी) कहलाए। इस ने भिक्षुओं के प्रधान वस्त्रों के लिए पीला रंग पसंद किया, और विशेष अवसरों पर पहनी जाने वाली टोपियों का रंग भी पीला रक्खा, जिस से इस के अनुयायी पीली-टोपीवाले लामा कहे जाते हैं। अवतारों की महामारी से ग्रस्त भोट देश में उत्तराधिकारी चुनने में उस ने योग्य शिष्य का नियम बनाया, और आज तक चोङ्-ख-प की गद्दी पर उस का अवतार नहीं, उस की परंपरा का योग्य पुरुष बैठता है, जिसे कि द्गऽ-ल्दन्-ख्रि-प (गन्दन का गद्दी-नशीन) कहते हैं। तो भी उस के अनुयायियों ने उस के अन्य मुख्य शिष्यों के उत्तराधिकार के लिए फिर अवतार का ख्याल रखना शुरू किया; और आज द्गे-लुग्स्-संप्रदाय में अवतारी लामों की संख्या सब से अधिक है।

चोङ्-ख-प का शिष्य म्खस् ग्रुप् (१३८५-१४३८ ई०)—जो पीछे द्गऽल्दन् का तीसरा संघराज हुआ—उस के सभी शिष्यों में महाविद्वान् था। इस ने अनेक ग्रंथ लिखे, और अपने गुरु के काम को आगे बढ़ाया।

पंडित वनरत्न (१३८४-१४६८ ई०)। पंडित वनरत्न अंतिम भारतीय बौद्ध भिक्षु थे, जिन्हों ने भोट में जा कर अनुवाद और धर्म-प्रचार का काम किया। इन का जन्म पूर्वदेश (बंगाल ?) के एक राजवंश में हुआ था। इन के गुरु का नाम बुद्धघोष था। बीस वर्ष की अवस्था में यह सिंहल चले गए; और वहाँ आचार्य धर्मकीर्ति[1] की शिष्यता में भिक्षु हुए। छ वर्षों तक वहीं अध्ययन करते रहे। फिर श्री धान्यकटक होते हुए मगध देश में आए। वहाँ हरिहर पंडित के पास 'कलाप' व्याकरण पढ़ा। फिर कई जगह विचरते हुए नेपाल पहुँचे। वहाँ

[1] शायद निकायसंग्रह के कर्ता प्रसिद्ध राजगुरु धर्मकीर्ति

पंडित शीलसागर[1] के पास कुछ अध्ययन कर [illegible] ई० में भोट देश आए। ल्हासा और थर्-लुङ्स् में कितने ही समय तक रह कर, इन्हों ने कुछ तांत्रिक ग्रंथों के अनुवाद में सहायता की। फिर नेपाल लौट कर शांतिपुरी विहार में ठहरे। दूसरी बार राजा (सि-तु) ब्यङ्-छुब्-र्ग्यल्-म्छन् के निमंत्रण पर फिर भोट देश आए। भोटराज ग्रग्स्-प-ऽब्युङ्-ग्नस् के समय में राजधानी नेउ-थङ् में पहुँचे। कितने ही समय रह कर फिर नेपाल लौट गए, और वहीं १४६८ ई० में इन का देहांत हुआ। इन के द्वारा अनुवादित ग्रंथों में सिद्धों के कुछ दोहे और गीत भी हैं। (ऽगोस्-यिद्-ब्स्रङ्-च) गशोन-नु-द्पल् (जन्म १३९२ ई०), (स्तग्) शेस्-रब्-रिन्-छेन् (जन्म १४०१ ई०) और शेस्-रब्-र्ग्यल् (१४२३ ई०) इन के सहायक लो-च-व थे।

(श-लु) धर्मपालभद्र (जन्म १४४१ ई०)। यही अंतिम विद्वान् लो-च-व थे। यह जु-स्तोन् के प्रसिद्ध श-लु-विहार के भिक्षु थे। इन्हों ने 'अभिधर्मकोश-टीका' (स्थिरमति), 'ईश्वरकर्तृत्वनिराकृति' (नागार्जुन), 'मंजुश्री-शब्दलक्षण' (भव्यकीर्ति) आदि ग्रंथों के अनुवाद किए। इन के पूर्व इसी श-लु विहार के दूसरे विद्वान् लो-च-व रिन-छेन् ब्सङ् (१४८९-१५६३ ई०) ने भी कुछ ग्रंथों के अनुवाद किए थे।

लामा तारानाथ (जन्म १५७५ ई०)। असली नाम र्गल्-खङ्-प कुन्-दगऽ-स्ञिङ्-पो था। यद्यपि इन का अध्ययन बु-स्तोन् या चोङ्-ख-प की भाँति गंभीर न था, तो भी यह बहुश्रुत थे। इन्हों ने बहुत सी पुस्तकें लिखीं, जिन में भारत में बौद्धधर्म के इतिहास विषय की भी एक है। सर्वप्रथम इसी इतिहास का एक युरोपीय भाषा में अनुवाद होने से तारानाथ का नाम बहुत प्रसिद्ध है। इन के अनुवादित ग्रंथों में अनुभूतिस्वरूपाचार्य का 'सारस्वत' भी है, जिस का इन्हों ने कुरुक्षेत्र के पंडित कृष्णभद्र की सहायता से अनुवाद किया था।

पंद्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और सोलहवीं शताब्दी भोट देश में भिन्न भिन्न मठों की प्रतिद्वंद्विता का समय था यह प्रतिद्वंद्विता सशस्त्र प्रतिद्वंद्विता

थी। १४३५ ई० में फग्-मुग् मठ वालों ने ग्चङ् प्रदेश को, रिन्-स्पुङ् वालों के हाथ से छीन लिया। १४८० ई० में स्ग्र-स्मर् लामा (छोस्-ग्रग्स्-ये-शेस्—मृत्यु १५२४ ई० ?) ने ग्चङ् की सेना ले कर द्बुस-प्रदेश पर चढ़ाई की। १४९८ ई० में रिन-छेन्-स्पुङ्-पा ने ग्चङ् की सेना लेकर स्नेऽु-जोंङ् और स्प्यिद्-शङ् पर अधिकार कर लिया। इसी वर्ष गसङ्-कु और स्कर्-म लामों ने वार्षिक धर्म-संमेलन के समय स-स्क्य-प और ऽब्रस् स्पुङ् के भिक्षुओं को अपमानित किया। १५१८ ई० तक—जब तक कि ग्चङ् की शक्ति क्षीण न हो गई—ऽब्रस्-स्पुङ् और से-र के भिक्षु वार्षिक पूजा (स्मोन्-लम छेन्-पो) में अपना स्थान प्राप्त न कर सके। १५६५ ई० में रिन्-स्पुङ् (ग्चङ्) ने फिर द्बुस् में आ कर लूटमार की। १६०४ ई० में स्कर्-म सेना ने स्क्य-शोद् दुर्ग नष्ट कर दिया। १६१० ई० में फिर ग्चङ्-सेना ने द्बुस् पर चढ़ाई की। १६१२ ई० में स्कर्-म महंतराज सारे ग्चङ् का शासक बन बैठा। १६१८ ई० में ग्चङ्-सेना ने द्बुस् पर चढ़ाई कर ऽब्रस्-स्पुङ् विश्वविद्यालय के हज़ारों भिक्षुओं को मार डाला।

ऊपर के वर्णन से मालूम होगा, कि उस समय भोट देश के मठ, विद्वानों और विरागियों के एकांत-चिंतन के स्थान न हो कर सैनिक अखाड़े बन गए थे। वस्तुतः सोलहवीं, सत्रहवीं शताब्दियों में यह बात भारत और युरोप पर भी ऐसे ही घटती है। भारत में भी इस समय सन्यासियों और वैरागियों के अखाड़े और उन के नागे सैनिक ढंग पर संगठित ही न थे, बल्कि कुंभ और मेलों पर इन की आपस में ख़ूब मारकाट होती थी। युरोप में पोप के भिक्षुओं की भी उस समय यही दशा थी। चोङ्-ख-प के अनुयायियों की प्रशंसा में यह बात ज़रूर कहनी पड़ेगी, कि १६४२ ई० तक—जब कि भोट का राज्य उन्हें मंगोल शिष्यों द्वारा अर्पित किया गया—उन्हों ने शासन और राज्य दख़ल करने का प्रयत्न नहीं किया। वह बराबर धर्म-प्रसार और विद्या-प्रचार में लगे रहे। उन के ऽब्रस्-स्पुङ्, से-र, द्गऽ-ल्दन्, ब्क्र-शिस्-ल्हुन्-पो, विहारों ने विश्वविद्यालयों का रूप धारण कर लिया था, जिन में कि भोट देश के कोने कोने के ही नहीं, बल्कि सुदूर मंगोलिया और साइबेरिया तक के भिक्षु

अध्ययनार्थ आने लगे थे। इन विश्वविद्यालयों के काम को देख कर धनी, ग़रीब सभी जनता दिल खोल कर उन की सहायता कर रही थी। इन के छात्रावास प्रदेश प्रदेश के लिए नियत थे, जिन में कुछ वृत्तियां भी नियत हो गई थीं। अर्थ-हीन विद्यार्थी भी इन छात्रावासों में रह कर अच्छी तरह विद्याध्ययन कर सकते थे, और विद्या-समाप्ति पर अपने देश में जा कर अपनी मातृ-संस्था और द्गे-लुग्स्-प-सम्प्रदाय के प्रति प्रेम और आदर का प्रसार करते थे। इतना ही नहीं, द्गे-लुग्स् संप्रदाय के नेताओं ने मंगोलिया में स-स्क्य संघराज के धर्म-प्रचार के कार्य को जारी रक्खा। १५७७ ई० में तीसरे दलाई लामा ब्सोद्-नेम्स्-र्ग्य-म्छो धर्म-प्रचारार्थ स्वयं मंगोलिया गए। और मंगोल-सर्दार अल्तन्-हान् ने (१५७८ ई० में) उन का स्वागत किया। इस समय तक द्गे-लुग्स्-प विश्वविद्यालयों के कितने ही मंगोल स्नातक अपने देश में फैल चुके थे। दूसरे वर्ष दलाई लामा ने वहाँ थेग्-छेन्-छोस्-ऽखोर्-ग्लिङ् की स्थापना की। इस यात्रा में उन्हों ने अम्-दो, खम्स आदि के महाविहारों का निरीक्षण किया, और कुछ नए विहार स्थापित किए। १५८८ ई० में तृतीय दलाई लामा का देहांत हो गया।

चतुर्थ दलाई लामा योन्-तन्-र्ग्य-म्छो, १५८९ ई० में, मंगोल-वंश में ही पैदा हुआ। इन बातों ने मंगोल-जाति का द्गे-लुग्स्-प संप्रदाय से घनिष्ठ संबंध स्थापित कर दिया। यही वजह हुई कि जब भोट के राज्यलोलुप मठों ने द्गे-लुग्स्-प के प्रभाव को बढ़ते देख उन में भी छेड़खानी शुरू की, तो मंगोल वीरों ने उन की रक्षा के लिए अपना रक्त देना निश्चय कर लिया। १६१८ ई० में ग्चङ्-सेना का ऽब्रस्-स्पुङ् के हज़ारों भिक्षुओं को जान से मारना, मंगोलों के लिए असह्य हो गया। इस खबर के पाते ही सारे मंगोलिया में ग्चङ् के मठधारियों के खिलाफ़ क्रोध का समुद्र उमड़ पड़ा। उस समय तक मंगोल-वीर गु-श्री-खान् (१५८२-१६५४ ई०) की कीर्ति सारे मंगोलिया में फैल चुकी थी। उस ने मंगोल योद्धाओं की एक बड़ी सेना तैयार कर मध्य-तिब्बत की ओर कूच कर दिया। ग्चङ् वालों को मालूम होने पर, वह भी उन से लड़ने के लिए आगे बढ़े १६२० ई० में र्ग्यङ् थङ्-गङ् में दोनों

सेनाओं की मुठभेड़ हुई । [illegible] मंगोलिया सैनिक आये भी, किन्तु उस वर्ष कोई आशाजनक सफलता नहीं हुआ । दूसरे वर्ष (१६३५ ई० में) फिर वहीं युद्ध हुआ, और ग्चङ् सेना ल्हासा नगर से पराजित हुई । तो भी कुछ शर्तों के साथ फिर राज्य ग्चङ्-स्मद्-प के हाथ में ही रहने दिया गया । लेकिन ग्चङ्-स्मद्-प को [illegible] की शांति न मिली । अंतिम ग्चङ्-स्मद्-प के इतने प्रबल पक्षपातियों का दमन कर विरोधी और भी तेज हो उठे । १६३७ ई० में इस के लिए ग्चङ् विरोधियों ने खोश-ओद् (मंगोल) जाति के गु-श्री-खान् ने को-को-नोर् झील के पास युद्ध करके पराजित किया, और वहाँ से दबुस् प्रदेश (ल्हासा-वाले प्रांत) में आ कर, फिर को-को-नोर लौट गया । १६३९ ई० में बौद्ध-विरोधी बोन्-धर्मानुयायी खम्स् के शासक बे-रि से युद्ध हुआ । वह राज्य से वंचित कर कैद कर लिया गया, और दूसरे वर्ष उस के अत्याचारों के लिए उसे मृत्यु-दंड दिया गया । ग्चङ् वालों की शरारत अभी कम न हुई थी, इस लिए १६४२ ई० में गु-श्री ने ग्चङ् पर चढ़ाई करके राजा को पकड़ कर, ग्चङ् और खाम्-पो प्रदेशों को अपने अधिकार में कर लिया । गु-श्री-खान् ने सारे विजित राज्य को पंचम दलाई लामा ब्लो-ब्सङ्-र्ग्य-म्छो के चरणों में अर्पण किया, और उन की तरफ से प्रबंध के लिए वह भोट का राजा उद्-घोषित हुआ । इस प्रकार भोट में धर्माचार्यों का दृढ़ शासन स्थापित हो कर अब तक चला जा रहा है ।

([illegible]) ब्लो-ब्सङ्-र्ग्य-म्छो (१६१७-८२ ई०) । चौथा दलाई लामा मंगोल जाति का था, यह पहले कह आए हैं । १६१६ ई० में उस की मृत्यु के बाद, उस का अवतार समझा जानेवाला पाँचवाँ दलाई लामा पैदा हुआ । यह अभी दो वर्ष का ही था, तभी ग्चङ् सेना ने डे-पुङ् के हजारों भिक्षुओं को मारा था । छ वर्ष की अवस्था (१६२२ ई०) में यह ब्रस्-स्पुङ् (डे-पुङ्) का नायक उद्घोषित हुआ । जब अवतार से सब काम होने वाला है, तब योग्यता और आयु का विचार करने की क्या आवश्यकता ? १६३८ ई० में ब्क्र-शिस्-ल्हुन्-पो विहार के नायक पण्-छेन (महापंडित) छोस्-क्यि-र्ग्यल्-म्छन् (१५७० १६६२ ई०) से इस ने भिक्षु दीक्षा ग्रहण की

मंगोल-सर्दार ने चोङ्-ख-प के महोत्तर शिष्य गन्दन ठी-पा को राज्य न प्रदान कर, क्यों दलाई लामा को दिया, इस का कारण स्पष्ट है। मंगोलिया में धर्म-प्रचार के लिए तीसरा दलाई लामा गया था, और चौथा दलाई लामा स्वयं मंगोल था, इस प्रकार वह दलाई लामा से ही अधिक परिचित था। मंगोलिया लोग दलाई लामा की जगह पर ग्यंल्-ब-रिन्-पो-छे (जिन-रत्न) शब्द का प्रयोग करते हैं। दलाई लामा शब्द मंगोल लोगों का दिया नाम है। मंगोल भाषा में त-ले सागर को कहते हैं। पहिले को छोड़ कर बाकी सभी दलाई लामों के अंत में ग्य-म्छो (सागर) शब्द का प्रयोग होता है, इसी लिए मंगोल लोगों ने त-ले-लामा कहना शुरू किया, जिस का ही बिगड़ा रूप दलाई लामा है। टशी (बक्र-शिस्) लामा को भोट भाषा में पण्-छेन-रिन्-पो-छे (महापंडित-रत्न) कहते हैं। पंचम दलाई लामा सुमतिसागर के गुरु पण्-छेन-छोस्-क्यि-ग्यंल्-मछन् से पूर्व वहाँ अवतार की प्रथा न थी। किन्तु पंचम दलाई के गुरु होने से, उन का सन्मान बहुत बढ़ गया; और मृत्यु के बाद उन के लिए भी लोगों ने अवतार की प्रथा खड़ी कर ली। वर्तमान टशी-लामा (पण्-छेन्)-छोम्-क्यि-ञि-म (धर्मसूर्य) उन के पांचवें अवतार हैं। पंचम दलाई लामा सुमतिसागर यद्यपि अवतार समझे जाने के कारण उस पद पर पहुँचे थे, तो भी वह बड़े कार्यपटु शासक थे। इन के शासन के समय में ही १६४४ ई० में मिङ्-वंश को हटा कर मंचू-सर्दार शुन्-चि-छि-थे-चुङ् चीन का सम्राट् बना। दूसरे साल १६४५ ई० में दलाई लामा ने पोतला का महाप्रासाद बनवाया। १६५२ ई० में चीन-सम्राट् के निमंत्रण पर वह चीन गए; और सम्राट् ने उन्हें ता-इ-श्री की पदवी से विभूषित किया। यह सारी अभ्यर्थना चीन-सम्राट् ने शक्तिशाली मंगोल जाति को अपने पक्ष में करने के लिए की थी; जिन पर दलाई लामा का बहुत अधिक प्रभाव था। १६५४ ई० में गु-श्री-खान् के मरने पर, उस का पुत्र त-यन् खान् (१६६० ई०) भोट का राजा बनाया गया। उस के भी मरने पर त-ले-खान्-रल भोट का राजा बना।

पंचम दलाई लामा को भी धर्म-प्रचार की लगन थी। वह चीन से लौटते हुए स्वयं इस के लिए बहुत से प्रदेशों में गए उन्हों ने एक होनहार भिक्षु

फुन्-छोग्स्-ल्हुन्-ग्रुब् को संस्कृत पढ़ने के लिए भारत भेजा। इस ने कुरुक्षेत्र के पंडित गोकुलनाथ मिश्र और पंडित बलभद्र की सहायता से रामचंद्र की पाणिनि-व्याकरण की 'प्रक्रियाकौमुदी' (१६५८ ई०) और 'सारस्वत' का (१६६५ ई०) भोट भाषा में अनुवाद किया। गौतमभारती, ओंकारभारती और उत्तमगिरि नामक रमते साधुओं की सहायता से (१६६४ ई० में) इस ने एक वैद्यकग्रंथ का भी अनुवाद किया। यही भोट का अंतिम अनुवादक था। १६८२ ई० में पाँचवें त-ले-लामा की मृत्यु हुई।

६—अंतिम युग (१६६४—)

ब्रह्-द्ब्यङ्स् रिन्-छेन्-ग्य-म्छो (१६८३-१७०५ ई०)। पंचम दलाई की मृत्यु के बाद ब्रह्मघोष-सागर उस का अवतार समझा गया। यह बड़ी ही रँगीली तबियत का आदमी था। वस्तुतः यह भिक्षु बनने के लिए नहीं पैदा हुआ था। लेकिन क्या करे? १७०२ ई० में इस ने भिक्षुव्रत तोड़ दिया। लोगों में तहलका मच गया। और इस के फलस्वरूप ल्ह-ब्सङ् ने सरकारी सेना को परास्त कर १७०५ ई० में अपने को भोट का राजा उद्घोषित किया। हालत और भी खराब हुई होती, किंतु जिस वक्त छठाँ दलाई ब्रह्मघोष-सागर चीन जा रहा था, रास्ते में कोकोनोर झील के पास उस की मृत्यु हो गई। इधर एक दूसरे ही व्यक्ति पद्-द्कर्-ऽजिन्-ये-शेस्-ग्य-म्छो (पुंडरीकधर ज्ञान-सागर) को पाँचवें दलाई लामा का असली अवतार बनाने का उपक्रम हो चुका था, किंतु ब्रह्मघोष के मर जाने से इस की जरूरत न रही। १७०८ ई० में स्कल्-ब्सङ्-ग्य-म्छो पैदा हुए, जो छठे दलाई के अवतार माने गए।

ल्ह-ब्सङ् के स्वतंत्र राजा बन जाने की सूचना, जब मंगोलिया में पहुँची, तो वहाँ फिर तैयारी होने लगी, और १७१७ ई० में जुङ्-गर् (मंगोलों की बाईं शाखा की) सेना भोट की तरफ रवाना हुई। एक प्रचंड तूफान की भाँति, इस के रास्ते में जो कोई विरोधी आया, उस का इस ने सत्यानाश किया। ल्हासा के उत्तर तरफ के मैदान में ल्ह-ब्सङ् ने इस का सामना किया, और लड़ाई में काम आया। लिङ्-म लामों ने ल्ह ब्सङ् का पक्ष

लिया था, इस लिए ल्हब्-सङ् खान् की सेना ने इन के मठों को ढूंढ-ढूंढ कर जलाया, और नष्ट किया। उन के शेस्-र्ग्यल्-ग्लिङ्, [illegible]-र्ग्यस् और [illegible]-ग्लिङ् मठ लूट लिए गए। ल्हब्-सङ् के [illegible] कृत्य के [illegible], आज भी भोट देश में सैकड़ों खंडहर [illegible] दिखाई देते हैं। इस प्रकार मंगोलों की सहायता से फिर दलाई लामा को राज्य-शक्ति प्राप्त हुई। सातवें दलाई लामा स्कल्-ब्सङ्-र्ग्य-म्छो (भद्रसागर) बड़े ही निरीह पुरुष थे। वे राज्य-कार्य को छोड़ कर ध्यान-ध्यान में अपना सारा समय लगाते थे। इन के काल में १७२७ ई० में एक बार फिर कुछ मंत्रियों ने बगावत की। उस समय (फो-ल-थै-ज़े) स्मोन्-ल्गम्-स्तोब्स्-र्ग्यस्—जिन्हें राजा मि-द्बङ् भी कहते हैं—ने ग्चङ्-रिस् और ल्दाक् की सेनाओं की सहायता से उन्हें पराजय कर दिया। इस सेवा के लिए मि-द्बङ् १७२८ ई० में भोट का उपराज बनाया गया। इसी मि-द्बङ् ने सर्वप्रथम ब्क-ऽग्युर और ब्स्तन्-ऽग्युर दोनों महान् ग्रंथ-संग्रहों को लकड़ी पर खुदवा कर छापा बनवाया, और उसे स्नर्-थङ्-विहार में रक्खा। इस मशहूर छापे के छपे किताबें ही कन्-जूर्, तन्-जूर आज दुनिया के पुस्तकालयों में पाए जाते हैं।

सातवें दलाई के समय में रोमन-कैथोलिक साधु कैपुच्चिन फ़ादर्स[1] ल्हासा में गए, और १७०८ ई० तक ईसाई-धर्म का प्रचार करते रहे। उन से पहले १६२६ ई० में पोर्तुगीज जेसुइट् पादरी अंद्रदा ने तिब्बत में प्रवेश किया था, किंतु वह ल्हासा या ब्क-शिस्-ल्हुन्-पो तक नहीं पहुँच सका था।

आठवें दलाई लामा के समय में कोई अभिज्ञ घटना नहीं हुई। नवें (११ वर्ष) दसवें (२३ वर्ष), ग्यारहवें (१७ वर्ष), और बारहवें (२० वर्ष) दलाई लामा बहुत थोड़ी ही थोड़ी उम्र में मर गए। लोगों का कहना है; कि प्रबंधकों ने अधिकार हाथ से न जाने देने के लिए, उन्हें खतम कर दिया। इस के बाद वर्तमान तेरहवें दलाई लामा थुब्-स्तन्-र्ग्य-म्छो (मुनिशासनसागर, जन्म १८७६ ई०) ही दीर्घजीवी हुए। अभी पिछले महीने में ही इन की मृत्यु का

[1] Capuchin Fathers

समाचार प्राप्त हुआ है।

१७७९ ई० में तीसरे पण्-छेन् लामा ब्लो-ब्सङ्-ये-शेस् (ज-१७४० ई०) चीन-सम्राट् के निमंत्रण पर पेकिङ् गए थे। वहाँ इन का बड़ा स्वागत हुआ था, किन्तु वहां चेचक से इन का देहान्त हो गया।

१८४० ई० में कुछ रोमन कैथोलिक पादरी ल्हासा में दो ढाई मास रहे थे।

१९०४ ई० में लार्ड कर्जन ने कुछ व्यापारिक शर्तों को मनवाने तथा रूस के प्रभाव को भोट में न घुसने देने के लिए सशस्त्र मुहिम भेजी। ल्हासा अंग्रेजों के हाथ में आ गया, किन्तु पीछे चीनी और अंग्रेजी सरकारों में समझौता हो गया, जिस से तिब्बत फिर पूर्ववत् कर दिया गया। बीच में चीन और तिब्बत में मतभेद हो जाने से दलाई लामा को भारत चला आना पड़ा था; किन्तु १९१२ ई० में चीन की राज्य-क्रांति के समय मौक़ा मिल गया, और भोट सैनिकों ने चीनी अधिकारियों को भोट से निकाल बाहर किया। दलाई लामा फिर तिब्बत लौट गए थे।

पाँचवें दलाई लामा के बाद धार्मिक क्षेत्र में भोट ने कोई विशेष कार्य न किया। डे-पुङ्-, से-र आदि बड़े बड़े दगे-लुग्स्-प विहार अब भी बड़ी बड़ी शिक्षण-संस्थायें हैं, और कितने ही काम पूर्ववत् चले जाते हैं, तो भी धार्मिकक्षेत्र में नवजीवन की बहुत कमी है।

परिशिष्ट

१—भोटदेशीय संवत्सर-चक्र (रब्-ऽब्युङ्) का आरंभ[1]

रब्-ऽब्युङ्	ईस्वी सन्
१	१०२७
२	१०८७
३	११४७
४	१२०७
५	१२६७
६	१३२७
७	१३८७
८	१४४७
९	१५०७
१०	१५६७
११	१६२७
१२	१६८७
१३	१७४७
१४	१८०७
१५	१८६७
१६	१९२७

अग्नि (प्रभव) १	भूमि, भू (विभव) २	भूमि (शुक्ल) °मूष ३	लोह (प्रमोद) ४	लोह (प्रजापति॰) ५	जल (अंगिरा) °अश्व ६	जल (श्रीमुख) ७	द्रुम (भाव) ८	द्रुम (युवा) °शश ९	अग्नि (धाता) १०	अग्नि (ईश्वर) °शूकर ११	भूमि (बहुधान्य
भूमि प्रमाथी) १३	लोह (विक्रम) °वानर १४	लोह (वृष) १५	जल (चित्रभानु) १६	जल (सुभानु) °नाग १७	द्रुम (तारण) १८	द्रुम (पार्थिव) °वृष १९	अग्नि (व्यय) २०	अग्नि (सर्वजित्) २१	भूमि (सर्वधारी) °वृष.... २२	भूमि (विरोधी) २३	लोह (विकृत
लोह खर) °अश्व २५	जल (नन्दन) २६	जल (विजय) °नाग २७	द्रुम (जय) २८	द्रुम (मन्मथ) २९	अग्नि (दुर्मुख) °शूकर ३०	अग्नि (हेमलंब) ३१	भूमि (विलंब) ३२	भूमि (विकारी) °मेष ३३	लोह (शर्वरी) ३४	लोह (प्लव) ३५	जल (शुभकृत
जल शोभन) ३७	द्रुम (क्रोधी) °मूष ३८	द्रुम (विश्वावसु) ३९	अग्नि (पराभव) ४०	अग्नि (प्लवंग) °पक्षी ४१	भूमि (कीलक) ४२	भूमि (सौम्य) ४३	लोह (साधारण) °मेष ४४	लोह (विरोधकृत्) ४५	जल (परिधावी) ४६	जल (प्रमादी) °अश्व ४७	द्रुम (आनंद °व्याघ्र
द्रुम राक्षस) °श्व ४९	अग्नि (नल) ५०	अग्नि (पिंगल) ५१	भूमि (कालयुक्त) °मेष ५२	भूमि (सिद्धार्थी) ५३	लोह (रौद्र) ५४	लोह (दुर्मति) °श्वान ५५	जल (दुन्दुभि) ५६	जल (रुधिरोद्गारी) पक्षी ५७	द्रुम (रक्ताक्षी) ५८	द्रुम (क्रोधन) ५९	अग्नि (क्षय °मूष

३—भोटदेशीय मासों के नाम[1]

भोटदेशीय				भारतीय
संख्या	नाम	ऋतुओं के अनुसार नाम	ऋतु	नाम
१	नाग	अंत	हेमंत	माघ
२	सर्प	आदि	ग्रीष्म	फाल्गुण
३	अश्व	मध्य	,,	चैत्र
४	मेष	अंत	,,	वैशाख
५	वानर	आदि	शरद्	ज्येष्ठ
६	पक्षी	मध्य	,,	आषाढ़
७	श्वा	अंत	,,	श्रावण
८	सूकर	आदि	शिशिर	भाद्रपद
९	मूषक	मध्य	,,	आश्विन
१०	वृष	अंत	,,	कार्तिक
११	व्याघ्र	आदि	हेमंत	मार्गशीर्ष
१२	शश	मध्य	,,	पौष

[1] भोटदेशीय प्रथम मास माघ सुदी प्रतिपद् से आरंभ होता है। मास-गणना अमांतस्थान है, किंतु अधिक मास के एक साथ न पड़ने के कारण भारतीय मासों से मिलान नहीं रहता।

प्रत्येक रब-ब्युङ में अधि-मासवाले वर्ष [illegible]

वर्ष-संवत्		
भोट नाम	भारतीय नाम	संख्या
भूमि-(स्त्री) सर्प	शुक्ल	५
जल-(पुरुष) वानर	अंगिरा	३
द्रुम-(स्त्री) शूकर	युवा	१२
अग्नि-(स्त्री) सर्प	ईश्वर	८
लोह-(पुरुष) नाग	विक्रम	५
जल-(स्त्री) मेष	सुभानु	१
द्रुम-(स्त्री) पक्षी	पार्थिव	१०
भूमि-(पुरुष) मूषक	सर्वधारी	१०
लोह-(स्त्री) शश	खर	३
जल-(स्त्री) सर्प	विजय	१
अग्नि-(पुरुष) वानर	दुर्मुख	८
भूमि-(स्त्री) शूकर	विकारी	५
द्रुम-(पुरुष) नाग	क्रोधी	९
अग्नि-(स्त्री) मेष	प्लवंग	६
लोह-(पुरुष) श्वा	साधारण	२
जल-(स्त्री) वृष	प्रमादी	३
द्रुम-(पुरुष) व्याघ्र	आनंद	११
द्रुम-(स्त्री) शश	राक्षस	७
भूमि-(पुरुष) अश्व	कालयुक्त	४
लोह-(स्त्री) पक्षी	दुर्मति	१२
जल-(स्त्री) शूकर	रुधिरोद्गारी	६
अग्नि-(पुरुष) व्याघ्र	क्षय	१०

[1] स-स्क्य (ग्रग्स्-प-र्गॅल्-म्छन्, ११४६-१२१६ ई०), स,

[2] भोट पंचांग में प्रति तीसरे वर्ष अधिमास का नियम न

[illegible]ष्टक से मालूम होगा ।

-स-सक्य मठ (स्थापित १०७३ ई०) के संघराज

नाम	जन्म	गद्दी	मृत्यु
[1] (ऽखोन्)-द्कोन्-म्छोग्-र्ग्यल्-पो	१०३४ ई०	१०७३	११०२
[2] ब-रि-लो-च-व		११०२	(१११९)
(स-छेन्) कुन्-द्गाऽ-स्ञिङ्-पो	जल-वानर १०९२	११११	भू-व्याघ्र ११५८ ई०
(स्लोब्-द्पोन्) ब्सोद्-नम्स्-र्त्से-मो	जल-श्वा ११४२	(११५८)	जल-व्याघ्र ११८२
(जे-ब्चुन्) ग्रग्स्-प-र्ग्यल्-म्छन्	अग्नि-शश ११४७	(११८२)	अग्नि-मूषक १२१६
(स-पण्) कुन्-द्गाऽ-र्ग्यल्-म्छन्	जल-व्याघ्र ११८२	(१२१६)	लोह-शूकर १२५१
ऽफग्स्-प-ब्लो-ग्रोस्-र्ग्यल्-म्छन्	१२३४	(१२५१)	१२८०
धर्मपालरक्षित	१२६८	१२८०	१२८८
(शार्-प) ऽजम्-द्ब्यङ्स्-रिन्-छेन्-र्ग्यन्	१२७६	१२८८	
द्पल्-प-ब्सोद्-नम्स्-र्ग्यल्-म्छन्	१३११	१३४२	

[1] 'जर्नल आफ् दि बंगाल एशियाटिक सोसाइटी', (१८८९) में श्री शरच्चंद्र-दास का लेख।

[2] स-स्क्य-ग्दुङ्-रब्स्, क, ख। [3] स-स्क्य-ग्दुङ्-रब्स्, ग, ङ घ।

वही,[4] छ, ज, त [5] वही, म द, न [6] वही प, फ, ब

नाम	जन्म	मृत्यु	विशेष
नारोपा (विक्रम शिला)		१०४०ई०	
मर्-व-छोस्-क्यि-ब्लो-ग्रोस्[1]			
मि-ल-रस्-प[1]	१०४०	११२३	११४० ई० में-मर्-प के पास गया।
स्गम्-पो-(द्वग्स्-पो)[2] ल्ह-र्जे[1]	१०७९	११५३	
(कर्-म-)ऽदुस्-ग्सुम्-म्ख्येन्-प[3] [4]	११६०	११०२	
" रस्-छेन्[1]			
" स्पोम्-ब्रग्-ब्सोद्-दोर्[1]	११७०	१२४८	
" बक्-सि-छोस्-ऽज़िन्[1]	१२०४	१२८३	
" रङ्-ऽव्युङ्-दों-र्जे	१२८४	१३३९	
" रोल्-व-दों-र्जे	१३४०	१३८३	
" दे-ब्शिन्-ग्शेग्स्-प	१३८४	१४१५	
" म्थोङ्-व-दोन-ल्दन्	१४१६	१४५३	
" छोस्-ग्रग्स्-र्ग्य-म्छो	१४५४	१५०३	
" मि-ब्स्क्योड्-दों-र्जे	१५००	१५५४	
" द्वङ्-फ्युग्-दों-र्जे	१५५६	१६०१	
" छोस्-द्ब्यिङ्स्-दों-र्जे	१६०४	१६७३	

[1] 'जर्नल अव् दि बंगाल एशियाटिक सोसाइटी' (१८८९) जिल्द ५८ (१) ोड्-र्दल्-ग्सुं-ऽग्रुं, छ, पृष्ठ ८ क के आधार पर।

[2] द्वग्स्-पो सन् ११२१ ई० में स्थापित किया।

[3] इस ने जिन मठों को स्थापित किया—मृञ्ज-म्दुर्-ल्ह-लुङ् (११५५ ई०), (११५९ ई०), कम्-पो-ग्नस्-नङ् (११६४ ई०), ऽव्रोड्-ल्प्ड्-म्खर (११६२ र्-म-ल्ह-ल्देङ् (११८५ ई०)। ११३९ ई० में स्गम्-पो के पास गया।

[4] यहाँ तक शिष्य उत्तराधिकारी होता रहा, पीछे अवतारी ी ा

७—चोङ्-ख-प की गद्दी के मालिक द्गऽ-ल्दन्-संघराज

नाम	जन्म	गद्दी	मृत्यु
चोङ्-ख-प			१४१९ ई०
धर्म रिन्-छेन्		१४१९	(१४३१)
म्खस्-ग्रुब-जे		१४३१	१४३८
ब्लो-ग्रोस्-छोस्-स्क्योङ्			१४६२
(ब-सो) छोस्-र्ग्यल्		१४६२	१४७३
ब्लो-ब्र्तन्		१४७२	१४७८
स्मोन्-लम्-द्पल्			१४९१
ब्लो-ब्जङ्-ञि-म	१४३९	१४९०	१४९२
वे-ब्दङ्			१४९८
ऽदर्-म्तोन्		१५००	१५११
रिन्-ऽोद्-प	१४५३	१५१७ ?	१५४०
शेस्-रब्-लेग्स्-ब्लो	१४५०		१५२९
ब्सोद्-ग्रग्स्-प	४१७८	१५२९	१५५४
छोस्-स्क्योङ्-र्ग्य-म्छो	१४७३	१५३५	१५३९
(मि-ञग्) दोर्-ब्सङ्	१४९१	१५३९	१५५३
छोस्-ब्शेस्	१४५३		१५४०
[1] र्ग्यन्-ग्सङ्	१४९७		
डग्-द्बङ्-छोस्-ग्रग्स्	१५०१	१५३८	१५५०
(ऽोल्-द्गऽ) द्गे-लेग्स्-द्पल्	१५०५	१५५८	१५६७
छोस्-ग्रग्स्-ब्सङ्	१४९३		१५५९
द्गे-ऽदुन्-ब्स्तन्-दर्	१४९३	१५६४	१५६८

[1] यह नाम क्लोङ्-र्दोल् (जन्म १७१९ ई०) गसुं ऽबुं च पृष्ठ ७१ ब से लिए गए हैं। बाकी राय बहादुर शरच्चन्द्रदास के लेख से

नाम	जन्म	गद्दी	मृत्यु
छे तँन् ग्यँ-म्छो	१५२०	१५२८	१५७७
व्यम्स्-प-ग्यँ-म्छो	१५१६	१५७५	१५९०
द्पल्-ऽब्योर्-र्ग्यँ-म्छो	१५२६	१५८२	१५९९
ध्म्-छोग्-(द्पल्-ऽब्र्)	१५२३	१५८९	१५९९
कुंगे-ऽदुन्-र्ग्यल्-म्छन्	१५३२		
सङ्स्-र्ग्यस्-रिन्-छेन्	१५४०	१५९६	१६१२
ङग्-द्बँन्		१६०३	१६०७
छोस्-र्जे-न्र्शेस्-गञेन्-ड्रग्स्	१५४६	१६०७	१६१८
(स्तग्-ब्ग) ग्लो-ग्यँ-म्छो	१५४६	१६१५	१६१८
दम्-छोस्-द्पल्	१५५६	१६१८	१६२१
(छुल्-खिम्स्) छोस्-ऽफेल्	१५६१	१६१९	१६२३
ग्रग्स्-प-ग्यँ-म्छो	१५५५	१६२३	१६२३
(ङग्) छोस्-क्यि-र्ग्यल्-म्छन्			
द्कोन्-म्छोग्-छोस्-ऽफेल्	१५७३	१६२६	१६४६
(कोङ्-पो) ब्स्तन्-ऽजिन्-लेग्स्-ब्शद्		१६३७	
जैं-द्गे		१६३७	
(ड्गस्-पो) ब्स्तन्-प-र्ग्यल्-म्छन्		१६४३	१६५७
द्कोन्-म्छोग्-छोस्-ब्सङ्		१६४८	१६७३
द्पल्-ल्दन्-र्ग्यल्-म्छन्		१६५४	
ब्लो-ब्सङ्-र्ग्यल्-म्छन्		१६६२	१६७२
ब्लो-ब्सङ्-दोन्-योद्	१६०२	१६६८	१६७८
ब्लो-ब्सङ्-र्नम्-र्ग्यल्			
ब्यम्स्-प-ब्क्र-शिस्	१६१६	१६७५	१६८४
ब्लो-ब्सङ्-नोर्-बु			
क्लु-ऽब्रुम्-र्ग्यँ-म्छो		१६८२	
ब्लो-ग्रोस्-र्ग्यँ-म्छो	१६३५	१६८५	१६८८
(ब्यो-नस्) छुल्-खिम्स्-दर्-र्ग्यस्	१६३२	१६८५	

नाम	जन्म	गद्दी	मृत्यु
(ब्सम्-ब्लो) क्यिल्-प-र्ग्य-म्छो			
(चो-नस्) छुल्-द्ग्		१६९२	
डोन्-योद्-र्ग्य-म्छो		१६९५	
[१] द्पल्-ऽब्योर्-र्ग्यल्-म्छन्		१७०१	
[१] दोन्-ग्रुप्-र्ग्य-म्छो			
[१] (ब्य-म्ल्) द्गे-ऽदुन्-फुन्-छोग्स्			
[१] ङ्ग-द्बङ्-म्छोग्-ल्दन्			

८—बौद्ध विद्वान और उनके आश्रयदाता आदि

समय	आश्रयदाता या प्रधान व्यक्ति	भारतीय पंडित	लो-च-व (दुभाषिया) या प्रधान धार्मिक नेता
	आरंभ-युग (५८०-७६३)		
५७०-६२८	स्रोङ्-ब्चन्-स्गम्-पो	देवविद्यासिंह	थॉन्-मि अ-नुइ-यु
		शंकर (ब्राह्मण)	धर्मकोष
		शीलमंजु (नेपाली)	(ह्वगद्) महादेव
			(ल्ह-लुङ्) दों-र्जे-द्पल्
६७०-७४२	(रिव) ल्दे-ग्चुग्-ब्र्तन्		(ब्लन्-क) मूलकोष
			(ङग्) ज्ञानकुमार
	शांतरक्षित-युग (७६३-८८२)		
७४२-८५	(खि) स्रोङ्-ल्दे-ब्चन्	अनंत	सङ्-शि (चीनी)
		शांतरक्षित	मे (चीनी)
		पद्मसंभव	गो (चीनी)
		कमलशील	द्पल्-द्ब्य-सेङ्गे
		सुरेंद्राकर प्रभ	ये-शेस्-द्बङ्-पो
			(ल्ची) ज्ञानकुमार
		शीलधर्म (ल्ची)	
		धर्मकीर्ति	(स्न-नम्) दों-र्जे-ब्दुद्-ऽजोम्स्
		विमलमित्र	नम्-म्खऽ-स्क्योङ्
		ज्ञानगर्भ	(ल्चे) ज्ञानसिद्धि
			(ह्वसङ्) महायान
			(चिम्) ———
			प-थोर्) क्षत

सभ्य	आश्रयदाता या प्रधान व्यक्ति	भारतीय पंडित	लो-च़्व (दुभाषिया) या प्रधान धार्मिक नेता
			(थङ्-ति) जयरक्षित
			क्लुऽि-द्वङ्-पो
			(ग्रुद्-पु) श्रीसिंह
			(बँ) मंजुश्री
७८७-८१७	(ख्रि) ल्दे-(स्रोङ्)-ब्चन्-पो	(अपरांतक) जिनमित्र	(चङ्) देवेंद्र
		सुरेंद्रबोधि	(स्कङ्) कुमुदिक
		शीलेंद्रबोधि	(ऽब्रोन्) नागेंद्ररक्षित
		दानशील	ल्गस्-पऽि-ब्लो-ग्रोस्
		बोधिमित्र	(मं-आचार्य) रिन्-छेन्-
		विद्याकरसिंह (० प्रभ)	म्छोग्
		मंजुश्रीवर्म	
		विद्याकरसिद्ध	(बन्-दे) नम्-पर्-मि-तोंग्
		धर्मश्रीप्रभ	ग्लङ्-क-तन्
		सर्वज्ञदेव	(क्य) ख्रि-ग्ज़िग्स्
			(बँ) ख्रि-शेर्
		धर्माकर	स्ङ्-शि
		शाक्यसिंह	(च्ङ्) ल्हस्-ग्रुब्
		सर्वज्ञ देव	छोस्-क्यि-स्नङ्-व
		विद्याकरप्रभ	(स्गो) रिन्-छेन्-स्दे
		बुद्धगुह्य	(बन्-दे) द्पल्-ब्र्त्सेग्स्
		शांतिगर्भ	(बन्-दे) कुलुऽि-द्वङ्-पो
		(कश्मीरी) जिनमित्र	(शङ्) य़्येल्-स्नन्-ल-ब्सङ्
			(ल्चे) ख्यि-ऽब्रुग्
			देवचंद्र
			द्पल्-ग्यि-ल्हुन्-पो
			द्पल्-ग्यि-द्ब्यङ्स्
			ब्लोन्-ख्रि-ब्शेङ्
			रत्नरक्षित

समय	आश्रयदाता या प्रधान व्यक्ति	भारतीय पंडित	लो-च-व (दुभाषिया) या प्रधान धार्मिक नेता
			रत्नेंद्रशील
८१७-८४१	(खि) रल्-प-चन्	शाक्यसेन	द्पो-चडि-द्पल्
		ज्ञानसिद्ध	(बन्-दे) योन्-तन्-द्पल्
		मुनिवर्म	(स्न-नम्) ये-शेस्-स्दे
		शाक्यप्रभ	(चोग्-रो) क्लुडि-र्ग्यल्-म्छन्
		ज्ञानगर्भ	(गोस्) छोस्-ग्रुब्
		विशुद्धसिंह	धर्मालोक
		प्रज्ञावर्म	क्लुडि-द्बङ्-पो
			ये-शेस्-द्पल्
			(बन्-दे) नंम्-म्खऽ
			ये-शेस्-स्रस्-रुम्
			तींग्-ऽजिन्
			(शङ्) ये-शेस्
			ये-शेस्-स्निङ्-पो
			ये-शेस्-स्दे
			देवेन्द्र
			कुमाररक्षित
८४१-४२	(ग्लङ्) दर्-म		(ह्र-लुङ्) द्पल्-र्दो-र्जे
			तिङ्-ङे-ऽजिन-ब्सङ्-पो
			(र्मे) रिन्-छेन्-म्छोग्
			(चङ्) रब्-ग्सल्
			(ग्यो) द्गे-ऽब्युङ्
			(स्तोद्-लुङ्-स्मर्) शाक्यमुनि
			ख्यि-र-ब्योद्-प

दीपंकर-युग (१०४२-११०२)

समय	आश्रयदाता या प्रधान व्यक्ति	भारतीय पंडित	लो-च-व (दुभाषिया) या प्रधान धार्मिक नेता
१०००	ये-शेस्-ऽोद्	श्रद्धाकरवर्म	रिन्-छेन्-ब्सङ् पो (९५८-१०५५)
		जनार्दन	लेगस् पडि-शस्-रब्

मय	या प्रधान व्यक्ति	भारतीय पंडित	लो-च-व (दुभाषिया) या प्रधान धार्मिक नेता
		बुद्धपाल	(ग्य-चो) स-वङ्-ऽोद्-सेर् (१०२७) ल
		कमलगुप्त	(स्प्रो) शेस्-रब्-ग्रग्स्
		करुणा (ज्ञान) श्रीभद्र	शाक्य-ब्लो-ग्रोस्
		सोमनाथ (कश्मीरी) (१०२७)	(लोग्-सक्य) शेस्-रब्-बर्चेग्स्
		धर्मपाल	(सल्-ग्यो) ब्लो-ग्रोस्-ग्रग्स्-प
		कनकश्रीमित्र	ग्शोन्-ग्रग्स्
		प्रज्ञापाल	द्गे-वङ्-छेग्स्-प
		कुमारकलश	छुल्-ख्रिम्स्-योन्-तन्
		धर्मश्रीवर्म	(ऽब्रोग्-मि) शाक्य-ये-शेस् (मृत्यु १०७२)
		प्रेतक	
		स्मृतिज्ञानकीर्ति	
		सूक्ष्मदीर्घ	
		पद्मरुचि	
		गंगाधर	
		धर्मश्रीभद्र	
		गयाधर	
	ल्ह-ल्दे (राजा)	सुभाषित	
	ऽोद्-ल्दे (राजा)	सुनयश्री	(ब्न्) दर्-म-ग्रग्स्
		मति	(शङ्-दूकऽ) ऽफग्स्-पऽि-शेस्-रब्
		आरण्यक (कश्मीरी)	
		तेजोदेव	
		परिहितभद्र	
१०५२	ब्यङ्-छुब्-ऽोद्	दीपंकरश्रीज्ञान	रिन्-छेन्-ब्सङ्-पो
		महाजन	ग्शोन्-नु-मछोग्
		कुमारकलश	(नग्-छो) छुल्-ख्रिम्स्-र्ग्यल्-ब
		कृष्णपंडित	(से-चं) ब्सोद्-नम्स्-र्ग्यल्
		शांतिभद्र (नेपाली)	(र्ग्य-) ब्चोन्-ऽग्रुस्-सेङ्-गे (मृत्यु १०४१)

समय	व्यक्ति या प्रधान	भारतीय पंडित	लो-च-व (दुभाषिया) या प्रधान धार्मिक नेता
		आनंद (कश्मीरी)	(ऽब्रग्-ऽब्योर्) शेस्-रब्-ऽबर
		श्रीरथ (कश्मीरी)	छोस्-ब्सङ्
		अनंत	(ऽब्रो-सेङ्-दुकर्) शाक्य-ऽओद्
		देवेंद्र	(ऽगोस्-खुग्-प) ल्हस्-ब्चस्
		चंद्रकुमार	(ग्यि-चो) स-वडि-ऽओद्-सेर् ल
		विनायक	(योल्-चोग्) दों-जे-दुवङ्-फ्युग्
		अजितश्रीभद्र	शाक्य-ये-शेस्
		अनंतश्री (नेपाली)	दुगे-वडि-व्लो-ग्रोस्
		कुमारश्रीमित्र	
		गयाधर	
		रुद्र	
		बुद्धशांति	
		सुभूतिश्री (शांति)	
		भव्यराज (कश्मीरी)	
	शि-व-ऽओद्	सुजनश्रीज्ञान	शि-व-ऽओद्
		गुणाकरश्रीभद्र	(ऽब्रो-सेङ्-दुकर्) शाक्य-ऽओद्
		मंत्रकलश	(शग्-शुङ्) ब्यङ्-छुब्-शेस्-रब्
		दीपंकररक्षित	
१०७६	चें-ल्दे (राजा)	ज्ञानश्री	(ल-स्तोद्-र्म) छोस्-ऽबर् (१०४२-८९)
		तिलककलस	(डोंग्) ब्लो-ल्दन्-शेस्-रब (१०५९-१२०८)
		सुमतिकीर्ति	(ख्यङ्-पो) छोस्-ब्चोन्
		चंद्रराहुल	(चोग्-रु) तिङ्-ङे-ऽजिन्-ब्सङ्-पो
		अतुलदास	(म्युंस्) सम्रोन्-लम्-ग्रग्स्
		मनोरथ (कश्मीरी)	
		परहितभद्र	

१७—द्गेलुग्-स् संप्रदाय की परंपरा

*दीपकरश्रीज्ञान (९८२-१०५४)

(ऽब्रोम्-स्तोन्) र्ग्यल-ऽब्युङ् (१००३-६४)

(पो-तो-प) रिन्-छेन्-ग्सल् (१०२७-११०४)

(शर्-ब) योन्-तन्-ग्रग्स् (१०२७-११४१)

र्ग्य-दुपे-स्गोम्-प

(ग्रुब्-थब्) हु-ऽबर

शङ्-द्गे-स्लोङ्-

ऽखोन्-स्तोन्-ग्शोन्-नु

(ग्ड्-प) ब्ल-म-द्कोन्-म्छोग्

(स-फुग्-प) शाक्य-दोर्जे

†(स-स्क्य-पण्) कुन्-द्गऽ-र्ग्यल्-म्छन् (११८२-१२५१ ई०)

†(ऽ-ग्रुग्-प)-ब्सोद्-नम्स्-सेङ्-गे

†(ऽसुस्-प) सङ्स्-र्ग्यस्-ऽबुम् (मृत्यु ११९६)

कुन्-म्ख्येन्-छोस्-स्कु

ऽफग्स्-ऽओद्-योन्-तन्-र्ग्य-म्छो

† ‖ म्छोग्स्-ल्दन्-पऽि-ब्लो-ग्रोस्

† ‖ ब्ल-म-द्पल्-ल्दन्-सेङ्-गे

†बु-स्तोन्-रिन्-छेन्-ग्रुब् (१२९०-१३६४)

ल्युङ्-लो-ब्सस्-प

† (द्मर्-स्तोन्) र्ग्य-म्छो-रिन्-छेन् (ब्लो-ब्ग्-प) नम्-म्खऽ

‡ छोस्-स्क्योङ् (ब्दे-गोङ्, जन्म १३३५ ई०)

‡ छोस्-स्क्यि-ब्ला-म-स्ग्रुब्-स्क्युङ् (फ्यग्-ग्रुब् १३३५-८३ ई०)

(चोङ्-ख-प, ब्लो-ब्सङ्-ग्रग्स्-प (§ १३५७-१४१९)

ऽजम-द्ब्यङ्स् (१३७८-१४४९) (ऽब्रस्-स्पुङ्- मठ १४१६)

शाक्य-ये-शेस् (जन्म १३८३) (से-र १४१९)

म्खस्-ग्रुब (१३८५-१४३८ ई०)

(र्ग्यल्-ब) द्गे-ऽदुन् ग्रुब् (१३९१-१४७४) (प्रथम दलाई लामा) (ब्क्र-शिस्-ल्हुन्-पो मठ १४४७)

(स्नङ्) शेस्-रब्-सेङ् (१३९५-१४५७) (छब्-म्दो मठ १४३७)

(पण्-छेन्-) सङ्-पो-ब्क्र-शिस्-द्पल् (१४१०-७४-७८)

लुङ्-रिङ्-र्ग्य-म्छो (—१४७८-१५५७)

(पण्-छेन्) ब्लो-ब्सङ्-दोन्-ग्रुब् (१५०५-६५)

म्खस्-ग्रुब-सङ्स्-र्ग्यस्-ये-शेस् (१५२५-९०)

(पण्-छेन्) ब्लो-ब्सङ्-छोस्-क्यि-र्ग्यल्-म्छन् (१५७०-१६६८ ई०) (प्रथम पण्-छेन्-रिन्-पो-छे)

(र्ग्यल्-ब) द्गे-ऽदुन्-र्ग्य-म्छो (१४७५-१५४२)

(र्ग्यल्-ब) ब्सोद्-नम्स्-र्ग्य-म्छो (१५४३-८८)

(र्ग्यल्-ब) योन्-तन्-र्ग्य-म्छो (१५८९-१६१६)

(पण्-छेन्) ब्लो-ब्सङ्-ये-शेस् (१६६३-१७३९)

(पण्-छेन्) द्पल-ल्दन-ये-शेस् (१७४०-८० ?)

(पण्-छेन्-) ब्स्तन्-प-जि-म (जन्म १७८१ ?)

(पण्-छेन्-) ब्स्तन्-पऽि-द्बङ् फ्युग्

(पण्-छेन्-) छोस्-क्यि-जि-म

(र्ग्यल्-ब) ब्लो-ब्सङ्-र्ग्य-म्छो (१६१७-८२)

(र्ग्यल्-ब) छङ्स्-द्ब्यङ्स्-र्ग्य-म्छो (१६८३-१७०५)

(र्ग्यल्-ब) स्कल्-ब्सङ्-र्ग्य-म्छो (जन्म १७०८)

(र्ग्यल्-ब) ऽजम्-द्पल्-र्ग्य-म्छो

(र्ग्यल्-ब) लुङ्-र्तोग्स्-र्ग्य-म्छो

(र्ग्यल्-ब) छुल्-खिम्स्-र्ग्य-म्छो

(र्ग्यल्-ब) म्खस्-ग्रुब्-र्ग्य-म्छो

(र्ग्यल्-ब) ऽफ्रिन्-लस्-र्ग्य-म्छो

(र्ग्यल्-ब) थुब्-ब्स्तन्-र्ग्य-म्छो (जन्म १८७६)

\+ दीपकर से चोङ्-ख-प तक देखो तिब्बत मे चौरासी सिद्धो की परंपरा ।

† क्लोङ्-र्दोल्-ग्सुं-ऽबु म, पृष्ठ ८० क ।

‡ 'जर्नल अव् दि बंगाल एशियाटिक सोसाइटी', जिल्द ५८, भाग १ ।

§ श्री शरच्चन्द्रदास, डा० जार्ज हुथ और सर चार्ल्स बेल ने सन् गिनने मे १ वर्ष कम रक्खा है ।

समय	आश्रयदाता या प्रधान व्यक्ति	भारतीय पंडित	लो-च़-व (दुभाषिया) या प्रधान धार्मिक नेता
		शाक्यश्रीभद्र (११२७-१२२५)	(ब्य-युल्) लो-च़-व (१२०१)
		विभूतिचंद्र (१२०४) (जगत्तल)	(रोङ्-स्दें) ञेंम्-र्ग्यल्-दों-जें
		दानशील (१२०४)	(वैं) दों-जें-द्पल्
		संघश्री (नेपाली, १२०४)	(छग्) छ्र-द्चोम्-तें-ऽ (११५३-१२१६)
		सुगतश्री (१२०४)	ख़ुल्-खिम्स्-र्ग्यल्-म्छन्
		विनयश्री	ख़ुल्-खिम्स्-सेङ्-गे
		धर्मधर	(स्पङ्स्) अगूस्-प-र्ग्यस्-म्छन्
		रत्नश्री	
		वज्रासनपाद	
		निष्कलंक	
१२५१-८०	(स-स्क्य) ऽफग्स्-प	सुधनरक्षित	(ह्व-मर्) सेङ्-र्ग्यल्
		मणिभद्ररक्षित	(य-ब्रोग्-ग्यि-मद्-प) छोस्-क्यि-द्वङ्-पो
		लक्ष्मीश्री (नेपाली)	(छग्) छोस्-जें-द्पल् (मृत्यु १२६५)
		लक्ष्मीकर	देवेंद्र
			रत्नरक्षित
			(ञोङ्-स्तोन्) दों-जें-र्ग्यल्-म्छन्
			ब्लो-ग्रोस्-तंन्-प
१२८०-८८	(स-स्क्य) धर्मपालरक्षित		(स्तग्) शाक्य-ब्सङ्-पो (जन्म १२६२)
			(म्रि-जग्) लो-च़-व (मृत्यु १२८२)
१२५०-१२६४	(ब्रु-स्तोन्) रिन्-छेन्-ग्रुब्	कीर्तिचंद्र	(सेल्-द्कर्) ब्यङ्-छुब्-. चें-मो-ब्लो-ब्तंन्-द्पोन्-पो (१२०३-८०)
		धर्मश्रीभद्र (?)	(जो-नङ्) शेर्-र्ग्यन् (मृत्यु १२६१)
		धर्मधर	छोस्-जें-द्पर्

समय	आश्रयदाता या प्रधान व्यक्ति	भारतीय पंडित	लो-चे-व (दुभाषिया) या प्रधान धार्मिक नेता
		माणिकश्री	(स्पङ्स्) ब्लो-ग्रोस्-ब्र्तन्-प
			(स्प्यल्) छोक्-क्यि-ब्सङ्-पो
			(छु-स्तेन्) रिन्-छेन्-ग्रुब्
	चोङ्-ख-प-युग (१३७६-१६६४)		
१३५७-१४१९	(चोङ्-ख-प) ब्लो-ब्सङ्-ग्रग्स्-प	वनरत्न (१३८४-१४६८)	(ङोर्) यिद्-ब्सङ्-चे (जन्म १३९२)
			ग्झोन्-नु-द्पल्
			(स्तग्) शेस्-रब्-रिन्-छेन- (जन्म १४०५)
			शेस्-रब्-र्ग्यल् (जन्म १४२३)
१५२७-७६	(श्-लु) धर्मपालभद्र		(श्-लु) रिन्-छेन्-ब्सङ् (१४८९-१५६३)
			रिन्-छेन्-बक-शिस्-द्पल्-ब्सङ्- (१५७३)
			(स्तग्-लुङ्) कुन्-ख्क (१५५५)
१५७५ जन्म	(र्ग्यल्-खम्स्) कुन्-द्गऽ-स्ञिङ्-पो (लामा तारानाथ)	कृष्णभट्ट	तारानाथ
१६१७-८२	(दलाईलामा) ब्लो-ब्सङ्-र्ग्य-म्छो [1]	बलभद्र (कुरुक्षेत्र)	फुन्-छोग्-ल्हुन्-ग्रुब् (१६६४)
		गोकुलनाथमिश्र	
		कृष्ण (कुरुक्षेत्र)	
		गौतमभारती	
		ओंकारभारती	
		उत्तमगिरि	

---

६ तिब्बत में भारतीय ग्रंथों के कुछ प्रधान अनुवादक, उनके सहायक और ग्रंथ

काल	अनुवादक	सहायक, या सम-सामयिक	अनुवादित ग्रंथ	ग्रंथकर्ता
		शांतरक्षित-युग (८२३-१०४२)		
७७५	शांतरक्षित	धर्मालोक	हेतुचक्र	दिङ्-नाग
७७५	पद्मसंभव	वैरोचन	वज्रमंत्रसंग्रह	
		द्पल्-ग्यि-सेङ्-गे	डाकिनीजिह्वाजालतंत्र	
	विमलमित्र	(वन्-दे) ज्ञानकुमार	वज्रसत्वमायाजालगुह्य-सर्वादर्शतंत्र	
		नम्-मूखऽ-स्क्योङ्	सप्तशतिका प्रज्ञा-पारमिता-टीका	कमलशील
		रिन्-छेन्-स्दे	प्रज्ञापारमिताहृदयटीका	विमलमित्र
	सुरेंद्राकरप्रभ (ली-वासी)	नम्-मूखऽ-स्क्योङ्	प्रतीत्यसमुत्पाद-व्याख्या	वसुबंधु
		शील धर्म (ली) ?		
	ज्ञानगर्भ	नम्-मूखऽ-स्क्योङ्	संबंध-परीक्षा	धर्मकीर्ति
८१४	जिनमित्र	सुरेंद्रबोधि	शतसाहस्रिकाप्रज्ञा-पारमिता	
		प्रज्ञावर्म	दशसाहस्रिकाप्रज्ञा-पारमिता	
		दानशील		
		मुनिवर्म	तथागताऽचिंत्यगुह्यनिर्देश	
		लोकेंद्रबोधि		

काल	अनुवादक	सहायक या सम सामयिक	अनुवादित ग्रंथ	ग्रंथकर्ता
		ज्ञानगर्भ		
		शाक्यप्रभ		
		शाक्यसेन		
		धर्मपाल	ब्रह्मविशेषचिंता-परिपृच्छा-सूत्र	
		ज्ञानसिद्ध		
		मंजुश्रीवर्म		
		रत्नेंद्रशील		
		ये-शेस्-स्दे	युक्तिषष्ठिका-वृत्ति	चंद्रकीर्ति
		”	न्याय-बिंदु-टीका	विनीतदेव
		देवेंद्ररक्षित (लोचव)	सिद्धसार (वैद्यक)	
		(क-व) द्पल्-ब्र्चेग्स्	अभिधर्मकोश	वसुबंधु
		जयरक्षित		
		देवचंद्र	त्रिधर्मकसूत्र	
		रत्नरक्षित	महाव्युत्पत्ति (८७४)	
८१४	(शङ्) ये-शेस्-स्दे	जिनमित्र	अभिधर्मसमुच्चय	असंग
		सुरेंद्रबोधि	गयशीर्ष-सूत्र-व्याख्या	वसुबंधु
		शीलेंद्रबोधि	मध्यमकालंकार-पंजिका	कमलशील
			महायानसंग्रह	असंग
		प्रज्ञावर्म	मध्यमकालंकार	शांतरक्षित
		दानशील	शिक्षासमुच्चय	शांतिदेव
		मुनिवर्म	श्रामणेरकारिका	नागार्जुन
		मंजुश्रीगर्भ (० वर्म)	दशभूमिक-व्याख्यान	वसुबंधु
		विजयशील	धर्मसंगीति-सूत्र	
		ज्ञानसिद्धि	बोधिदिङ्निर्देश	
८००	धर्मताशील (लो-च-व)	शाक्यसेन	अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता	
		देवेंद्ररक्षित (लो०		

काल	अनुवादक	सहायक, या सम सामयिक	अनुवादित ग्रंथ	ग्रंथकर्ता
		शाक्यप्रभ	ब्रह्मविशेषचितपरिपृच्छा	
		धर्मपाल		
		जिनमित्र		
		सुरेंद्रबोधि	सर्वधर्मसमता-विपंचित-समाधिराज-सूत्र	
		शीलेंद्रबोधि		
	(ल्ह-गड्) स्पङ्-स्पो	नँम्-पर्-मि-तोग्-प	समाधि-प्रतिकूल	(चीनीभाषा से)
	(ख-व) द्पल्-ब्र्चेग्स्	विद्याकरसिंह (० सिद्ध)	संचयगाथापंजिका	बुद्धश्रीज्ञान
		शाक्यसिंह	सूत्रालंकार	मैत्रेयनाथ
		”	सूत्रालंकार-भाष्य	असंग
		विद्याकरप्रभ	मध्यमकनयसारसमासप्रकरण	विद्याकरप्रभ
		विशुद्धसिंह	अभिधर्मकोश-टीका (स्फुटार्था)	यशोमित्र
		जिनमित्र	अभिधर्मकोश-भाष्य	वसुबंधु
		दानशील	बुद्धाऽनुस्मृति-टीका	वसुबंधु
		प्रज्ञावर्मा	हेतुबिंदु	धर्मकीर्ति
		ज्ञानगर्भ	भद्रचर्याप्रणिधान-टीका	अलंकारभद्र
		सर्वज्ञदेव	स्खलितप्रमर्दन	आर्यदेव
		”	बोधिचर्यावतार	शांतिदेव।
		धर्माकर	विनयप्रश्न-कारिका	कल्याणमित्र
		शीलेंद्रबोधि	महावैरोचनाऽभिसंबोधि-सूत्र	
		प्रज्ञाकरवर्मा	हेतुबिंदु-टीका	विनीतदेव
		विद्याप्रभाकर (?)		
		शुद्धसिंह	रत्नचंद्रपरिपृच्छा	
		द्पल्-ग्यि-ल्हुन्-पो	द्रुमकिन्नरराजपरिपृच्छा	
		ये-शेस्-स्निङ्-पो	रत्नजालिपरिपृच्छा	
		थ्मङ्-स्क्योङ्	सूर्यगर्भमहावैपुल्य-सूत्र	
		द्पल्-द्ब्यङ्-स्*	भद्रकल्पिक-सूत्र	
		रिन्-छेन्-म्छोग्*	उदानवर्ग	
	(चोग्-रो) क्लुइ-र्ग्यल्-म्छन्	विशुद्धसिंह		
		ज्ञानगर्भ	मूलमध्यमक-कारिका	नागार्जुन
		० गर्भ		बुद्धपालित

काल	अनुवादक	सहायक, या समसामयिक	अनुवादित ग्रंथ	ग्रंथकर्ता
		सर्वज्ञदेव (कश्मीरी)	,,	भव्य (भावविवेक)
		जिनमित्र (मूल सर्वास्तिवादी)	प्रातिमोक्ष-सूत्र-टीका	
		,,	विनयविभंग-टीका	विनीतदेव
		,,	विनय-सूत्र-टीका	धर्ममित्र
		(चॅङ्स्) देवेंद्ररक्षित		
		दीपंकर-युग (१०४२-११०२)		
९५८-१०५४	रिन्-छेन-ब्सङ्-पो	सुभाषित	अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता	
		दीपंकरश्रीज्ञान	त्रिशरणसप्ततिका	चंद्रकीर्ति
		कमलगुप्त	विमलप्रश्नोत्तररत्नमाला	अमोघवर्ष (राजा)
		धर्मश्रीभद्र	ध्यान-षड्-धर्म-व्यवस्थान-वृत्ति	दानशील
		पद्माकरश्रीज्ञान	अभिधानोत्तर-तंत्र	
		श्रद्धाकरवर्मा	हस्तवालप्रकरण	आर्यदेव
		पद्माकरवर्मा	परमार्थ बोधि चित्तभावना	अश्वघोष
		शुभशांति	अभिसमयालंकारालोक	हरिभद्र
		जनार्दन	अष्टांगहृदय-संहिता	नागार्जुन
		गंगाधर	सप्तगुणपरिवर्णनकथा	वसुबंधु
		बुद्धभद्र	चतुर्विपर्ययकथा	मति-चित्र (मातृचेट)
		बुद्धश्रीशांति	अश्वायुर्वेद	शालिहोत्र
		छुल्-खिम्स्-योन-तन्, ब्लो-ल्दन्-शेस्-रब्	सुमागधावदान	
९८२-१०५४	दीपंकरश्रीज्ञान	रिन्-छेन-ब्सङ्-पो	त्रिशरणसप्ततिका	चंद्रकीर्ति
		वृगे-वडि-ब्लो-ग्रोस्	[illegible]	[illegible]
		शाक्य-ब्लो-ग्रास्		,,

[ब]

काल	अनुवादक	सहायक या सम सामयिक	अनुवादित ग्रंथ	ग्रंथकर्ता
		ऽब्रोम्-स्तोन्	विमलरश्मिविशुद्धप्रभा-धारणी	
		(ग्यं) र्चोग्-ग्रुस्-लेड्-ब्रो	मध्यमकरत्नप्रदीप	भाव्य (भाव-विवेक)
		(नग्-छो) छुल्-खिम्स्-र्ग्यल्-व	मध्यमक-हृदय	,,
		,,	मध्यमक वृत्ति	,,
		ग्शोन्-नु-मछोग्		
		शेस्-रब्-ग्रग्स्		
	द्गे-वडि-ब्लो-ग्रोस्	बुद्धशांति		
		सुभूतिश्रीशांति		
		करुणा(ज्ञान)श्रीभद्र		
		श्री कुमार	बोधिसत्वचर्यावतार-संस्कार	कल्याणदेव
		दीपंकरश्रीज्ञान	अवलोकितेश्वर-परिपृच्छा-सप्तधर्मक	
१०२७	सोमनाथ	शेस्-रब्-ग्रग्स्	कालचक्रतंत्र	
१०७४ मृत्यु	(ऽब्रोग्-मि) शाक्य-ये-शेस्	गयाधर	संपुटीतंत्र	
		अमोघवज्र		
		प्रज्ञागुह्य		
	गयाधर	(ग्यि-जो) स्-वड्-ऽोद्-सेर् ल	बुद्धकपालयोगिनी-तंत्र	
		(ऽगोस्-खुग्-प) ल्ह-ब्चस्	वज्रडाकतंत्र	
		(ऽब्रोग्-मि) शाक्य-ये-शेस्	हेवज्रतंत्रराज	
	शि-व ऽोद्	सुमनश्रीज्ञान		

परमा

काल	अनुवादक	सहायक, या सम-सामयिक	अनुवादित ग्रंथ	ग्रंथकर्ता
११०९ मृत्यु	(डोंग्) ग्लो-ल्दन-शेस्-रब्	अमरगोमी	अभिसमयालंकारवृत्ति	प्रज्ञाकरमति
		दीपंकरश्रीज्ञान	अभिसमयालंकारालोक[1]	हरिभद्र
		मनोरथ	अपोहसिद्धि	शंकरानंद (ब्राह्मण)
		कुमारश्रीभद्र		
		तिलकलश	भद्रचर्याप्रणिधानव्याख्या	नागार्जुन
		सुमतिकीर्ति	बोधिचित्तोत्पादसमादानविधि	जेतारि
		अतुलदास	त्रिसंवरक्रम	(अनाविलवज्र)
		शांतिभद्र		
		महाजन (कश्मीरी)	धर्मधर्मताविभंगवृत्ति	वसुबंधु
		सज्जन	महायानोत्तरतंत्रव्याख्या	असंग
		मंजुश्रीवर्म	अमोघपाशषट्पारमिताधारणी	
		भव्यराज	अपोहप्रकरण	धर्मोत्तर
		परहितभद्र	न्यायबिंदु	धर्मकीर्ति
		,,	प्रमाणविनिश्चय	,,
१०५५ जन्म	(प-छब्) नि-म-ग्रग्स्	पुण्यसंभव	अपरिमितायुर्ज्ञानहृदयधारणी	
		मुदितश्री	युक्तिषष्टिकाकारिका	नागार्जुन
		सूक्ष्मज्ञान	चतुःशतकशास्त्र	आर्यदेव
		तिलकलश	मध्यमकावतार-भाष्य	चंद्रकीर्ति
		कनकवर्म	अभिधर्मकोशटीका (लक्षणानुसारिणी)	(पूर्णवर्द्धन)
		हसुमति	मूलमध्यमकवृत्ति (प्रसन्नपदा)	चंद्रकीर्ति
				अश्वघोष

काल	अनुवादक	सहायक, या सम-सामयिक	अनुवादित ग्रंथ	ग्रंथकर्ता
	(ऽब्रो-मेड्-द्कर्) शाक्य-ऽद	शांतिभद्र (नेपाली)	विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि	रत्नाकरशांति
		कुमारकलश	मध्यमकालंकारवृत्ति	,,
		चंद्रकुमार	महायानविंशिका	नागार्जुन
		रुद्र	सुभाषितरत्नकरंड	(महाकवि) हर्ष
		अनंतश्री (नेपाली)	कार्यकारणभावसिद्धि	ज्ञानश्रीमित्र
		छोस्-क्यि-शेस्-रब्		
		(मर्-प-) छोस्-क्यि-द्बङ्-प्युग्		

स-स्क्य-युग (११०२-१३७६)

काल	अनुवादक	सहायक, या सम-सामयिक	अनुवादित ग्रंथ	ग्रंथकर्ता
११०६-२०	छुल्-ख्रिमस्-ऽब्युङ्-ग्नस्	अलंकदेव	विनयसूत्रव्याख्या	प्रज्ञाकर
		,,	जातकमाला	हरिभद्र
११८२-१२१०	(यर्-लुङ्-प) ग्रग्स्-प-र्ग्यल्-म्छन्	धर्मधर	प्रतिमामानलक्षण	आत्रेय
		कीर्तिचंद्र	लोकानंदनाटक	चंद्रगोमी
		,,	अमरकोष	अमरसिंह
		,,	,, टीका (कामधेनु)	सुभूतिचंद्र
११७३ जन्म	(ख्रो-फु) ब्यम्स्-पऽि-द्पल्	जगन्मित्रानंद (मित्र-योगी)	चतुरंगधर्मचर्या	जगन्मित्रानंद
		शाक्यश्रीभद्र	महायानोपदेशगाथा	शाक्यश्रीभद्र
११२२-१२२५	शाक्यश्रीभद्र	(ख्रो-फु-) ब्यम्स्-पऽि-द्पल्	सहांगधर्मचर्यावतार	शाक्यश्रीभद्र
		द्भ्र-ब्चोम्	बोधिचित्तसंवरग्रहण-विधि	अभयाकर
		कुन्-द्गऽ-र्ग्यल्-म्छन्	प्रमाणवार्तिक-कारिका	धर्मकीर्ति
	(सग्-स्तोन) र्दो-र्जे-	लक्ष्मीकर		श्रीहर्षदेव

काल	अनुवादक	सहायक, या सम-सामयिक	अनुवादित ग्रंथ	ग्रंथकर्ता
		लक्ष्मीकर	-कल्पलता	-कवि
		”	काव्यादर्श	दंडी
१२९०-१३६४	(बु-स्तोन्) रिन्-छेन्-ग्रुब्		(कलाप) धातुकाय	दुर्गसिंह
			स्याद्यंतप्रक्रिया	हर्षकीर्ति
		सुमनश्री	नवश्लोकी	कंबल
		”	ऊर्ध्वजटाऽनुत्तरतंत्र[1]	
१३०१-८०	थङ्-छुब्-चे-मो (ब्लोर्तन्-ड्पोन्-पा)	सुमनश्री (कश्मीरी)	मेघदूत	कालिदास
			अभिधर्मसमुच्चयटीका	

चोङ्-ख-प-युग (१३७६-१६६४)

काल	अनुवादक	सहायक, या सम-सामयिक	अनुवादित ग्रंथ	ग्रंथकर्ता
१३८४-१४६८	वनरत्न	(ऽगोस्) यिद्-वसुद्-चे-ग्शोन्-नु-द्पेल् (जन्म १३९२)		
		(स्नग्) शेस्-रब्-रिन्-छेन् (जन्म १४०५)		
		शेस्-रब्-ग्र्यल् (जन्म १४२२)		
	(श-लु) धर्मपालभद्र जन्म १५२७		अभिधर्मकोशटीका	स्थिरमति
			कालचक्रगणित	
			ईश्वरकर्तृत्वनिराकृति	नागार्जुन
			मंजुश्रीशब्दलक्षण	भव्यकीर्ति
			” वृत्ति	देव (कलिंगराज)
	(ग्र्यल्-खम्स्-प) कुन्-द्गऽ-स्ञिङ्-पो (तारानाथ) जन्म १५७५	कृष्णभट्ट (कुरुक्षेत्र)	सारस्वतव्याकरण	अनुभूतिस्वरूपाचार्य

अंतिम युग (१६६४-····)

काल	अनुवादक	सहायक, या सम-सामयिक	अनुवादित ग्रंथ	ग्रंथकर्ता
१६६५	फुन्-छोग्-ल्हुन्-ग्रुब्[1]	गोकुलनाथमिश्र (कुरुक्षेत्र)	प्रक्रियाकौमुदी (१६५८)	रामचंद्र
		बलभद्र	सारस्वतव्याकरण (१६६५)	अनुभूति-स्वरूपाचार्य
		गौतमभारती ओंकारभारती उत्तमगिरि	आयुर्वेदसारसमुच्चय (१६६४)	

---

[1] यह सूची पूर्ण नहीं है। इसमें सिर्फ समकालीन अनुवादकों को दिखलाने का प्रयत्न किया गया है तेरहवें दलाई लामा मुनि का देहांत अभी १८ दिसंबर १९३३ (अगहन की) को ल्हासा में हुआ

चित्रकार "कवि" मोलाराम की चित्रकला और कविता[1]

[लेखक—श्रीयुत मुकंदीलाल, बी० ए० (ऑक्सन), बैरिस्टर-एट्-ला]

[१०]

गढ़वाल के राजवंश का इतिहास

जब मोलाराम ने गोरखा गवर्नर हस्तिदल चौतरिया व उस के दरबारियों को गढ़वाल के राजवंश की उत्पत्ति और उस के ५२ राजाओं के नाम गिना दिए, तब उन्हों ने मोलाराम से कहा—अब प्रत्येक राजा के विषय में विस्तार-पूर्वक कहो कि उन्हों ने किस तरह शासन किया, प्रजा के साथ उन का व्यवहार कैसा रहा, और

क्योंकर भ्रष्ट राज यह भयो ।
सब पंचन हूं मिलि कह्यो ॥
तब इह बावन पुस्त सौ, कीनी कथा बखान ।
एक एक करि कहत हूं, सुनो पंच प्रधान ॥

[११]

श्यामशाह

मोलाराम के दिए वृत्तांत से प्रतीत होता है कि श्यामशाह एक विलक्षण पुरुष थे । वह कामी थे, शाक्त थे, देवी व मदिरा के भक्त थे । प्रायः कई

---

[1] अक्तूबर १९३३ की 'हिंदुस्तानी' के पृष्ठ ४२१ से संबद्ध ।

जाति की स्त्रियों (गनिका, तेलन और तुरकन आदि) को उन्हों ने खुल्लम खुल्ला अपने पास रक्खा वे अपने व्यक्तिगत सामाजिक व्यवहार में लोकमत की परवाह नहीं करते थे। जो काम करते थे प्रकट-रूप में करते थे। या तो उस समय ऐसा व्यवहार राजाओं के लिए असंगत नहीं था, या श्यामशाह सामाजिक मामलों में लोकमत की परवाह नहीं करते थे। श्यामशाह बड़े शूर, वीर, दानी, धार्मिक, देवी-भक्त, विद्वान् और राजनीतिज्ञों के गुण-ग्राहक थे। गंधर्व-विद्या में भी यह निपुण थे।

मोलाराम के शब्दों में नृपति श्यामशाह का चरित्र इस प्रकार वर्णित है :—

श्यामशाह नृप स्वामी भये।
प्रकट माह अति कामी रहे ॥
सुंदर सूर माह अत दाता।
देस देस महि उनको ख्याता ॥
गुन ग्राहक गुनिजनि को माने।
राग रागनी सब पहिचानै ॥
मगन मस्त निसि बासर रहे।
मधुर वचन सब ही को कहै ॥
संध्या पूजा अत जन भावै।
नाना विधि सों हवन करावे ॥
मदिरा मांस बहुबिंजन नाना।
पूजन सक्ति करैं मधु पाना ॥
वीर चक्र नित पूजन करै।
मन थथि ध्यान एकाग्र करै ॥
बलिदान महिषासुर मारे।
अज मीन बहु आन सिहारे ॥
चौसठ कन्या वीर जिमावै।
भोजन त्रिपत सभी को करावै ॥

वस्तर भूषण शुभ पहिराई।
कन्या पूज अत मन लाई॥
सब को देहि दक्षिणा नित ही।
परजा सो राखैं अनहित नहीं॥
देश विदेस के जो नर आवें।
जो मांगे त्योही वही पावें॥
गुनिजन रहे सभी तहँ राजी।
पावें कविजन कुंजर बाजी॥
वस्त्र सस्त्र भूषण पहिराई।
दर्वें दान देय करै बिदाई॥
जैसो गुनि वैसो हि पावैं।
सहस्र लक्ष परर्जत दिलावैं॥
रीझ खीज ममता दोइ राखे।
बिन बिवेक मुख बचन न भाखे॥
जथा अपराध दंड हि देवै।
जथा काल अबोध हि लेवै॥
निसि दिन रहे बोध के माही।
बिना बोध कछु करै जो नाही॥

श्यामशाह के जिन महान गुणों का विवरण मोलाराम ने किया है, उन से राजा की गुण-ग्राहकता, न्याय-परायणता, भक्ति और उदारता का परिचय होता है। उस के साथ ही उक्त पदों में तत्कालीन सामाजिक जीवन का भी पता लगता है। वास्तव में उक्त पदों को उद्धृत करने का मुख्य उद्देश्य हमारा राजा की धार्मिक, नैतिक और तत्कालीन सामाजिक स्थिति दर्शाने का था।

अब मोलाराम के शब्दों में राजा श्यामशाह के जीवन के दूसरे पहलू पर दृष्टि डाली जायगी।

इतिहास के लिखनेवाले, ऐतिहासिक पात्र व घटनाओं को यथातथ्य दर्शा कर मानव-समाज का कल्याण करते हैं। मनुष्य की कमजोरियों से समाज

की स्थिति का पता लगता है।

इतिहास लिखनेवाले को यह दोष देना अनुचित है कि उन्होंने उन बातों व घटनाओं को क्यों लिखा जो आज बुरी या छिपाने लायक समझी जायँ।

मोलाराम ने नृपति श्यामशाह को वामी और कामी कहा है। वामी वाम-मार्ग वाले शाक्त लोगों को कहते है। जो मद्य-पान व मांसाहार, देवीपूजन का एक अंग समझते हैं। कामी शब्द स्पष्ट है। श्यामशाह के वामी होने के सबूत में मोलाराम के पद ऊपर दिए गए है। श्यामशाह के कामी होने के सबूत में मोलाराम लिखते हैं—

महामस्त बनितारस भोगी।
महासिद्ध जोगिन मह जोगी॥
भामनी भौन सुंदर बहुतेरी।
बाहर एकसौ एक हि चेरी॥
गनिका कहि भोग को राखी।
जमनी कही भोग महि थाकी॥
... ...
... ...
तेलन अत सुंदर तुरकानी।
ताके संग भये अत गलतानी॥
तेली वह बाजार रहावै।
दिन ही दुफैर उठि तहां जावै॥
नंगे सिर हाथी पे चढ़े।
प्याला पिवे केश हि बिखड़े॥
आग अगीठी राखी तंही।
भूनत कबाब फिरै संग मही॥
भर बाजार फिरै दिन माही।
राखे लाज सरम कछु नाहीं॥
मारग में जो जावे तिन कौं।
करे निहाल ताहि छिन छन कौं॥

राग रंग नृत सग माहि आवे।
अब तेलन के मद्द्र जावे॥
घर महि आय स्नान नित करे।
संध्या पूजा ध्यान हि धरे॥
पुनि मजलस महि बैठे जाई।
न्याय करे सब ही का आई॥
... ...
... .
या विद बहु चिर राज हि कीन्यो।
पूर्ण चंद्र सम सब ने चीन्यो॥

मोलाराम श्यामशाह को स्यामसाह लिखते हैं। मोलाराम के अनुसार श्यामशाह भौनपाल से ५२ वाँ राजा था। और मोलाराम के अनुसार श्यामशाह तक गढ़वाल का राज-वंश अपनी ख्याति और प्रभुत्व की पराकाष्ठा पर रहा। "पाछे होन लगी गढ़ हानि।" और उक्त कवि के कथनानुसार "पूर्ण भई जोगेस्वर बानि", क्योंकि भौनपाल की माता ने भूखे जोगी जी को ५२ रोटी खाने को दी थी। इस से महात्मा जी का पेट नहीं भरा। इसी लिए "जोगेस्वर" ने भौनपाल को केवल "बावन पुस्त राज वर दिन्यो।"

इतिहास में श्यामशाह का स्थान

[१२]

गढ़वाल के राजवंश की वंशावलियाँ

गढ़वाल के राजवंश की पाँच वंशावलियाँ अब तक हम ने देखी हैं। सब से पुरानी वंशावली[1] कैप्टन हार्डिक के कथनानुसार उन को राजा प्रद्युम्न शाह[2] ने बहुत आग्रह करने पर अप्रैल सन् १७९६ में दी थी। इस वंशावली

---

[1] कैप्टन हार्डिक, 'नैरेटिव अव् ए जर्नी टु सिरीनगर', जर्नल अव् दि रायल एशियाटिक सोसाइटी, जिल्द ६, पृ० ३३८।

[2] Purdoo Maan Saa.

के अनुसार अनयपाल से प्रद्युम्नशाह ६१ व राजा थे किंतु अजयपाल से पहले ९०० वर्ष, और तब तक कुल ३७७४ वर्ष गढ़वाल राजवंश को राज्य करते हो चुके थे किंतु इस संपूर्ण सूची में राजाओं के नाम केवल पहिले चार और अंतिम सात मालूम होते हैं। बाक़ी नाम जो हार्डिक को बताए गए या दिए गए ब्राह्मण मंत्रियों के नाम प्रतीत होते हैं।

इस वंशावली मे श्यामशाह जो एक बड़े विख्यात राजा हुए हैं, उन का नाम नहीं है। दूसरी वंशावली वह है जिस को गढ़वाल का वर्तमान राजवंश मानता है और जो टेहरी दरबार से मि० बेकेट को दी गई मालूम होती है। इस को बेकेट 'लिस्ट' कहते हैं। इस में राजा श्यामशाह ४५ वीं पीढ़ी में बताए गए हैं, और उन का समय दिया गया है सन् १४९६ से १५२७ तक। अर्थात् ९ वर्ष राज्य कर के श्यामशाह का ३१ वर्ष की अवस्था में स्वर्गवास हो गया।

तीसरी सूची जो गढ़वाल राज की वंशावली की है, वह ऋषिकेष मे पुरोहितों की पोथी में पाई जाती है। इस के अनुसार भी श्यामशाह ४५ वे राजा हैं। चौथी वंशावली विलियम्स साहब ने अपने "मेम्वायर्स अव् देहरा-दून" में दी। इस में श्यामशाह को ३३ वाँ राजा बताया है। पाँचवीं सूची गढ़वाल राजवंश की ऐटकिन्सन साहब को अल्मोड़े में प्राप्त हुई। इस में श्यामशाह के पिता मानशाह को ५२ वाँ राजा और श्यामशाह को ५३ वाँ राजा बताया है। और प्रद्युम्नशाह को ६२ वाँ राजा माना है।

मोलाराम की सत्यता और ऐतिहासिक धारणा अल्मोड़े वाली वंशावली से साबित होती है। एक तो वह गिनती में क़रीब क़रीब ठीक ही है। सिर्फ़ एक का फ़रक है। दूसरे जो सब से बड़ी बात है, वह यह है कि श्यामशाह का पुत्र दुलाराम शाह था। गढ़वाल के गजेटियर और ऐटकिन्सन के अनुसार दुलाराम शाह बड़ा शूर-वीर था। और उस ने अल्मोड़ा (कुमाऊँ) के राजा से कई बार युद्ध किया। ऐसे राजा का नाम सिवा मोलाराम व अल्मोड़े वाली सूची के और सूचियों में न मिलना बड़े आश्चर्य की बात है, इस पर हम टीका आगे चल कर करेंगे।

[१३]

दुलाराम शाह

दुलाराम शाह का एक दानपत्र है, जिस का समय सन् १५८० ई० है। और मोलाराम की तरह ऐटकिन्सन[1] और गढ़वाल गजेटियर[2] भी, दुलाराम शाह का पुत्र, महीपत शाह को बताते हैं। किंतु बेकेट, टेहरी दरबार, तथा विलियम्स की दी हुई वंशावली में श्यामशाह के बाद महीपत शाह का नाम दिया है। उस में दुलाराम शाह का नाम नहीं है। टेहरी दरबार की वंशावली में महीपत शाह का समय सन् १४८७ से १५५२ ई० दिया है। किंतु यह टेहरी दरबार वाला समय और वहाँ की नामावली दुलाराम शाह के विषय में ग़लत है। कुमाऊँ के राजाओं के इतिहास और ऐटकिन्सन तथा गजेटियर के अनुसार दुलाराम शाह कुमाऊँ के राजा रुद्रचंद्र के समकालीन थे। रुद्रचंद्र का समय सन् १५६५-१५८१ ई० है। रुद्रचंद्र ने गढ़वाल के परगना बधाण, को जो अल्मोड़े (कुमाऊँ) जिले से मिला है, अपने राज्य में मिलाना चाहा। दुलाराम शाह ने रुद्रचंद्र से कई बार घोर युद्ध किया और अपने राज्य की सीमा से रुद्रचंद्र को हटा दिया और बधाण गढ़ पर अधिकार नहीं करने दिया[3]।

मोलाराम के शब्दों मे दुलाराम शाह का व्यक्तिगत चरित्र इस प्रकार है—

स्याम साह जू के भये, दुलोराम ही साह।
अब तिनको हौं कहत हूं, दुजी सुनो कथा॥
दुलोराम शा राजा भये।
स्यामसाह जब स्वर्ग ही गये॥
दुलोराम साह राजहि बैठे।
मंत्रि मित्र हि जो रहे इकठे॥

---

[1] ऐटकिन्सन, 'हिमालयन डिस्ट्रिक्टस अव् दि नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज़, अव् इंडिया', जिल्द २, पृ० ५२७।

[2] 'गढ़वाल डिस्ट्रिक्ट गज़ेटियर', पृ० ११५ (१९१० संस्करण)।

[3] ऐटकिन्सन, जिल्द २, पृ० ५५३।

करि स्नान प्रात कृत सबही।
पूजा हवन करत है तबही ॥
मध्यम पूजा मध्यम ध्यानहि।
मध्यम जप अरु मध्यम हवन हि ॥
बली छाग इक कन्या पांच ही।
कहै कछु झूठ कछु भाषै सांच ही ॥
राग रंग अलि हीं मन भावै।
कथा वारता नाहिं सुहावैं ॥
मध्यम मन पून्य कछु करै।
सैल शिकार में बहु फिरै ॥
नाना वस्त्र सस्त्र हु धारै।
बांक पटाव हु खेल निहारै ॥
तीर तुपक नित आप चलावै।
वन सौं मारि मृग बहु लावै ॥
भोजन नाना खाय खुलावत।
करै जो उपमा सो मन भावत ॥
फजर स्याम मजलस ही करै।
कबहुं जल महि तिरतो फिरै ॥
कबहुं कबूतर बाज उड़ावे।
तीतर काग चकोर मरावे ॥
रस शृँगार लगै बहु नीको।
चित वैरागहिं मानत फीको ॥
जस बात वणे नी मन भावै।
मान मति बहुत रुण लगावै ॥
राजकाज सब मंत्रिन को दीनो।
मन आई सो आपहि कीन्यो ॥
अधिम कीने काज सब, अधिम कीन्यो राज।
देहांत जब भई, रहतो सब कूत साज ॥

चल्यो कहीं संग को दूत दीन्यो।
जस अपजस जो कुछ कर लीनो ॥
हाथी घोरा इते रहाये।
संग महि कोय न तिनके आये ॥

दुलाराम शाह के विषय में मोलाराम का कथन अधिक माननीय है ऐटकिन्सन और गढ़वाल गजेटियर में जो ऐतिहासिक उल्लेख हैं उन की सामग्री ऐटकिन्सन को अल्मोड़ में मिली। उस को उस ने राजाओं के दानपत्र व ताम्रपत्रों से मिलाया। उसी के आधार पर ऐटकिन्सन ने गढ़वाल के राजाओं के विषय में लिखा है। किंतु मोलाराम गढ़वाल के राज-दरबार में एक प्रमुख दरबारी और कर्मचारी थे। वे कवि थे, चित्रकार थे, दार्शनिक थे। बड़े धर्म-परायण और अपने समय के बड़े विद्वान थे। गढ़वाल के राजाओं के विषय में उन्हों ने स्वयं जो देखा व सुना उसी को अपने काव्य में संकलित कर गोरखा गवर्नर हस्तिदल चौतरिया को कह सुनाया।

इस समय मोलाराम का अभिप्राय, जैसा कि बहुधा कवियों का होता है, अपने आश्रयदाता राजा व दरबार की प्रशंसा करना नहीं था। वे प्रसंग-वश, गोरखा शासन-कर्ताओं के पूछने पर; गढ़वाल के राजाओं की कथाएं अथवा जीवन-चरित्र कहते हैं। और हमारी धारणा है कि जिस बात को मोलाराम सची व विश्वसनीय समझते थे उसे ही उन्हों ने अपने काव्य मे लिखा है। यदि मोलाराम को मनगढ़ंत व दंतकथा के आधार पर कुछ लिखना होता तो श्यामशाह के पूर्वज जो कई बड़े बड़े शूरवीर राजा, विशेष कर गढ़ विजय करने वाले, ५२ गढ़वाली गढ़पतियों को पराजय कर के अखिल गढ़वाल राज्य की स्थापना करने वाले अजयपाल (सन् १३५८-१६७० ई०) या शाहंशाह बहादुर खां लोदी से अपनी बहादुरी और अतिथि-सत्कार के कारण सन् १४८३ ई० "शाह" की पदवी पानेवाले बहादुर शाह के चरित्र व पराक्रम पर क्यों नहीं लिखते ? उन के विषय में मोलाराम ने कुछ नहीं लिखा क्योंकि उन के विषय में उन्हों ने विश्वसनीय स्रोत से नहीं सुना। दुलाराम शाह के विषय मे जो कुछ कवि मोलाराम जानते थे वह उन्हों ने कह सुनाया। मोलाराम के

काव्य के अनुसार दुलाराम शाह ने कुमाऊँ के राजा के साथ युद्ध नहीं किया। संभव है वे दुलाराम के समय में कुमाऊँ के राजा रुद्रचंद्र ने शिकारी राजा दुलाराम की अकर्मण्यता व लापरवाही तथा कमज़ोरी को देख बधाण के कुछ हिस्से पर अधिकार कर लिया हो।

मोलाराम के अनुसार कुमाऊँ से जो लड़ाई गढ़वाली लड़े और जो पराजय व ख्याति रण क्षेत्र में गढ़वाली सिपाहियों ने प्राप्त की वह राजा दुलाराम के पुत्र राजा महीपत शाह के समय में की।

दुलाराम निरुत्साही, पूजा पाठ करने वाले, कुसंगति में रहने वाले, आखेट के शौकीन, खेल-तमाशे देखने वाले राजा थे। मालूम होता है कि टेहरी दरबार वाली वंशावली जिस के आधार पर बेकेट और विलियम्स की गढ़वाल के राजाओं की सूची बनी है उस में दुलाराम शाह का उल्लेख इस लिए नहीं किया गया कि दुलाराम शाह ने गढ़वाल राज्य की कीर्ति नहीं बढ़ाई। न उस की सीमा की रक्षा ही की। शायद बहुत थोड़े समय तक उन्हों ने राज्य किया हो। इसी लिए टेहरी दरबार ने दुलाराम शाह का नाम वंशावली में नहीं दिया। किंतु मोलाराम सच्चे इतिहास लिखने वाले थे। इतिहासकार का काम केवल पराक्रमी राजाओं की कीर्ति चिरस्थायी करना नहीं वरन् समय के चरित-नायकों की चरितावली देते हुए उस समय के सामाजिक जीवन का चित्र खींचना है, जिस में भावी संतान को पता लगे कि उन के पूर्वज कैसे रहते थे, क्या करते थे, और क्या उन के कर्म व विचार थे।

इसी उद्देश्य से मोलाराम ने श्यामशाह व दुलाराम के जीवन के उस अंग के चित्र का भी हमे दिग्दर्शन कराया है जिस को शायद कुछ लोग कुत्सित या आदर्श जीवन के विपरीत समझें। मोलाराम दर्शन-शास्त्र या सदाचार पर पुस्तक नहीं लिख रहे थे, इस लिए उन्हों ने श्यामशाह या दुलाराम शाह के जीवन के उस अंग पर परदा नहीं डाला जिस को हम बुरा समझते हैं। अस्तु श्यामशाह व दुलाराम शाह पिता-पुत्र का जो वृत्तांत हम पाठकों के सामने मोलाराम के शब्दों मे रखते हैं, कल्पित प्रतीत नहीं होता, वरन् यथावत् सच्चा वृत्तांत है।

(क्रमशः)

मैथिली-साहित्य (१०९७-१४००)

[लेखक—श्रीयुत डाक्टर उमेश मिश्र, एम० ए०, डी० लिट्० (इलाहाबाद)]

इतिहास के आधार पर विचार करने से यह मालूम होता है कि भारत-वर्ष की साहित्यिक भाषा सब से पहले वैदिक भाषा थी। उस के बाद व्या-करण के नियमों से परिष्कृत किए जाने पर वैदि कभाषा मे संस्कृत भाषा का प्रादुर्भाव हुआ। अनेक कठिन नियमों से बाँधे जाने के कारण यह संस्कृत भाषा सर्वसाधारण की भाषा न हो सकी। बहुत ही थोड़े पढ़े-लिखे विद्वान् लोगों ने इसे अपनाया। इन्हीं कठिनाइयों के कारण यह भी मालूम होता है कि संस्कृत भाषा विद्वानों के भी बोलचाल की भाषा कदापि न रही होगी। इस का प्रयोग केवल लिखने और पढ़ने में किया जाता रहा होगा। इसी लिए विद्वानों का कहना है कि वैदिक काल ही से एक प्रकार की बोलचाल की भाषा अवश्य रही, जिसे सर्वसाधारण अर्थात् प्राकृत लोग प्रयोग में लाते थे। इसी भाषा को बाद में लोग प्राकृत भाषा अर्थात् नीच भाषा या अपंडितों की भाषा कहने लगे। बौद्धकाल में इसी प्राकृत भाषा का रूपांतर पाली भाषा के नाम से प्रसिद्ध हुआ। तथा अभी तक किसी न किसी स्वरूप में यही प्राकृत भाषा भारत के प्रत्येक प्रांत में विद्यमान है।

प्राकृत भाषा के साधारण-रूप से छः भेद कहे गए हैं—महाराष्ट्री, (जिसे लोग केवल 'प्राकृत' भी कहते हैं), शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका-पैशाची, तथा अपभ्रंश। मार्कंडेय ने अपने 'प्राकृतसर्वस्व' में प्राकृत के प्रथम तीन विभाग किए हैं, जैसे—तद्भव, तत्सम तथा देश्य या देशी। इन में तद्भव के भाषा, विभाषा, अपभ्रंश और पैशाच ये चार प्रकार बतलाए हैं। इन में *भाषा* को पुनः महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राची, आवंती तथा मागधी में, *विभाषा* को शाकारी, चांडाली, शाबरी, आभीरिका, तथा टाकी में; *अपभ्रंश* को नागर,

व्राचड तथा उपनागर मे, और पेशाची को कैकयी, शौरसेन तथा पांचाल मे विभक्त किया है रुद्रट का कहना है कि प्रांतो के भेद के अनुसार अपभ्रंश के भी अनेक भेद हैं। जैसे—नागर, उपनागर, द्राविड़, टक्क, मालवी, पांचाली, कालिंदी, गुर्जरी, वैतालिकी, कांची, आभीरी, शावरी इत्यादि।

इन सब में पैशाची, महाराष्ट्री, शौरसेनी तथा मागधी विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में पैशाची, उस से पूर्व शौरसेनी तथा सब से पूर्व मागधी का तथा दक्षिण मे महाराष्ट्री का साम्राज्य कहा जाता है। ऐसा स्पष्ट विभाग करने पर भी यह देखा जाता है कि साक्षात् वा परंपरागत प्रत्येक भाषा का दूसरे से कुछ न कुछ संबंध रहता ही है।

संसार के साथ साथ सभी संसारी वस्तुएँ भी परिवर्तित होती ही रहती है। अतः प्राकृत भाषा मे भी परिवर्तन हुआ और वह परिवर्तित भाषा *अपभ्रंश* के नाम से प्रसिद्ध हुई। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि अपभ्रंश शब्द भाषा के अर्थ में बहुत पहले ही से प्रसिद्ध था किंतु बोलचाल के स्वरूप में विशेष-रूप से बहुत बाद को आरंभ हुआ। इसी अपभ्रंश भाषा से वर्तमान प्रांतीय भाषाओं की उत्पत्ति हुई है। अपभ्रंश भाषा के अनेक भेद हैं, जैसा ऊपर कहा गया है। इस लिए मागधी प्राकृत से भी एक विशेष प्रकार की अपभ्रंश भाषा की उत्पत्ति हुई, यह मानना ही पड़ता है।

भारत की पूर्वीय भाषाओं की तरफ दृष्टि डालने से यह मालूम होता है कि ये भाषाएँ मुख्यतया मागधी प्राकृत से उत्पन्न हुई हैं। इस मागधी को ग्रियर्सन ने दो मुख्य भागों में विभक्त किया है—*पूर्वीय मागधी विभाग* जिस मे बंगाली, आसामी तथा उड़िया भाषा ली गई हैं तथा *बिहारी विभाग*। बिहारी विभाग में पुनः तीन गौण-भेद किए हैं—भोजपुरी, मैथिली तथा मगही। डॉक्टर श्री सुनीतिकुमार चटर्जी ने मागधी के तीन मुख्य भाग किए हैं—*पूर्वीय शाखा*—जिस में उन्हों ने बँगला, आसामी तथा उड़िया भाषाएँ रक्खी है, *मध्यशाखा*—जिस में मैथिली और मगही भाषाएँ रक्खी गई हैं; तथा *पश्चिमीय शाखा*—जिस में केवल भोजपुरी को रक्खा है।

किंतु पूर्वीय भारत के मानचित्र को ले कर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट मालूम होता है कि आसाम सब से पूर्व में है, तथा उड़िया देश दक्षिण में। इस लिए ऊपर कहे हुए दोनों मतों में कुछ न कुछ दोष जान पड़ता है। अतः मेरी समझ में मागधी का निम्न-लिखित विभाग करना चाहिए—

१—पूर्व-दक्षिणीय शाखा—जिस में केवल उड़िया भाषा ली जाय।

२—उत्तर-पूर्वीय शाखा—जिस में आसामी भाषा ली जाय।

३—मध्य-शाखा—जिस में मैथिली, मगही तथा बँगला ली जाय।

४—पश्चिमीय-शाखा—जिस मे भोजपुरी ली जाय।

ऐसा विभाग न कर यदि केवल भाषा के सादृश्य के अनुसार ही विभाग किया जाय तो निम्न-लिखित तीन शाखाएँ हो सकती हैं:—

१—पूर्व-दक्षिणीय शाखा—उड़िया।

२—पूर्वोत्तरी शाखा—मैथिली, मगही, बँगला तथा आसामी।

३—पश्चिमीय शाखा—भोजपुरी।

उड़िया भाषा को किसी अन्य पूर्वीय भाषा के साथ रखने में यह तारतम्य उपस्थित होता है कि उड़िया का दक्षिण की भाषाओं से घनिष्ट संबंध होने के कारण तथा इस के बहुत दिनों तक तैलंग राजा के आधिपत्य में रहने के कारण इस भाषा में दक्षिणीय भाषाओं का विशेष प्रभाव पड़ा है। उड़िया लिपि में भी दक्षिण का ही पूरा प्रभाव है। इन कारणों से मैं ने उसे सब से पृथक् रक्खा है। भोजपुरी को भी इन सब भाषाओं से अलग रखने का कारण यह है कि यथार्थ मे इस में पूर्वीय भाषाओं के प्रभाव की अपेक्षा पश्चिमीय भाषाओं का प्रभाव अधिक है। प्रत्युत यह पूर्वीय मैथिली आदि तथा पश्चिमीय हिंदी के मिश्रण से बनी हुई भाषा है। भोजपुरी के लिखने के लिए कोई स्वतंत्र लिपि नहीं है जैसी मैथिली, बंगाली, आसामी—के लिए है। अतः इसे भी अलग ही रखना उचित है। मगही को स्वतंत्र भाषा कहना कहाँ तक उचित होगा यह प्रश्न स्वतंत्र-रूप से विचारणीय है।

यह सब पूर्वीय भाषाएँ मागधी से निकली हैं। भाषा-विकास की दृष्टि से यह भी ज्ञात होता है कि इन दोनों के मध्य, एक अपभ्रंश की अवस्था

थी। अपभ्रंश भी प्रांत के भेद से भिन्न भिन्न प्रकार का था यह भी ऊपर कहा गया है। मैथिली (जिस के संबंध में अभी बड़ा लिखना है) और मागधी के मध्य में भी कोई अपभ्रंश अवश्य था। इसी अपभ्रंश को मैथिली के प्रधान कवि विद्यापति ठाकुर ने अपनी 'कीर्तिलता' में 'अवहट्ठ' तथा 'देसिल बअना' कहा है। इस से मालूम होता है कि यह 'अवहट्ठ' मिथिला देश के मैथिलो-अपभ्रंश का नाम था। प्राकृत के अतिरिक्त पाली से भी मैथिली का बहुत संबंध है। इस के अनेक व्याकरण के नियम यथावत् मैथिली में उपयुक्त होते हैं।

'मैथिली' मिथिला देश की भाषा है। मिथिला की सीमा के संबंध में 'बृहद्विष्णुपुराण' में लिखा है—

गंगाहिमवतोर्मध्ये नदीपंचदशांतरे ।
तैरभुक्तिरिति ख्यातो देशः परमपावनः ॥
कौशिकीं तु समारभ्य गण्डकीमधिगम्य वै ।
योजनानि चतुर्विंशत् व्यायामः परिकीर्तितः ॥
(मिथिलाखंड)

अर्थात् जिस देश के उत्तर में हिमालय पर्वत है, पश्चिम में गंडकी नदी बहती है, दक्षिण में गंगा जी हैं तथा पूर्व में कौशिकी (वर्तमान कोशी) नदी है, उसे 'मिथिला' कहते हैं। यह तो बहुत प्राचीन मत है। पश्चात्, आधुनिक समय में, इस में कुछ परिवर्तन हुआ है। राजनैतिक प्रांत-विभाग के अनुसार मिथिला बिहार प्रांत में संमिलित है। बिहार को उत्तर बिहार तथा दक्षिण बिहार इन दो विभागों में बाँट दिया है। उत्तर बिहार को मुख्य मिथिला कहते हैं। इस के अनुसार संप्रति चंपारन, मुज़फ़्फ़रपुर तथा दरभंगा के ज़िले, नेपाल की तराई, पुर्नियाँ, भागलपुर तथा मुंगेर के ज़िले एवं संताल परगना के उत्तर पश्चिमीय भाग—इतने प्रदेश वर्त्तमान मिथिला में गिने जाते हैं[1]। चंपारन के कुछ हिस्सों में भोजपुरी का भी प्रभाव है। इस के अतिरिक्त बंगाल तथा

---

[1] 'लिंग्विष्टिक सर्वे अव् इंडिया', ग्रंथ ५, विभाग २, पृष्ठ १२।

आसाम के अनेक स्थानों में, संयुक्तप्रांत तथा मध्यप्रदेश (सी० पी०) के अनेक हिस्सों में असंख्य मैथिलों का वास बहुत दिनों से वर्तमान है। मिथिला अपने पांडित्य के लिए अनादि काल से प्रसिद्ध है। बौद्धमत के विस्तार-काल में तथा पश्चात् तंत्र-विद्या का भी प्रधान केंद्र मिथिला हो गया। अतः मैथिल पंडितों ने भारत के देशी तथा विदेशी राजाओं के दरबारों में घूम घूम कर पांडित्य तथा तंत्र-विद्या के प्रभाव से जमींदारी भी प्राप्त की है। और अपना देश छोड़ कर विदेश में जा कर बसे हैं। इन में से कतिपय स्थानों का उल्लेख ग्रियर्सन ने किया है। इन सब स्थानों में मैथिलों की मातृ-भाषा मैथिली ही है। मनुष्य-गणना के आधार पर ग्रियर्सन ने मैथिली बोलने वालों की संख्या एक करोड़, अठहत्तर लाख, उनसठ हजार, तीन सौ नौ बतलाई है[1]। इस संख्या में यदि संयुक्तप्रांत तथा मध्यप्रदेश (सी० पी०) आदि स्थानों की संख्या का कुछ अनुमान लगा कर जोड़ दिया जाय तो मैथिली बोलने वालों की संख्या लगभग दो करोड़ होती है।

मैथिली का साहित्य कितना प्राचीन है यह यथार्थ में अभी हम नहीं कह सकते तथापि उपलब्ध ग्रंथों के आधार पर जो कुछ मुझे मालूम होता है उसे यहाँ लिख रहा हूँ। अनादि काल से मिथिला संस्कृत विद्या के लिए प्रसिद्ध है। संस्कृत के ही पठन-पाठन तथा लेख को मैथिलों ने मुख्य स्थान दिया है तथापि अपने देश की भाषा का तिरस्कार नहीं किया। समय समय पर भाषा में भी अनेक ग्रंथों का निर्माण होता ही रहा है।

मिथिला का आधुनिक इतिहास नान्यदेव के समय से आरंभ होता है। यह परमार क्षत्रिय वंश में उत्पन्न हुए थे। कर्णाट से आ कर शाके १०१९ (अर्थात् १०९७ ईस्वी) श्रावण-शुक्ल, सप्तमी तिथि, शनिवार, स्वाती नक्षत्र तथा सिंह लग्न में मुजफ्फरपुर जिले के कोइली ग्राम के समीप नानपुर में इन्हों ने

---

[1] 'लिंग्विस्टिक सर्वे अव् इंडिया', ग्रंथ ५, भाग २, पृष्ठ १५,१६; ग्रंथ १, भाग १, पृष्ठ ४७८-४७९।

अपना राज्य स्थापित किया[१]।

नान्यदेव के साथ उन का प्रधान-मंत्री श्रीधर नाम का कायस्थ भी था। इसी मंत्री ने श्रीधर भगवान् की एक मूर्ति दरभंगा ज़िला के अंधरा ठाढ़ी नाम के गाँव मे स्थापित की, यह कहा जाता है। श्रीधर कायस्थ ने 'सूक्तिकर्णामृत' नाम का एक ग्रंथ मैथिली भाषा में लिखा था[२]।

इस ग्रंथ की प्रतिलिपि कहीं देखने में अभी नहीं आती। इस लिए इस के संबंध मे कुछ भी नहीं कहा जा सकता है।

इस के बाद राजा हरिसिंहदेव के समय पर्यंत कुछ भी पता नहीं लगता कि साहित्यिक चर्चा मिथिला में किस प्रकार की थी। लगभग २०० वर्ष के बाद जब हरिसिंहदेव मिथिला पर राज्य करते थे उस समय उन की सभा मे कविशेखराचार्य ज्योतिरीश्वर ठाकुर थे। इन्हों ने 'पंचसायक', 'धूर्तसमागम', 'रंगशेखर'[३] आदि ग्रंथों की संस्कृत मे रचना की।

इसी के साथ साथ मैथिली भाषा मे भी आप ने एक अपूर्व ग्रंथ लिखा है। इस का नाम 'वर्णरत्नाकर' अथवा 'वर्णनरत्नाकर' है। यह आठ कल्लोलों का गद्य-काव्य है। इन कल्लोलों के नाम इस प्रकार हैं—

नगरवर्णन, नायिकावर्णन, आस्थानवर्णन, ऋतुवर्णन, प्रयानकवर्णन, भट्टादिवर्णन, श्मशानवर्णन तथा एक और कल्लोल है जिस के नाम का पता नहीं लगता, क्योंकि ग्रंथ अभी खंडित ही प्राप्त है। कपोल-कल्पित नायक तथा नायिका को ले कर महाकाव्य के लक्षण के अनुसार अनेक प्रकार के

---

[१] नंदेंदुबिंदु पृथिवी (१०१९) मित (विधुसंमित) शाकवर्षे
सच्छ्रावणे शुभदलेऽम्बुजनीशतिथ्याम्।
स्वातीशनैश्चरदिने गजवैरिलग्ने।
श्रीनान्यदेवनृपतिर्विदधेऽथ वास्तुम्—
यह श्लोक जरहटिआ ग्राम में एक शिला के ऊपर लिखा हुआ है।

[२] 'मिथिला'—वर्ष १, अंक ९, पृ० ३७३।

[३] रुचिपतिकृत 'अनर्घराघवटीका', पृ० १६, काव्यमाला।

न में है एक एक वस्तु का दो या तीन प्रकार से वर्णन किया है पुष्प-
। कहीं कहीं एक या दो शब्द संस्कृत में दिए गए हैं इस के पढ़ने से
श्वर के पांडित्य का पता लगता है। भरत के 'नाट्यशास्त्र' के समान
र्णनों की भरमार है। कुछ नमूने यहाँ दिए जाते हैं—

'*अथ नायिका हास्य वर्णना*—कुमुद कुंद कदंब कास भास कैलास कर्पूर पीयूष क कांति प्रसारी सन; चीर समुद्रक दक्षिणानिलें चालल तरंग क लहरी अइसन; अमृत क सरोवर तरंग क सहोदर सन; शरत क पूर्णिमा चांद क ज्योत्स्ना अइसन; अभिनव अविकसित कमल कोष प्रसारी शोभा सन; कंदर्प क दर्पप्रकाशन सन; त्रैलोक्य क नागर जन युव हृदय मोहन मंत्र सन; स्वेद स्तंभ रोमांच स्वरभंग कंप वैवर्ण्य अश्रु प्रलय ई ये आठओ सात्विक भाव ता क भंडार सन; संयमित योगिजन क मन निधान सन; मादन उन्मादन प्रक्षोभण संयोजन संमोहन ई ये कदर्प क पाँचओ बाणगुण ताक संधान शक्ति सन; मोहनता प्रकाशिता वशिता उत्साहिता एवंविध रस प्रकाशयिते त्रैलोक्य ओ वशाकरइतें नायिकाजन हास्य संचारइतें देषू।"

नायक को किस प्रकार का पान भोजनोत्तर दिया गया उस का भी खने योग्य है—

"शुद्धाचमन भेल तांबूल लए देल। से कइसन तांबूल-रूपा क सीप दुबे चुम्बाओल अइसन आकार, आषाढ़ क छणीक काटल बीर, पतरल झोल, मुक्ता क चून, सिंधु (क) कक्कोला, श्रीहट्ट क एला, सिंहलद्वीप क जातीफल, काँचो क मुखमेन, मलय पाँचौर क भीमसेन कर्प्पूर, लखनावत्ती[1] क सरसा पूग, तिर-

[1]यदि 'लखनावत्ती' से आधुनिक 'लखनऊ' समझा जाय तो यह कहना होगा तिरीश्वर के समय से ले कर अभी तक लखनऊ सुपाड़ी के लिए प्रसिद्ध चला है।

हुति क सादर एकरें सयोगें लगाओल, पच फल सयुक्त, कटु तिक्त कषाय उष्ण चार मधु मुख शाधक, सरस स्वादु सरस संदीपक कामाग्नि संमान्द क पवित्र तेरह गुण संपूर्ण देवराज योग्य देले पाबिअ स्वर्ग दुर्लभ अइसन पान सुवर्णक सराइ एक कए अगाँ धएल नायकें पान लय मुख शुद्धि कयल।"

कवि मे कितना पांडित्य और चमत्कार भरा हुआ है इस का पता निम्न-वर्णन से भी लगता है—

"*अथ वर्षारात्रि क वर्णना*—काजर क भीति तेलें सीचलि अइसनि रात्रि, पछेवाँ काँ वेगे काजर क मोट फूजल अइसन मेघ, निविड मांसल अंधकार देपू। मेघ पूरित आकाश भए गेल अछ। विद्युल्लता क तरंग तें पथ दिश ज्ञान होइतें अछ। लोचन क व्यापार निष्फल होइतें अछ यं रात्रि पात क शब्दें तरु ज्ञान, दर्दुर क शब्दे जलाशय ज्ञान, चटक क शब्दें वन ज्ञान, झिक-रुआ क शब्दें पृथ्वी ज्ञान, मेघ क शब्दें आकाश ज्ञान, मनुष्य क शब्दें गृह ज्ञान, अग्नि क द्योतें पुर ज्ञान, चरण क (शब्दें) पथ ज्ञान, वचन क शब्दें परापर ज्ञान, विज्ञान जनहुं दिग्भ्रम जं रात्रि।"

अंधकार का वर्णन करते हुए कवि कहते है—

"पाताल अइसन दुष्प्रवेश, स्त्री क चरित्र अइसन दुर्ल्लक्ष, कालिंदी क कल्लोल अइसन मांसल, काजर क पर्वत अइसन निविड, पाप क सहोदर अइसन शरीर, आतंकनगर अइसन भयानक, कुमन्त्र अइसन निष्फल, अज्ञान अइसन संमोहक, मन अइसन सर्वतो गामी, अहङ्कार अइसन उन्नत, परद्रोह अइसन अभव्य, पाप अइसन मलिन एवंविध अतिव्यापक दुःसंचर दृष्टिबंधक भयानक गंभीर, सूचीभेद्य अंधकार देषू। मेघ, महिष, मधुकर, तमाल, काकोल, कोकिला, कोल, कज्जल,

केश, कृष्णसार कुवलय, कालिंदी कालिकादि ये अनेक द्रव्य अधिकह सन्हिक रजनीमूर्त्तिमंत समवाय यं अंधकार, अभिसारिका क संचार, चौरक व्यापार, शिवा क फेत्कार, राक्षस क क्रीडा, डाकनी क लीला, भी रुजनक स… मनोभंग, सात्विक क आसंग, लोचन क अभाव, दुर्जन क प्रभाव एवंविध गुण विशिष्ट तेज पिरइतें दिश षसइतें आकाश करइतें प्रत्यक्ष मूर्त्तिमंत भटता क पक्ष स्थापइतें दशम द्रव्य[1] अइसन दुर्गम्य अंधकार देपू।"

इसी प्रकार शयन, प्रभात, मध्याह्न, चंद्रमा, मेघ, वसंतादि छः ऋतु, चौंसठ कला, सोलह महादान, रत्न, उपमणि, वस्त्र, देशीय वस्त्र, नेत्र, अभिषेक, वस्त्रगृह, ज्योतिर्विद, जूआ, वेश्या, कुट्टनी, कामावस्था आदि अनेक विषयों के भिन्न भिन्न प्रकार से वर्णन है।

यद्यपि ज्योतिरीश्वर से पूर्व के कवियों का पता अभी नहीं लगता, न किसी अन्य प्रकार के भाषा-ग्रंथों का ही कुछ पता है तथापि इस 'वर्णरत्नाकर' के ग्रंथ की लेखशैली तथा विषय-गांभीर्य्य को देख कर यह अनुमान किया जाता है, कि इस ग्रंथ की रचना के पूर्व अनेक ग्रंथ मैथिली में अवश्य लिखे गए होंगे अन्यथा एकाएक ऐसे सुंदर ग्रंथ की रचना नहीं हो सकती है। इस समय में मैथिली में कितने ग्रंथ लिखे गए उस का ठीक पता अभी तक नहीं लगा है। तथापि जो कुछ मालूम है और जिसे हम यहाँ लिखते हैं इस से यह ज्ञात होता है कि न केवल संस्कृत के ही अपूर्व अपूर्व ग्रंथ इस समय मिथिला मे लिखे गए, किंतु मैथिली भाषा में भी अनेक उत्तम ग्रंथ लिखे गए हैं।

राजा हरिसिंहदेव के समय में निबंधकार चण्डेश्वर ठाकुर ने संस्कृत में 'रत्नाकर' नाम के सात प्रसिद्ध ग्रंथ लिखे। इन्हों ने मैथिली मे कोई स्वतंत्र ग्रंथ लिखा या नहीं इस का पता नहीं लगता है, किंतु धर्मशास्त्र के ग्रंथों में कठिन

---

[1] कुछ नैयायिकों का तथा मीमांसकों का कहना है कि अंधकार भी एक प्रकार का 'द्रव्य' है। इस लिए कवि ने इसे दशम द्रव्य कहा है।

तथा अप्रसिद्ध संस्कृत शब्दों के भाव को स्पष्ट करने के लिए अपनी मातृभाषा मैथिली का इन्हों ने प्रचुर प्रयोग किया है। इस का विशेष विवरण मैं ने एक दूसरे लेख में किया है[1]। अतः यहाँ देना व्यर्थ होगा। इस से यह भी स्पष्ट होता है कि मैथिलों को अपनी मातृभाषा से घृणा न थी। संस्कृत का इतना प्रचार था कि लोग मैथिली में काव्यादि की रचना करना गौण समझते थे। प्रत्युत उन्हों ने स्वतंत्र मैथिली नाटकादि की रचना में भी संस्कृत का अधिक प्रयोग किया है, जिस के उदाहरण-स्वरूप उमापति उपाध्याय का 'पारिजात-हरण', वंशमणि झा का 'गीतदिगम्बर' आदि अनेक ग्रंथ विद्यमान हैं। यह प्रथा आजकल के कवियों में भी पाई जाती है—यथा कविवर जीवन झा के 'सुंदर संयोग', 'पुनर्जन्म' आदि नाटकों में प्रत्यक्ष देख पड़ता है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अभी भी मिथिला में घरेलू चिट्ठी-पत्री में भी दो चार पंक्तियाँ संस्कृत में अवश्य ही लिखी जाती हैं।

हरिसिंहदेव सिमरांवगढ़ में रह कर समस्त मिथिला पर राज्य करते थे। सन् १३२४ ई० में दिल्ली के सुल्तान ग़यासुद्दीन तुग़लक से लड़ाई में हार कर हरिसिंहदेव नेपाल की पहाड़ियों में जा छिपे[2]। इन के साथ बहुत से विद्वान् भी मिथिला से नेपाल को गए। और हरिसिंहदेव इतने विद्याप्रेमी थे कि विद्वानों का जाना और आना लगा ही रहता था। क्रमशः नेपाल में भी मैथिल पंडितों का समाज खूब जुट गया और शास्त्रचर्चा जारी रही। इस का परिणाम यह हुआ कि नेपाल में भी मैथिली भाषा की चर्चा खूब फैली। यहाँ तक कि विद्वानों का कहना है कि अठारहवीं शताब्दी से पूर्व नेपाल में मैथिली

---

[1] 'इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज़' ग्रंथ ६, भाग १, पृष्ठ ३४९-३५७।

[2] बाणाब्धिबाहुशशिसम्मितशाकवर्षे
पौषस्य शुक्लदशमी क्षितिसूनुवारे।
त्यक्त्वा स्वपट्टनपुरीं हरिसिंहदेवो
दुर्दैवदर्शितपथे गिरिमाविवेश॥
(धूर्तसमागम नाटक)

भाषा बोली जाती थी[१]। यद्यपि चटर्जी महाशय बंगला को भी इस में शामिल कर लेते हैं किंतु नेपाल में लिखे गए तत्कालीन ग्रंथों को देखने से यह मालूम होता है कि बँगला भाषा बहुत बाद को नेपाल पहुँची।

ऊपर कहे हुए ग्रंथ के अतिरिक्त हरिसिंहदेव के समकाल का अन्य कोई ग्रंथ अभी तक देखने में नहीं आया है। हरिसिंहदेव के प्रपौत्र श्यामसिंहदेव के राजल्लदेवी नाम की एक मात्र कन्या थी। पुत्र न होने के कारण इस कन्या का नेपाल के मल्लवंशीय जयस्थितिमल्ल के साथ विवाह हुआ। और जयस्थितिमल्ल नेपाल के राजा हुए। इन का राज्य १३८०-१३९४ तक रहा। इन के समय में पुनः अनेक विद्वान् मिथिला से बुलाए गए; जिन में कीर्तिनाथ उपाध्याय, रघुनाथ झा, श्रीनाथ भट्ट, महीनाथ भट्ट[२] तथा रामनाथ झा थे[३]। यहाँ यह प्रथा हो गई थी कि प्रत्येक विशेष उत्सव के अवसर पर नाटक रचा जाय और उस का अभिनय भी किया जाय। इस लिए जितने नाटक रचे गए हैं सब की पुष्पिका में इस प्रकार की बात मिलती है। नाटक लिखने का बहुत प्रचार हुआ। राजा लोग स्वयं इस में बहुत भाग लेने लगे।

राजवर्धन के पुत्र नाट्यकला में परमप्रवीण कविवर मणिक ने 'भैरवानंद नाटक' राजल्लदेवी के विवाह के अवसर पर लिखा और यह नाटक खेला भी गया[४]। नेपाल राजकीय ग्रंथों का सूचीपत्र देखने से यह मालूम होता है

---

[१] डॉक्टर श्री सुनीतिकुमार चटर्जी, 'बंगाली भाषा और उस की उत्पत्ति'; 'लिंग्विष्टिक सर्वे अव् इंडिया', ग्रंथ ९, भाग ४, पृ० १७; टर्नर, 'नेपाली कोष', भूमिका-भाग, पृ० १४।

[२] भट्ट उपाधि देख कर लोग इन को दाक्षिणात्य कहते हैं किंतु यह समझना चाहिए कि जयस्थितिमल्ल का दक्षिण से कोई ऐसा संबंध नहीं था, तथा मैथिलों में जो मीमांसक होते थे वे सब 'भट्ट' कहलाते थे, और इन दिनों मिथिला में सैकड़ों मीमांसक थे।

[३] नेपाली वंशावली के आधार पर डेनिएल राइट।

[४] सूत्रधार—प्रिये इदमादिष्टोऽस्मि यदद्यासौ सूनोः कुमारश्रीजयधर्ममल्ल-

कि 'रामायण नाटक' नाम का ग्रंथ जयस्थिति के पुत्र कविवर धर्मगुप्त ने जन्मोत्सव के समय रचा था। धर्मगुप्त श्रीरामदास के पुत्र थे। यह भी मिथिला से, राजगुरु हो कर नेपाल आए, यह डॉक्टर बागची का कहना है। इन दोनों नाटकों में संस्कृत भाषा के साथ साथ मैथिली का भी समावेश है। मालूम होता है कि मैथिली गान से नेपालियों को भी बहुत प्रेम हो गया था। इस प्रकार नान्यदेव के समय से ले कर प्रसिद्ध हरिसिंहदेव तथा उन के द्वारा नेपाल में भी मैथिली का पूर्ण प्रचार होता ही रहा और अठारहवीं शताब्दी के आदि भाग तक बराबर यह क्रम नेपाल में लगा रहा और अनेक नाटक नेपाल में मैथिली में लिखे गए।

लेख समाप्त करने से पूर्व एक बात और कहनी आवश्यक मालूम होती है। मिथिला में गृहस्थों के मुख से अनेक उद्भट कवितायें गृहस्थी तथा खेती-संबंधी सुनी जाती हैं। ये सब कवितायें 'डाक' के नाम से प्रचलित हैं। 'डाक' को लोगों ने वराहमिहिर का पुत्र बतलाया है। यदि यह सत्य हो तो यह मानना पड़ेगा कि वराहमिहिर के बाद उन के एक पुत्र 'डाक' द्वारा अनेक कवितायें भाषा में लिखी गयीं। इन कविताओं की भाषा शुद्ध मैथिली है। डाक्टर दिनेशचंद्र सेन ने इस 'डाक' को दसवीं शताब्दी में रक्खा है। ऐसा होने पर राजा नान्यदेव के भी पहिले से मैथिली भाषा-ग्रंथ का सिलसिला चला होगा। किंतु इस 'डाक' की भाषा (जो कि 'डाकवचनामृत' के नाम से छप चुकी है) बहुत आधुनिक मालूम होती है। संभव है कि परंपरा में लोगों के मुख से परिमार्जित हो गई हो किंतु तब भी इसे दसवीं शताब्दी में रखना ठीक नहीं जान पड़ता।

देवस्य·········विवाहमहोत्सवदर्शनोत्सुकानां··· ··· ·········समाज···—नेपाल दरबार पुस्तकालय ग्रंथ-सूची, पृ० ११९।

डाक्टर प्रबोधचन्द्र बागची का कहना है कि 'भणिक छिलेन राजवर्धनेर पुत्र एवं तारा·········मिथिला थे के नेपाले एसे छिलेन'—'साहित्यपरिषद्पत्रिका' ३६-३ पृष्ठ १७१।

कलाकार निकोलस रोरिक

[लेखक—श्रीयुत रामचंद्र टंडन, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०]

आधुनिक जगत के जिन लोगों ने संसार के कल्याण के लिए अथक प्रयत्न किया है उन मे निकोलस रोरिक का नाम विशेष-रूप से आदरणीय है।

परिचय

आप वैज्ञानिक, दार्शनिक, कलाकार, पुरातत्वविद और अन्वेषक हैं। इस के अतिरिक्त संसार की संस्कृतियों तथा कला की वस्तुओं की रक्षा और सार्वलौकिक शांति की स्थापना के उद्देश्य की पूर्ति मे आप ने बड़ा महत्त्व-पूर्ण कार्य किया है। समस्त संसार के विचारवान और संस्कृति के प्रेमी लोगो ने इन के कार्य की मुक्तकंठ से सराहना की है। आइन्स्टाइन, मा‌टर्लिंक, आंद्रीव, जुलोआगा, इत्सुजो ताकेऊची और अन्य बहुत से जगत्प्रसिद्ध लोगों ने भिन्न भिन्न देशों में इन की रचनाओं के सौंदर्य की तथा इन के हितकर कार्यों की प्रशंसा की है। हमारे देश मे भी रवींद्रनाथ ठाकुर, चंद्रशेखर रमन, जगदीशचंद्र बोस और असितकुमार हल्दार ऐसे व्यक्तियों ने इन के कार्य का आदर किया है और इन की रचनाओं के महत्त्व को स्वीकार किया है। रोरिक महोदय अपने रचनात्मक कार्य में आज लगभग पैंतालीस वर्ष से रत हैं, परंतु उन के उत्साह में किसी प्रकार की कमी नहीं हुई है। सच पूछिए तो उन की नवीन रचनाओं में भी हमें उत्तरोत्तर विकसित स्फूर्ति का तथा एक उन्नतिशील आत्मा का परिचय मिलता है। रोरिक महोदय एक अद्भुत व्यक्ति हैं। उन मे हमें पूर्व की गहन कल्पना का और पाश्चात्य की दृढ़ कार्यशीलता का अपूर्व संयोग मिलता है।

रोरिक महोदय का मुख्य कार्य कला के क्षेत्र में हुआ है। इस लेख में हम अधिकांश उन के चित्रकला-संबंधी तथा संसार मे शांति-स्थापना करने के संबंध के कार्यों का वर्णन करेंगे। यह बात कही गई है कि "विज्ञान के क्षेत्र मे

जो स्थान आइन्स्टाइन को और उद्योग के क्षेत्र में फोर्ड का प्राप्त है, वही स्थान कला के क्षेत्र म रोरिक को प्राप्त है ' उन की कला क मूल्य को आँकने का किंचित् प्रयत्न हम आगे चल कर यथा-स्थान करेंगे। जिस बात को यहाँ पर स्पष्ट कर देने की आवश्यकता है, वह यह है, कि इस दीर्घ काल में, केवल चित्रकला के क्षेत्र में भी, रोरिक की रचनात्मक प्रतिभा इतने विविध रूपों मे और इतने बाहुल्य के साथ विकसित हुई है, और उन के संबंध मे साहित्य इतना प्रचुर और अनेक भाषाओं तथा देशों में फैला हुआ है, कि एक छोटे से लेख में उन का वर्णन करते हुए हम केवल कुछ ही अंशों की झलक पा सकते हैं। क्योंकि अपने कलाकार के जीवन मे रोरिक ने तीन हज़ार से अधिक चित्रपट तैयार किए हैं, जो लगभग पचीस देशों, सैकड़ों अजायबघरों तथा व्यक्तिगत संग्रहों में फैले हुए हैं। एक हज़ार से अधिक चित्रपट तो केवल इन के नाम पर स्थापित न्यू यॉर्क के 'रोरिक म्यूज़ियम' में ही हैं।

परंतु इन चित्रों को चाहे अधिक या थोड़ी संख्या में देखें, हम पर उन का गहरा प्रभाव हुए बिना नहीं रह सकता। हम उन में सत्य की-सी महानता पावेंगे। रोरिक के चित्रों के विषय मे कवि रवींद्रनाथ ठाकुर ने, अपने भाव कलाकार के पास पत्र लिख कर इस प्रकार प्रकट किए थे:—"आप के चित्रों ने मुझ पर गहरा असर डाला है। उन के द्वारा हमे एक ऐसी बात का अनुभव हुआ, जो स्पष्ट है परंतु जिसे प्रत्येक मनुष्य को अपने लिए बार-बार खोजने की आवश्यकता है—अर्थात् सत्य असीम है। आप के चित्र स्पष्ट हैं परंतु शब्दों द्वारा उन का वर्णन नहीं हो सकता। आप की कला महान् है, इसी कारण वह अपनी स्वतंत्रता के लिए सतर्क है।"

निकोलस रोरिक का जन्म सन् १८७४ ई० में, १० अक्तूबर को, रूस के प्रसिद्ध नगर सेंट पिटर्सबर्ग मे हुआ था। इन के पिता कन्स्टैंटाइन रोरिक

प्रारंभिक जीवन और यूरोप में कला-संबंधी कार्य

एक सुविख्यात बैरिस्टर थे, जिन के शरीर मे स्कैंडिनेविया के योद्धाओं का रक्त प्रवाहित था। इन की माता मेरी कलश्निकाव प्शाकाव एक प्राचीन रूसी घराने की कन्या थीं। रोरिक के वंश के पूर्वपुरुष, वंश-वृक्ष के अनुसार उत्तरी

वाइकिंग्ज़ लोग थे, और रोरिक नाम दसवीं सदी के प्राचीन वृत्तांतों में भी मिलता है। सारांश यह कि निकोलस रोरिक मातृ तथा पितृ दोनों ही पक्षों से, प्राचीन वंशजों के वंशज हैं और उन की कला में दोनों पक्षों से प्राप्त गुण मिलते हैं।

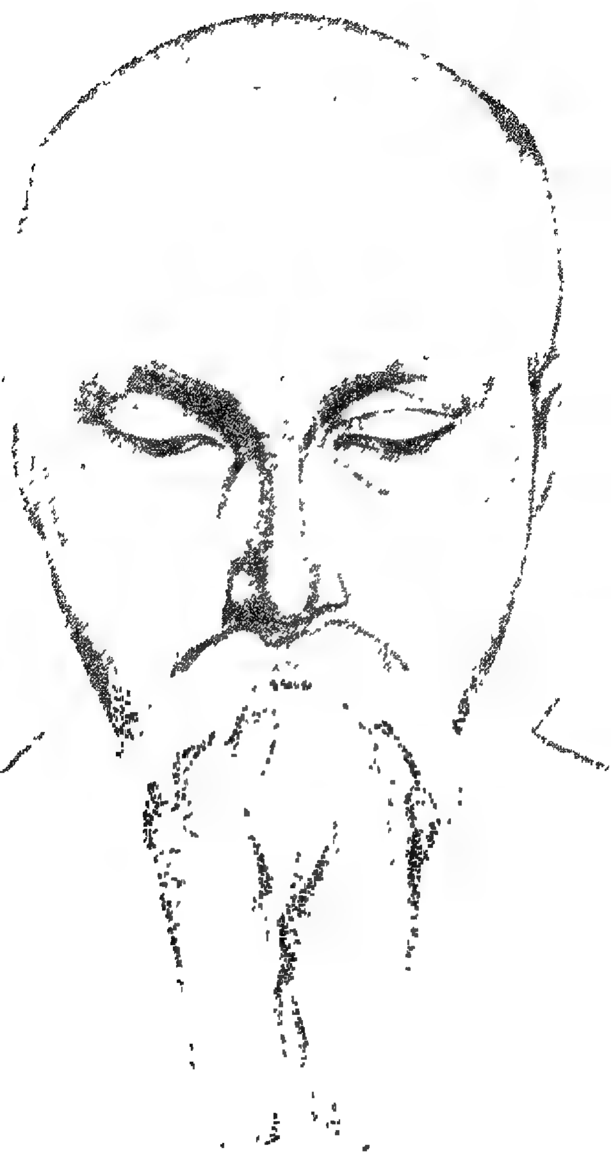
रोरिक की विशेष शैली का—जिस के अनुकरण में कलाकारों का एक वर्ग ही स्थापित हो गया है—आधार हमें रोरिक के चरित्र में ही प्राप्त होगा। रोरिक की कला स्व-विकसित है। अपने बाल्यकाल से ही यह कलाकार अपनी विशेष और व्यक्तिगत शैली का अभ्यास करता रहा है और इस प्रकार उसने अपने आप को दूसरों के प्रभावों से अलग रख कर एक नवीन शैली का सूत्रपात किया है। इस शैली में हमें रूसी चरित्र की दृढ़ता तथा वाइकिंग्ज़ की विजयी कल्पना के संमिलित आभास मिलते हैं।

जिस समय रोरिक की अवस्था दस वर्ष की थी, वह अपने कुटुंब के 'ईश्वर' नाम के इलाके पर रहा करते थे। इसी समय वह प्राचीन 'वाइकिंग्ज़' तथा पूर्व-ऐतिहासिक 'स्लैव' जाति के कुरग्गानों (तूदों या मिट्टी के संचित ढेरों) की परीक्षा किया करते थे। गाँव के बड़े-बूढ़ों ने इन्हें कुरगानों या तूदों को छूने से मना कर दिया था। परंतु बालक रोरिक अपनी खोज में संलग्न था और इन तूदों को उस ने स्वयं खोदना आरंभ किया। उसे अत्यंत सुंदर ताँबे की वस्तुएँ प्राप्त हुईं, जिन्हें उस ने अपने देश की पुरातत्व-समिति को भेंट कर दिया। इस प्रकार बचपन से ही रोरिक की दिलचस्पी सुंदर वस्तुओं में तथा उन की खोज मे रही है।

पंद्रह वर्ष की अवस्था को प्राप्त करते करते निकोलस रोरिक ने चित्र खींचने और रेखांकन में अच्छा अभ्यास कर लिया था। वह कला-विषयक लेख तथा चित्र सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में भेजने लगे थे और यह लेख तथा चित्र छपा भी करते थे। इस प्रकार कलाकार रोरिक की चित्रकला का तथा साहित्यिक जीवन का आरंभ होता है। इसी लिए, जब १९१५ में उन की कला-सबंधी रचनाओं के पच्चीस वर्ष का समारोह मनाया गया, तो वर्ष की गणना 'एकेडेमी अव फ़ाइन आर्ट्स' के स्नातक होने के समय से नहीं, बल्कि इस

पंद्रह वर्ष की अवस्था से की गई क्योंकि इसी काल से कलाकार ने अपने भावों का अपने चित्रों में प्रदर्शन किया था इस प्रकार अब रोरिक के कला जीवन के लगभग ४५ वर्ष हो रहे हैं।

रोरिक की शिक्षा पहले क़ानून की हुई और यह क़ानून पढ़ने के लिए सेंट पिटर्सबर्ग की यूनिवर्सिटी में भरती हुए। यहाँ इन्हों ने क़ानून का अच्छा अनुशीलन किया। परंतु इन की अभिरुचि कला की शिक्षा तथा विज्ञान की ओर अधिक थी। इस लिए यह वहीं के 'एकेडेमी अव् फाइन आर्ट्स' में प्रविष्ट हो कर रेखांकन और चित्रकला सीखते रहे और यहाँ से भी यथा-समय स्नातक-पद प्राप्त किया। इस एकेडेमी में रोरिक ने ऐसी योग्यता दिखाई कि एक वर्ष में इन्हों ने तीन दर्जे पास कर लिए। कुछ दिनों तक चित्रकला की शिक्षा इन्हों ने पेरिस में भी प्राप्त की। थोड़ी ही अवस्था में यह अपने देश के ललित-कलाओं को प्रोत्साहन देने वाले समाज के म्यूज़ियम के सहकारी डाइरेक्टर बना दिए गए थे और इसी पद पर रहते हुए यह पेरिस गए थे। पेरिस से वापस आने पर यह इसी समाज के मंत्री चुने गए। सन् १८९६ से १९०० तक यह सेंट पिटर्सबर्ग की राजकीय पुरातत्व-समिति में अध्यापक का कार्य करते रहे और साथ ही कला-संबंधी एक पत्र का संपादन भी। सन् १९०२ में यह रूस की आर्किटेक्चरल (अर्थात् स्थापत्य और निर्माण-संबंधी) सोसाइटी के सदस्य चुने गए। यह पद केवल लब्ध-प्रतिष्ठ इंजिनियरों और निर्माण-विशारदों को ही मिलता है। रोरिक को इस पद के मिलने का एक विशेष कारण हुआ। ज़ार की ओर से एक पुरस्कार की घोषणा, उस व्यक्ति के लिए हुई जो कि उस के लिए एक गिर्जाघर का सब से उत्तम नक़्शा बना कर दे। यद्यपि रोरिक केवल चित्रकार थे, उन के एक मित्र—जो कि उच्च राजकीय पदाधिकारी थे—ने रोरिक से भी इस प्रतियोगिता में संमिलित होने को कहा और रोरिक का नक़्शा ही सर्वोत्तम ठहरा। सन् १९०६ से १९१६ तक वह ललित-कलाओं को प्रोत्साहन देने वाले समाज के डाइरेक्टर भी रहे। सन् १९१० में वह प्रसिद्ध यूरोपीय संस्था 'कला-जगत' के प्रथम सभापति भी हुए।



जिस समय कि रोरिक यूनिवर्सिटी मे थे, उसी समय से ले कर उन्हों ने रूस मे कई साहित्यिक, पुरातत्व और कला-संबंधी संस्थाओं को और अजायब-घरों को जन्म दिया, और कई कला की प्रदर्शनियाँ कराई। रूसी राज्यक्रांति से पूर्व, वह रूस से फिनलैंड चले गए थे। राज्यक्रांति के समय उन्हें ललित-कलाओं के मंत्री का पद दिया जा रहा था परंतु वह रूस मे न लौटे। फ़िन-लैंड से वह स्वीडन और डेनमार्क गए और बाहर ही बाहर घूमते तथा चित्र-कला का प्रदर्शन करते रहे। सन् १९२० मे वह लंदन मे थे, और वहाँ पर भी उन्हों ने अपनी कला की प्रदर्शनी की। जहाँ जहाँ वह गए, वहाँ वहाँ उन के अनुयायियों की सख्या बढ़ी और उन की शैली का आदर होता रहा।

सन् १९२० में रोरिक महोदय का कार्यक्षेत्र यूरोप से अमरीका में परिवर्तित होता है। उस वर्ष 'शिकागो आर्ट इंस्टिट्यूट' की ओर से आप को अमरीका आने और अपनी चित्रकला के प्रदर्शित करने का निमंत्रण मिला। रोरिक ने इस अवसर से लाभ उठा कर यूनाइटेड स्टेट्स के लगभग चालीस मुख्य मुख्य शहरों मे न केवल अपने चित्रपटों का प्रदर्शन किया वरन् अपनी कला के संबंध में व्याख्यान भी दिए। अमरीका मे रोरिक के प्रशंसकों तथा अनुयायियों की संख्या बहुत बढ़ी, जिस से उन्हें भी बहुत उत्साह मिला।

अमरीका में कार्य

इस प्रदर्शन-यात्रा के समाप्त होने पर रोरिक ने यूनाइटेड स्टेट्स मे थोड़े ही समय में कई संस्कृति तथा कला की संस्थायें स्थापित कीं, जिन मे दो प्रधान थीं। एक संस्था तो 'मास्टर इंस्टिट्यूट अव् यूनाइटेड क्राफ्ट्स' कहलाई। यह संस्था नवंबर १९२१ में स्थापित हुई। इस में साहित्य, संगीत और कला के विविध अंगों की शिक्षा का प्रबंध किया गया। जब आप से पूछा गया कि 'इतने विविध विषयों की शिक्षा का प्रबंध एक ही छत के नीचे आप संभव समझते है?' आप ने जो उत्तर दिया बड़ा शिक्षाप्रद है। आप ने कहा—"रचनात्मक कार्य के जन्म के लिए फ़्रा ऐंजेलिको की छोटी गुफा से बड़े कमरे की आवश्यकता नहीं। प्रत्येक वृक्ष को आप ही बढ़ना चाहिए। यदि कार्य में कुछ शक्ति है तो वह बढ के रहेगा। यदि उसे जीवित नही रहना है तो यह कहीं अच्छा है कि

वह एक ही कमरे में मरे ' समय ने यह सिद्ध कर के दिखा दिया है कि आप का लगाया हुआ वृक्ष वर्द्धनशील था यह संस्था अब बहुत ही विस्तृत हो गई है। इस संस्था का आदर्श-वाक्य रोरिक महोदय के शब्दों में इस प्रकार अंकित है, और इन शब्दों में हमें कला के महान उद्देश्य के विषय में कलाकार के विचारों का भी परिचय मिलेगा:—

"कला सारे मानव-समाज में एकता उत्पन्न करेगी। कला एक है—अविभाज्य है। उस की अनेक शाखायें हैं, परंतु सभी एक हैं। कला आनेवाले संयोग का पूर्व-दर्शन है। कला सब के लिए है। सब सच्ची कला से आनंद प्राप्त करेंगे।''' ''कला को जनता तक पहुँचाओ क्योंकि यह उन्हीं की वस्तु है। हमें न केवल अजायबघरों, थियेटरों, विद्यालयों, पुस्तकालयों, रेलवे स्टेशनों और अस्पतालों को सजाना और सुंदर बनाना चाहिए वरन् कारागारों को भी। तब हमें कारागारों को आवश्यकता ही न रहेगी।"

दूसरी संस्था 'कारोना मुंडी' या 'अंतर्जातीय कला-केंद्र' है। इस की स्थापना सन् १९२२ में हुई। इस संस्था के आश्रय में कला-विषयक व्याख्यान, प्रदर्शन, संगीत के जलसे आदि होते हैं, तथा कला-संबंधी अध्ययन के लिए यात्राएँ रची जाती हैं। इस संस्था के आदर्श-वाक्य से एक उद्धरण दिया जाता है:—

"कला द्वारा हम प्रार्थना करते हैं। कला में हमारा संमिलन होता है। अब हम इन शब्दों को हिमाच्छादित पहाड़ों की चोटियों से नहीं कहते वरन् नगर के कोलाहल के बीच। और सत्य के मार्ग का अनुभव करते हुए हम भविष्य का अभिनंदन करते हैं।"

सन् १९२३ में अमरीका के कुछ मित्रों ने तथा संस्थाओं ने मिलकर न्यू यार्क में रोरिक म्यूज़ियम की स्थापना की और इस का उद्‌घाटन-कार्य सन् १९२४ में हुआ। अब तो इस का एक विशाल, २४ मंजिल का, भवन बन गया है। यहाँ पर रोरिक महोदय के एक हज़ार से अधिक चित्रपट प्रदर्शित हैं। इसी भवन में, 'कारोना मुंडी' तथा 'मास्टर इंस्टिट्यूट अव् यूनाइटेड आर्ट्स' संस्थाएं भी आ गई हैं। इस म्यूज़ियम के साथ एक प्रेस भी संबद्ध है और यहाँ से

संस्था का एक मुखपत्र तथा अन्य ग्रंथ-मालाएं बराबर प्रकाशित होती हैं। इस समय इस संस्था की साठ से अधिक शाखाएं संसार के चौबीस देशों में खुल चुकी हैं और इन के द्वारा कला, शिक्षा और संस्कृति के प्रचार का कार्य हो रहा है और कला को अजायबघरों तथा नाट्यमंच तक सीमित न रख कर जनता के घरों में पहुँचाने का प्रयत्न हो रहा है।

रोरिक महोदय जितने बड़े चित्रकार हैं उतने ही बड़े पर्यटक भी हैं। रोरिक म्यूज़ियम की स्थापना के बाद शीघ्र ही आप अपना कार्य-क्षेत्र बदलते हैं। और मध्य एशिया के अन्वेषण में लगते हैं। सन् १९२४ में रोरिक ने अमरीका से प्रस्थान किया। यह 'रोरिक अमरीकन मध्य एशियाई एक्सपेडिशन' के नेता बने। यह 'एक्सपेडिशन' न्यू यार्क के रोरिक म्यूज़ियम तथा कुछ अन्य अमरीकन संस्थाओं के तत्वावधान में संगठित हुआ। इस यात्रा में, रोरिक महोदय का उद्देश्य एशिया-संबंधी विषयों तथा दृश्यों पर बहुसंख्यक चित्रपट तैयार करना था। वह न केवल एशियाई संस्कृतियों का अध्ययन करना चाहते थे वरन् रेखा और रंगों द्वारा उनके भावों को पाश्चात्य देशों में पहुँचाना चाहते थे। चित्रकला को वह सार्वलौकिक भाषा सदा बताते रहे हैं और इस भाषा द्वारा पूर्व और पाश्चात्य की भिन्न संस्कृतियों में संपर्क स्थापित करना इन का एक महान कार्य रहा है।

मध्य एशिया में यात्रा और अन्वेषण-कार्य

सन् १९२४ से ले कर आप हिंदुस्तान, छोटा तिब्बत, कराकोरम का दर्रा, चीनी तुर्किस्तान, तिब्बत, तथा मंगोलिया में भ्रमण करते रहे हैं और इस प्रकार आप ने एशिया के दुरूह और अंतस्तम स्थलों की छान-बीन की है।

आप के इन पर्यटनों की कथा, आप की रचित पुस्तकों में मिल सकती है। इन में से 'अलताई हिमालय' तथा 'हार्ट अव् एशिया' अर्थात्, 'एशिया का हृदय' विशेष रूप से उल्लेख्य है। आप के इन पर्यटनों में आप के विद्वान पुत्र डाक्टर जार्जेस रोरिक भी साथ रहे हैं और इन की पुस्तक 'ट्रैल्स टु इनमोस्ट एशिया' या 'अंतस्तम एशिया की यात्रा' भी बहुत मूल्यवान है। इस यात्रा द्वारा मध्य एशिया-विषयक हमारे ज्ञान में बहुत वृद्धि हुई है। और

साथ ही साथ कला तथा संस्कृति-विषयक चित्रों हस्तलिखित पुस्तकों, तथा अन्य वस्तुओं के रूप में प्रचुर सामग्री प्राप्त हुई है।

यह यात्रा यात्रियों के लिए भयावह भी अत्यंत थी। तुर्किस्तान से यह यात्री-दल क़ैद कर लिया गया। उस के हथियार छीन लिए गए। इस प्रकार इस की रक्षा के साधन जाते रहे। पाँच महीने तक यात्री समुद्रतल से १५,००० फीट से अधिक ऊँचाई पर, तिब्बत के शीताक्रांत पहाड़ों में, घिर गए। मौसम और स्थान की कठोरता के कारण इस कारवाँ के पाँच आदमी काम आए। नब्बे पशु मर गए। यहाँ तक कि अमरीका में समाचार न पा सकने के कारण यात्रियों के विनाश की आशंका होने लगी। ऐसी कठिनाइयों के समुपस्थित होते हुए भी रोरिक ने लगभग ३५० मूल्यवान चित्रपट तैयार किए, जिन के द्वारा हमें एशियाई जीवन, संस्कृति, कथाओं और दृश्यों के—विशेष कर हिमालय के दृश्यों के—परिचय मिलते हैं। रोरिक में हम कलाकार की सूक्ष्म दृष्टि और दार्शनिक की उन्नत भावना के साथ साथ वैज्ञानिक का अनुभव देख पाते हैं। इसी लिए इस में आश्चर्य नहीं कि वह एशिया की अति प्राचीन संस्कृतियों की आत्मा में पैठ सके हैं, उन के दर्शनों और भविष्य की आकांक्षाओं को समझ सके हैं।

पिछले दस वर्षों के बीच रोरिक निरंतर भ्रमण करते रहे हैं। न केवल एशिया में वरन् सारे संसार में। इस बीच छः बार उन्हों ने अटलांटिक महासागर और पाँच बार हिंद महासागर पार किया है। मध्य एशिया की परिक्रमा की है, कश्मीर, लदाख, अलताई, साइबेरिया, मंगोलिया की ख़ाक छानते हुए दस हज़ार मील की यात्रा की है और फिर हिंदुस्तान में लौट आए हैं। इस के अतिरिक्त इन्हों ने कई पुस्तकें लिखी हैं और हज़ार से अधिक संख्या में चित्र-पट तैयार किए हैं। इतना विस्तृत और विशाल रचनात्मक कार्य ही आप की असाधारणता का पर्याप्त परिचय देता है। इस का रहस्य कलाकार के महान् व्यक्तित्व में ही है। जिआँ दुवर्नाय की पुस्तक 'रोरिक' में हम एक स्थल पर पाते हैं कि आप से किसी ने पूछा कि—"रचनात्मक कार्य के लिए सब से अच्छा समय कौन है?" आप ने मुसकरा कर उत्तर दिया—"छोटी सी नौका पर

'ज्योति अंधकार पर विजय प्राप्त करता है'

(इलाहाबाद म्यूनिसिपल म्यूजियम से)





'वह जो मार्ग प्रदर्शित करती है'

(इलाहाबाद म्यूनिसिपल म्यूजियम में)

नेवा नदी पार करते हुए भी बुरा समय नहीं है; सड़क पर कार मे या ट्रेन मे चलते हुए भी बुरा समय नहीं है। गति तो वास्तव में हमें एक प्रकार की संगति प्रदान करती है।" यह एक ऐसे मनुष्य के वाक्य हैं जिस ने जीवन के अक्षुरण स्रोत से पान किया है और जो हमे कलाकार की सिद्धि का रहस्य बताते है।

रोरिक के मध्य-एशियाई एक्सपेडिशन के ही परिणाम-स्वरूप १२ जूलाई, १९२८ को एक ऐसी संस्था की स्थापना हुई जो इतने थोड़े समय में ही बहुत प्रशासनीय कार्य कर सकी है और जिस से भविष्य में संस्कृति के विस्तार की तथा लोक-हित की बड़ी आशायें हैं। यह संस्था है कुलू, नगर (पंजाब) का 'उरुस्वती हिमालयन रिसर्च इंस्टिट्यूट'। मध्य एशियाई यात्रा के समय, यात्रियों को यह अनुभव हुआ कि इस प्रदेश के विषय मे विविध ज्ञान प्राप्त करने के लिए व्यक्तिगत प्रयत्नों से उतना लाभ न हो सकेगा जितना एक स्थायी संस्था के स्थापित होने पर हो सकता है। यह विशेषज्ञों का युग है। यह असंभव है कि खोज करनेवाले के सम्मुख जो जो प्रश्न उपस्थित हों उनका एक ही व्यक्ति निर्णय कर सके। वैज्ञानिकों की सहयोगिता वांछनीय होने के कारण ही उरुस्वती रिसर्च इंस्टिट्यूट का जन्म हुआ। एक नए प्रकार के यात्रा-संगठन की आवश्यकता प्रतीत हुई। विभिन्न-विषयों के विशेषज्ञों का सहयोग प्राप्त किया गया। अब यह संस्था यात्रासंबंधी समस्याओं को हल करती है, प्राप्त वस्तुओं की जाँच तथा वर्गीकरण का कार्य करती है। यह संस्था न्यू यार्क के रोरिक म्यूजियम की शाखा है। और उस का उद्देश्य मुख्यतः मध्य एशिया के प्रदेशों मे खोज करना, और वहाँ से उपलब्ध ज्ञान का संसार के कल्याण के हित उपयोग करना है। मध्य एशियाई प्रदेश अन्वेषक और वैज्ञानिक के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण क्षेत्र हैं।

उरुस्वती हिमालयन रिसर्च इंस्टिट्यूट

यद्यपि उरुस्वती हिमालयन इंस्टिट्यूट का मुख्य उद्देश्य मध्य एशिया का अनुसंधान करना है, तो भी इस अनुसंधान में समस्त एशिया पर ध्यान रक्खा जाता है और हिंदुस्तान-विषयक बातों का अनुसंधान उस के उद्देश्यों के

अंतर्गत है रोरिक महोदय का हिंदुस्तान से बहुत प्रेम है और यह कम हर्ष की बात नहीं कि उन की यह संस्था हिंदुस्तान की सीमा के भीतर स्थित है

इस संस्था के सभापति रोरिक महोदय ही हैं। उन्हों ने तथा उन की धर्मपत्नी मैडम हेलेना रोरिक ने इस संस्था के लिए भूमि और इमारतें अपने धन से अर्पण की हैं। इस का व्यय रोरिक म्यूज़ियम के फंड से प्राप्त वार्षिक प्रदान से तथा व्यक्तिगत दानों से चलता है।

संस्था में पुरातत्व, प्राकृतिक विज्ञान, भैषज-विज्ञान, वनस्पतिशास्त्र, प्राणिशास्त्र, रसायनशास्त्र, भौतिक विज्ञान आदि विषयों में बराबर अनुसंधान हो रहे हैं। उस के साथ एक संग्रहालय तथा अनुसंधान के लिए पुस्तकालय भी संमिलित है।

यहाँ से 'उरुस्वती जर्नल' नाम का एक वार्षिक भी प्रकाशित होता है जिस में मुख्यतः अनुसंधान-विषयक मौलिक पत्र प्रकाशित होते हैं और संस्था के वर्ष भर के कार्य का विवरण रहता है।

गत वर्ष का वार्षिक विवरण देखने से पता चलता है कि संस्था की ओर से लाहुल या पश्चिमी तिब्बत के अनुसंधान पर विशेष ध्यान दिया गया। प्रोफेसर रोरिक के सुपुत्र डाक्टर जार्जेस रोरिक ने तिब्बती भाषा का बड़ा अच्छा मनन किया है। उन्हों ने तिब्बत के लाहुल प्रदेश की बोली पर एक सुंदर विशद ग्रंथ भी लिखा है। अंग्रेज़ी-भोट डिक्शनरी का भी संकलन हो रहा है और एक ग्रंथमाला का प्रकाशन आरंभ हो गया है, जिस के द्वारा तिब्बती भाषा और साहित्य का अध्ययन और प्रकाशन होगा। वनस्पतियों और पशु-पक्षियों का भी संग्रह हुआ है और यह विभिन्न संग्रह अमरीका में प्रदर्शित हुए हैं और इन्हों ने वैज्ञानिकों में बड़ा मनोरंजन उत्पन्न किया है। भोट और हिमालय की औषधों तथा जड़ी-बूटियों पर भी खोज जारी है और उन के गुणों से संसार को परिचित कराने का प्रयत्न हो रहा है। सारांश यह कि मध्य एशिया के चिर-रक्षित रहस्यों का मथन हो रहा है और वहाँ से लोकहितकर बातों की जानकारी प्राप्त की जा रही है। चित्र, मूर्तियाँ, हस्त-लिखित पुस्तकें आदि अनेक वस्तुएँ संग्रह की जा रही हैं। और सब से बड़ी

बात यह है कि महाशय रोरिक, जिन की अध्यक्षता में यह सब कार्य हो रहा है, स्वयं तिब्बत तथा हिमालय-संबंधी अनेक चित्र तैयार कर रहे हैं, जिन के द्वारा मध्य एशिया को आत्मा से मानों वह पाश्चात्य का परिचय करा रहे हैं। संस्कृति के प्रचार की दृष्टि से यह कार्य अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

रोरिक महोदय के चित्र, जैसा बताया जा चुका है, संख्या में इतने अधिक तथा इतनी जगहों मे फैले हुए हैं कि उन के विषय में पूरा परिचय प्राप्त करना दुस्तर है। इस के अतिरिक्त उन के चित्रों के निर्माण-काल में भी एक दूसरे के बीच बहुत अतर है। इस कारण उन के सपूर्णतया अध्ययन मे बड़ी कठिनाई होती है।

रोरिक के चित्र

परंतु कला के पारखी, जिन्हों ने रोरिक के समग्र चित्रों का मनन किया है, एक मुख से कहते हैं कि रोरिक का स्थान न केवल रूसी चित्रकला के इतिहास में महत्त्वपूर्ण है वरन् संसार के चित्रकला के इतिहास मे भी। रोरिक महोदय यद्यपि रूस के निवासी हैं, उन की चित्रकला किसी रूसी चित्र-परंपरा के अंतर्गत नहीं आती। वह अपनी विशेष शैली—जो अब 'रोरिक शैली' के नाम से प्रसिद्ध है—के निर्माता हैं। सर्ज अर्न्स्ट, रोरिक के विषय मे लिखी हुई अपनी पुस्तक मे कहते हैं—"सामयिक रूसी चित्रकला के इतिहास में, रोरिक का व्यक्तित्व, इस क्षेत्र की पूर्वकृतियों के क्रम को देखते हुए बिल्कुल स्वतंत्र, मौलिक और आशातीत है।" स्पेन के प्रसिद्ध चित्रकार जुलोआगा ने इस मौलिकता के अतिरिक्त चित्रों की सार्वलौकिकता तथा भविष्य के प्रभाव का भी अनुभव किया है। वह लिखते हैं—"महान कलाकार! हमें इस बात का प्रमाण मिल रहा है कि रूस से कोई शक्ति ससार में आ रही है। मैं उस का अनुमान नहीं करता, उस का वर्णन नहीं कर सकता लेकिन वह यहाँ है अवश्य।"

यदि रोरिक की चित्रकला का प्रथम गुण उस की मौलिकता है तो दूसरा गुण उस की सार्वलौकिकता अवश्य है। चित्रों के विषय मे यह कहा जाता है कि उन की भाषा सार्वलौकिक होती है। रोरिक के चित्र इस साधारण अर्थ में सार्वलौकिक नहीं। यदि हम रोरिक महोदय के चित्रों के शीर्षक ही जान

ल तो हमें यह पता लग जायगा कि वह किसी एक देश के नहीं हैं किसी एक वर्ग या सम्प्रदाय के नहीं हैं सारे संसार से उन के चित्रों के विषय संकलित हैं, सभी धर्मों पर उन की श्रद्धा है। लोकहित ही उन की अनन्य प्रेरणा है। मध्य-एशियाई यात्रा के अवसर पर चित्रित उन की चित्रमाला 'प्राच्य की महान गाथाएँ' नाम से प्रसिद्ध है। इस के अतिरिक्त उन की कुछ प्रसिद्ध चित्र-मालाएँ यह हैं—'विज़डम सीरीज़' (ज्ञान चित्र-माला) 'बैनर अव् दि ईस्ट सीरीज़' (प्राच्य-पताका चित्रमाला) 'चंगेज़ खाँ सीरीज़', 'डाटर्स अव् दि अर्थ सीरीज़' (पृथिवी की कन्याएँ), देश सीरीज़। केवल 'विज़डम सीरीज़' और 'बैनर्स अव् दि ईस्ट सीरीज़' के चित्रों के कुछ शीर्षकों से उपरोक्त सार्वलौकिकता का अनुमान हो जायगा। यह शीर्षक है—'आग की कलियाँ', 'चिंतामणि', 'पथ-प्रदर्शिका', 'संसार की माता', 'विजेता बुद्ध' 'ईसा का चिह्न', 'लाओ-त्सी' 'नेता मूसा', 'पद्मसंभव', 'हिरा पहाड़ पर मुहम्मद' 'न्यायप्रिय कन्फ्यूसियस', 'मैत्रेय', 'कृष्ण', 'भगवान', 'सर्पों का विजेता नागार्जुन' 'स्वामी का आदेश'। इन सभी चित्रों में एक सूक्ष्म दृष्टि, विस्तृत मनन तथा व्यापक सहानुभूति परिलक्षित है।

रोरिक की सार्वलौकिकता का रहस्य कदाचित् उस की अध्यात्मिकता में है। एक आलोचक का कहना है कि "जहाँ कुछ कला-प्रेमियों में, रोरिक के चित्र, अपने रंगों की व्यवस्था तथा आकृतियों के कारण श्रद्धा उत्पन्न करते हैं, वहाँ औरों के लिए यह आंतरिक चिंतन के आधार-स्वरूप बन जाते हैं।" रोरिक के केवल थोड़े से चित्रों के देखने वाले के लिए भी उस कथन की सचाई स्वयं प्रकट हो जायगी। इन चित्रों द्वारा हम जीवन तथा प्रकृति के उपासक एक रहस्यवादी से परिचय प्राप्त करते हैं।

रंगों की सजावट के विषय में तो कहना ही क्या है! रोरिक रंगों के जादूगर बताए गए हैं। इस लेख के साथ दिए हुए चित्र हमें कलाकार की रंगों की व्यवस्था का परिचय कराने में बिल्कुल असमर्थ हैं। चीन देश के कला के पारखियों ने रोरिक महोदय का अभिनंदन करते हुए कहा था कि "आप शब्द और छाया के चित्रण की सामर्थ्य रखते हैं।" अन्य आलोचकों ने बताया है कि रोरिक के चित्रों में हमें एक चतुर्थ-परिमाण के गुण मिलते





'महत्-ज्वाल'

है। इतना प्रभाव रोरिक महोदय निस्संदेह रंगों की चमत्कारिक व्यवस्था के कारण ही उत्पन्न कर सके हैं।

रोरिक का शिल्पज्ञान भी बहुत विस्तृत है। आप ने विविध प्रकार के चित्रपटों का तथा रंग के माध्यमों का प्रयोग किया है। अपने महान अनुभव द्वारा अब आपने अपने लिए रंगों के मेल बना लिए हैं। तौ भी नए माध्यमों में प्रयोग करने के लिए आप सदा तैयार रहते हैं और अपनी तिब्बत-यात्रा मे आप ने वहाँ के प्राचीन शैली के माध्यमों का अध्ययन किया है।

रोरिक के ज्ञान, मनन और पारदर्शिता का निदर्शन हमें कुछ ऐसे चित्रों में मिलता है जिन मे उन्हों ने एक प्रकार से भविष्यवाणी की है। ऐसे बहुत मे लोग है, जो यह देखते रहते हैं कि आजकल रोरिक महोदय क्या विषय चित्रित कर रहे हैं। उन का कहना है कि हमे रोरिक के चित्रों मे भविष्य मे आने वाली घटनाओं के संकेत मिलते हैं। रोरिक-संबंधी साहित्य में इस बात का कई स्थलों पर वर्णन आया है कि सन् १९१३ तथा १९१४ के आरंभ में रोरिक ने जो रचनाएँ की थीं उन में जगद्व्यापी महायुद्ध की भविष्यवाणी थी। रोरिक के कुछ भक्तों ने तो १८९७ से लेकर १९३२ तक की उन की रचनाओं में से शीर्षक चुन कर, चित्रों की व्याख्या करते हुए बताया है कि हमे आगे आने वाली घटनाओं के लाक्षणिक संकेत चित्रों में मिलते रहे हैं। इधर 'सैंक्टा प्रोटेक्ट्रिक्स' तथा हिमालय के हाल के चित्रों में, बताया गया है कि हमे कलाकार की उस मनोवेदना की सूचना मिलती है, जो किसी महान लोक-संकट के भय से उस में उत्पन्न हुई है और जिस से कला की सामग्रियों तथा संस्कृतियों के विच्छिन्न होने की उसे आशंका हो गई है। इस संकट के निवारण के लिए ही उस ने शांति-पैक्ट तथा प्रसिद्ध रोरिक शांति-पताका की आयोजना की है, जिस का परिचय हम आगे देंगे।

रोरिक के चित्र अधिकांश लाक्षणिक हैं। उन की महत्ता इस बात मे है कि वह हमें 'सत्यं शिवं सुंदरम्' का प्राचीन पाठ पुनः सिखाते हैं। यद्यपि, जैसा कहा गया है वह हमें किसी आने वाले महान संकट की सूचना देते हैं, वह हमे हताश नहीं करते। इस के प्रत्युत हमें इस संकट के वातावरण में भी

एक आश्वासन प्राप्त होता है हम यह कह सकते है कि संकट समय की विशालता देखते हुए, क्षणिक है और भविष्य सुरक्षित है

हमारे लिए यह हार्दिक हर्ष का विषय है, कि इस प्रांत में बनारस तथा इलाहाबाद में, दो ऐसे 'हॉल' खुल गए हैं जिन में कि रोरिक महोदय के हाथ के अंकित असली चित्र प्रदर्शित हैं। बनारस में तो राय कृष्णदास जी के सदुद्योग से कलाभवन के लिए बारह बड़े चित्र पट प्राप्त हुए हैं। उतनी ही संख्या में, इलाहाबाद के म्यूनिसिपल म्यूज़ियम के लिए भी पंडित ब्रजमोहन व्यास जी के सदुद्योग से चित्रपट उपलब्ध हुए हैं। इन दोनों स्थानों के चित्रों को यदि हम देखें तो इस जगत्प्रसिद्ध कलाकार की शैली से परिचय प्राप्त कर सकेंगे, और किंचित् अंश में उस की सार्वलौकिक प्रतिभा का भी अनुमान कर सकेंगे।

बनारस और इलाहाबाद में रोरिक हॉल की स्थापना

बनारस के चित्रों में कुछ के शीर्षक यह हैं :—

'नेता का भाग्य-नक्षत्र', 'दाता-बुद्ध', 'श्री भगवान्', 'चरक', 'कल्कि अवतार', 'त्रिरत्न' तथा 'मैत्रेय'। इन के अतिरिक्त अन्य चित्रों में हिमालय तथा तिब्बत के विशाल दृश्य चित्रित हैं।

'नेता का भाग्य-नक्षत्र' मध्य रात्रि की गंभीरता तथा नीलिमा प्रदर्शित करता है। इस समय जीव-जंतु तो क्या पहाड़ तक गहरी नींद में डूबे जान पड़ते हैं। एक होनहार बालक जिस का केवल छायांश हमें दिखाई पड़ रहा है आकाश में अपने ज्योतिर्मान भाग्य-नक्षत्र का एक-टक अवलोकन कर रहा है और उस से जीवन-संदेश प्राप्त कर रहा है।

'दाता बुद्ध' नीलिम-धूमिल सूर्यास्त के रंगों में चित्रित चित्र है। इस में भगवान् बुद्ध के एक यात्री से भेंट करने की कथा अंकित है।

'श्री भगवान्' चित्र स्वामी रामकृष्ण को समर्पित है। इस में भगवान् 'ओम्' का चिह्न ले कर हिमाच्छादित गिरि-शिखर से उतर कर त्रस्त संसार के समीप जाते हुए दिखाए गए हैं।

'कल्कि अवतार' में रोरिक हिमालय की पर्वत-श्रेणी के ऊपर जाज्वल्य बादल-दल के भीतर से उठते हुए अवतार की बहुत गहरे रंगों में कल्पना करते हैं।

'चरक' शीर्षक चित्र में, प्रसिद्ध आयुर्वेदिक भिषक, हिमालय की उच्च-भूमि में मूल्यवान जड़ी-बूटियों को एकत्र तथा खोज करते हुए दिखाए गए हैं। इस चित्र में बड़ी सुंदर सघन नील आभा दिखाई पड़ती है।

'मैत्रेय' में ऋषि, पश्चिमी तिब्बत, लाहुल मे, साधना में रत दिखाए गए हैं।

'त्रिरत्न' में एक घायल हिरन के ऋषि की रक्षा प्राप्त करने की गाथा चित्रित है। यह चित्र गहरे ताम्र रंग के आवरण में दिखाया गया है।

इलाहाबाद के चित्रों में भी हिमालय-चित्रण की प्रधानता है। अधिकांश चित्रों के शीर्षक इस प्रकार हैं—'पवित्र मेषपाल' 'शंबला-संदेश', 'ज्योति अंधकार पर विजय प्राप्त करती है', 'अर्हत', 'व्यास कुंड', 'गूगा चौहान और नरसिंह', 'मैत्रेय', तथा 'वह जो हमें मार्ग प्रदर्शित करती है'।

'पवित्र मेषपाल' प्राचीन स्लैव-जातीय परंपरा के लेल का चित्रण करता है। इस स्लैव-जातीय लेल में और हमारे श्रीकृष्ण में कितनी समानता है! यदि विशेष ध्यान दे कर न देखें तो लेल का चित्र श्रीकृष्ण के चित्र से अभिन्न जान पड़ेगा। लेल के दो चर कुपव और स्नेगुरोचक कृष्ण की गोपियों के स्थान पर हैं। गायों के स्थान पर हम भेड़ें पावेंगे। मुद्रा बिल्कुल श्रीकृष्ण सी है, यहाँ तक कि जैसा बताया है, लेल के श्रीकृष्ण होने का धोखा हो जाता है। यह बहुरंगी चित्र प्रशांत ग्रामीण जीवन की झलक दिखाता है। इस चित्र में संध्या का वातावरण उपस्थित है।

'शंबला-संदेश' उपरोक्त चित्र से बिल्कुल भिन्न है। इस में सूर्योदय के रंग मिलेंगे। एक अज्ञात दूत पहाड़ के गभीरगर्त को पार करनेवाला तीर फेंकता है। इस तीर की नोक पर संदेश लगा हुआ है और यह सूर्य की प्रथम किरणों से चुंबित एक पहाड़ी मठ में पहुँचता है। इस प्रकार के चित्रों का चित्रण केवल

वही कर सकता है जिस ने तिब्बत में स्वय अपना समय व्यतीत किया हो और जो प्रभात का मर्म हो।

'ज्योति अंधकार पर विजय प्राप्त करती है' शीर्षक चित्र में एक बहुत पुराना विषय ग्रहण किया गया है अर्थात् ज्योति और तमस का द्वंद्व। इस मे ज्योति की आत्मा का साकार नेता अंधकार-रूपी दानव का दमन करता हुआ दिखाया गया है। चमकीला रक्तवर्ण एक महान संघर्ष का वातावरण उपस्थित करता है। रोरिक महोदय के अन्य अनेक चित्रों की भाँति यह लाक्षणिक है। यह चित्र गोलाकार है।

'अर्हत' का चित्र भी लाक्षणिक है। परंतु विषय, वातावरण और रंगों का विभाग अलग हैं। उपरोक्त चित्र में दिखाया हुआ संघर्ष व्यतीत हो चुका है। अर्हत पर्वत की शिला पर गुफा-मुख पर आसीन एक महत्कल्पना मे लीन है। दानव इस में भी उपस्थित है। गिरिद्वार की रक्षा कर रहा है। अर्हत उस की अवश्यंभावी उपस्थिति का ज्ञान रखता है, परंतु वह अविचलित है। उस ने प्रकाश प्राप्त कर लिया है और प्रशांत है। वह जानता है कि दानव मे उस की शांति के भंग करने की सामर्थ्य नहीं है।

रोहतंग के दुर्गम दर्रे मे, महाभारत के विख्यात संकलनकर्ता व्यास का निवास-स्थान कहा जाता है। यहीं पर, चित्र मे अंकित 'व्यास कुंड' है। चित्रकार इस प्रकार के पवित्र स्थलों की यात्रा में अपना बहुत समय व्यतीत करता है। इस चित्र में हिमालय की गोद में स्थित एक पुनीत और रमणीक स्थल हमारे संमुख प्रस्तुत किया है।

'गूगा चौहान और नरसिंह' कुलू की घाटी के संरक्षक माने जाते है। यह वही इतिहास-प्रसिद्ध घाटी है, जिस के साथ पांडव अर्जुन तथा मनु के नाम संबद्ध है। इसी घाटी मे चित्रकार ने, इन्हीं देवदारु के वृक्षों के बीच अपने उरुस्वती हिमालयन रिसर्च इंस्टिट्यूट की स्थापना की है। यहीं से आगे के रोहतंग दर्रे के दर्शन होते हैं और यहीं से तिब्बत तथा कैलास तथा अन्य पवित्र स्थानों के लिए जाने के मार्ग हैं।

'मैत्रेय' कलाकार की कल्पना का एक प्रिय पात्र है। मैत्रेय के संबध में रोरिक ने कई चित्र बनाए हैं और ऐसे एक चित्र का बनारस के चित्रों के संबंध मे वर्णन आ चुका है। अतिशीत वायु के कारण हिमाच्छादित पहाड़ों के मार्गों पर, भविष्य के स्वामी ऋषि मैत्रेय की विशाल प्रतिमा प्राप्त होती है।

'वह जो मार्ग प्रदर्शित करती है' एक ऐसी देवी की कल्पना है जो यात्रियों को हिमावृत पर्वत शृंगों पर पहुँचने मे मार्ग-प्रदर्शित करती है। यह चित्र भी लाक्षणिक है। हिम-नील-मिश्रित धवल रंगों में यह चित्र दिखाया गया है। पहाड़ की चट्टानें नीचे रह गई हैं। केवल प्रकाश और हिम के प्रदेश में यह देवी यात्री की सहायक बनी है। उस के हलके धूमिल वस्त्र नील-धवल हिम के बीच किंचित् चमकते हैं। यद्यपि यह चित्र छोटे चित्रपट पर है, इस के चित्रण की पटुता हृदय में विशाल हिम-प्रदेश को प्रविष्ट सा करा देती है।

इन सभी चित्रों मे हमे हिमालय की विशालता के साथ, एक उसी के समान महान खोज और उद्योग की कामना अंतर्हित जान पड़ती है।

रोरिक का हिमालय-चित्रण

रोरिक के हिमालय-चित्रण के विषय में यथार्थ-रूप से यह कहा गया है आज तक संसार के किसी चित्रकार ने हिमालय का चित्रण इतनी पटुता, इतनी गहन दृष्टि और इतनी विशेषता के साथ नही किया है। जिस समय हम इतने विस्तृत भूखड तथा आकाश-मंडल के बहु-संख्यक चित्र देखते हैं उस समय हमारे भीतर मानो हिमांचल की आत्मा प्रवेश करने लगती है और हम उसे देखते हुए तन्मय हो जाते हैं। इन विशाल प्राकृतिक दृश्यों को देख कर हमारे मन में यक्षों और किन्नरों की क्रीड़ा भूमि की सहज कल्पना जागृत होती है। इसी संबध मे श्रीयुत असितकुमार हल्दार कहते हैं कि—"प्राची की यथार्थ कल्पना, जिस का लाक्षणिक आकार हमें विशद हिमालय में प्राप्त होता है, वास्तव में आधुनिक जगत के श्रेष्ठतम रचनात्मक दार्शनिक द्वारा अनुभूत हुई है। वह है कलाकार निकोलस रोरिक। उन्हों ने प्रकृति तथा मानव के गुह्य रहस्यों का सार खींच निकाला है और परदे के भीतर के अनंत जीवन को पहचाना है। उन्हों ने इसी जीवन मे परम आनंद प्राप्त किया—वह आनंद नहीं जो कि

भौमिक वस्तुओं से प्राप्त होता है वरन् वह आनंद जो कि अनंत में स्थित है इस प्रकार हम उन्हें उत्कृष्ट चिंतन तथा दैवी प्रेरणाओं का आगार, तथा गहन और संस्कृत अपार शक्ति का केंद्र कह सकते हैं।"

रोरिक महोदय के जीवन तथा उन की कृतियों से परिचय रखने वाले इसे बिल्कुल अत्युक्ति न समझेंगे। रोरिक ने एक स्थल पर लिखा है:—

"यह सभी जानते हैं कि साधु लोग पहाड़ों की चोटियों पर रहते हैं। इन शृंगों पर ज्ञान की ज्योति प्राप्त होती है। उच्च शिखरों पर गुफाओं में ऋषि निवास करते हैं। यहाँ से नदियों का उद्गम होता है, यहाँ अनंतकाल से हिम अपनी धवलता की रक्षा कर रहा है......अपनी कठिनाइयों के कारण ही पर्वत-पथ हमें आकर्षित करते हैं। यहाँ अघटित बात घटित होती है। यहाँ पर मनुष्यों के विचार परतत्त्व के चिंतन में लगते हैं।"

कलाकार के इन विचारों में ही हिमालय से अपनी असीम प्रेरणा प्राप्त करने का रहस्य प्रकट होता है।

रोरिक महोदय का कोई परिचय उन की जगत्प्रसिद्ध शांति-पताका का वर्णन किए बिना पूर्ण नहीं हो सकता। उन का यह कार्य उन के कला-संबंधी कार्यों का ही विस्तार समझना चाहिए। रोरिक युद्ध का विध्वंसकारी तांडव-नृत्य देख चुके हैं। उस के द्वारा संसार की महत्त्व-पूर्ण कला की वस्तुओं का नाश होते देखा है। इसी लिए भविष्य के युद्धों द्वारा वह संसार की कला तथा संस्कृति की निधियों के विनाश होने से आशंकित हैं। उन्हों ने इन की रक्षा के निमित्त एक पताका तैयार की है। उन का कहना है कि यह पताका कला और ज्ञान के भंडारों पर, धार्मिक और सांस्कृतिक स्मारक-चिह्नों पर तथा मानव-जाति की अन्य मूल्यवान निधियों पर फहराया जाय और जिन स्थानों पर यह शांति-पताका लहराती हो वह स्थल पवित्र तथा रक्षणीय समझे जायँ। उन्हें नष्ट करना या उन पर हाथ डालना एक अंतर्राष्ट्रीय अपराध समझा जाय। यदि संसार के विभिन्न राष्ट्र आगामी युद्धों में इस नियम का पालन करें तो मानव-जाति की संचित

रोरिक की शांति-पताका

निधियों की अनयास रक्षा हो सकेगी। यही नहीं, इन की रक्षा के उद्योग से जो सद्भावनाएं जागृत होंगी वह स्वयं युद्ध का अंत कर देंगी।

रोरिक महोदय का दृढ़ विश्वास है कि इस प्रकार की शांति-भावना जनता के हृदयों में प्रवेश करेगी। मानव-जाति की सांस्कृतिक निधियों की रक्षा का ध्यान रोरिक महोदय के मन में बहुत वर्षों से रहा है। सन् १९०४ मे, सेंट पीटर्सबर्ग के एक कला-समूह में व्याख्यान देते हुए आप ने इस विचार का प्रतिपादन किया था। इस के बाद ऐतिहासिक स्थलों तथा प्रसिद्ध मठों की विस्तृत यात्रा ने उन के इस विचार को दृढ़तर बनाया। सन् १९१४ मे आप ने सम्राट् निकोलस द्वितीय तथा ग्रांड ड्यूक निकोलस का ध्यान इस विषय पर दिलाया था।

अंत में, मध्य एशिया की पाँच वर्ष की यात्रा के बाद आप ने सन् १९२९ मे संसार के समस्त राष्ट्रों का ध्यान कला और ज्ञान की निधियों की रक्षा की ओर दिलाया। इस बार उन्हों ने अपने प्रस्ताव को व्यवहारिक रूप दिया। अपनी बनाई शांति-पताका प्रस्तुत की और पेरिस यूनिवर्सिटी के प्रसिद्ध विद्वान डाक्टर श्लावेर द्वारा तैयार करा के अपने प्रसिद्ध 'पैक्ट' या नियम-पत्र का प्रकाशन किया। इस पैक्ट का उद्देश्य है कि शिक्षा, कला तथा विज्ञान-संबधी संस्थायें तथा आयोजन, उन में लगे कार्यकर्ता, उन की निधि तथा संग्रह युद्ध-काल में अप्रतिद्वंदी की भाँति समझे जायँ और प्रतिद्वंदी राष्ट्र उन्हे किसी प्रकार न छेड़ें।

यह पैक्ट सन् १९३० में 'लीग अव् नेशन्श' की 'म्यूज़ियम कमिटी' के सामने पेश हुआ और एक स्वर से पसंद किया गया। उसी वर्ष न्यू यार्क तथा पेरिस में इस पैक्ट के उद्देश्यों के प्रचारार्थ समितियाँ स्थापित हुईं। अब तक इस पैक्ट के संबंध में तथा उस के उद्देश्यों के प्रचारार्थ तीन महासभायें हो चुकी हैं। पहिली दो सभाएँ तो बेल्जियम के ब्रुजेस नगर में १९३१ तथा १९३२ में हुई थीं। तीसरी सभा विगत नवंबर में अमरीका के वाशिंगटन नगर में हुई। बीस से ऊपर राष्ट्र इस पैक्ट पर हस्ताक्षर कर चुके हैं और इस प्रकार निकोलस रोरिक का शांति-कार्य संसार में अग्रसर हो रहा है।

रोरिक महोदय का कहना है कि 'हमारी कला और विज्ञान के अनमोल रत्न कितने और कहाँ हैं, इस की भी कोई सूची संसार में मौजूद नहीं। यह शांति-पताका इन सार्वलौकिक निधियों के प्रति लोगों के मन में श्रद्धा तथा संमान उपजावेगी। इस से उन की रक्षा का विचार उत्पन्न होगा। शांति-पताका का उद्देश्य केवल युद्ध-काल में ही इन निधियों की रक्षा करना नहीं है वरन् उन को शांति-समय में भी बचाना है। क्योंकि शांति के समय में भी अनेक प्राचीन स्मारक लोगों की उपेक्षा या जान बूझ कर किए कृत्यों से नष्ट होते रहते हैं।"

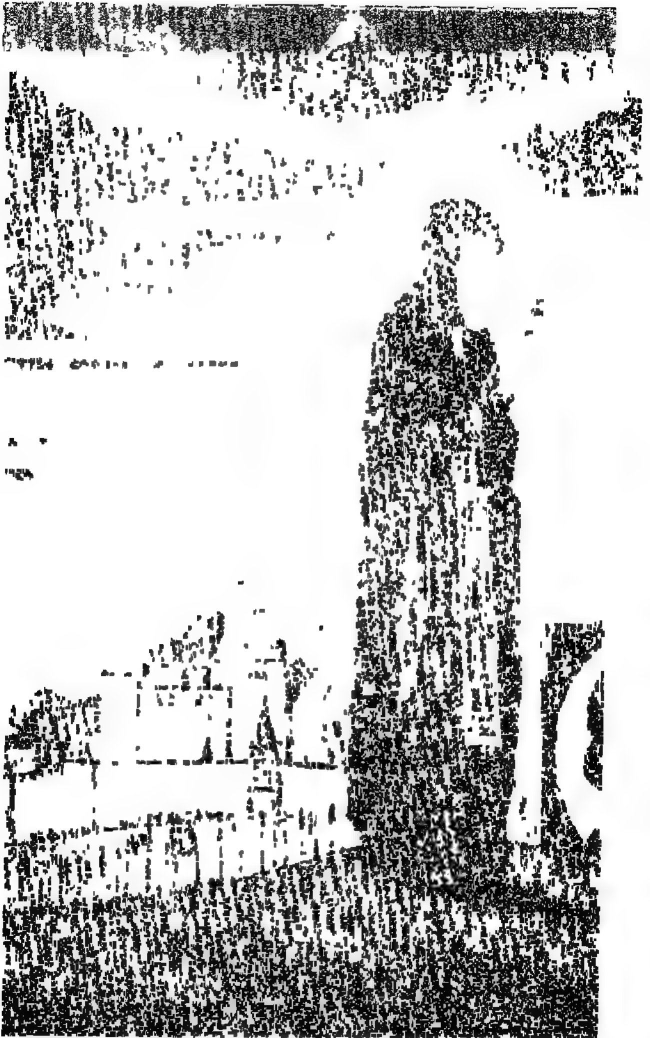
आधुनिक जगत में अंतर्राष्ट्रीय भ्रातृत्व का प्रचार करने वालों में निस्संदेह निकोलस रोरिक का स्थान विशेष आदरणीय है। पिछली वाशिंगटन कांफ्रेंस के विषय में आपने एक लेख लिखा था। उस के नीचे दिए अंतिम शब्दों में आप की प्रबल शांति-भावना प्रकट होती है :—

"वास्तव में मानवता विनाश, विध्वंस के कार्यों से थक गई है। वस्तुतः रचनात्मक कार्य मानव-आत्मा का एक प्रधान गुण है। हमारे जीवन में उन सभी वस्तुओं को जो हमारी आत्मा को ऊपर उठाती हैं तथा पवित्र बनाती हैं मुख्य स्थान मिलना चाहिए।...जिस प्रकार रेडक्रास हमारे शारीरिक स्वास्थ्य का संरक्षक है उसी प्रकार हमारी शांति-पताका मानव-जाति के आध्यात्मिक स्वास्थ्य की रक्षा करे।"

इस छोटे-से परिचय में यह बात प्रकट हो गई होगी कि रोरिक महोदय में न केवल महान कल्पनाएँ हैं वरन् उन को कार्य-रूप में परिणत करने की साधना भी है। यदि वह अपने स्वप्नों को किंचिन्मात्र व्यवहारिक रूप दे सके हैं तो उस के कारण हैं उन के मन की असामान्य उदारता, और लोक के प्रति सहानुभूति।

उपसंहार

रोरिक महोदय का प्रत्येक परिचय अपूर्ण रहेगा। न केवल इस लिए कि उन का रचनात्मक कार्य विस्तृत और विविध है वरन् इस लिए भी कि उन में नित्य ही वृद्धि हो रही है। साथ ही खोजने वाले के लिए उन की कृतियों



'रूस के संरक्षक-संत'
(रोरिक महोदय की कृपा से)



'शांति-पताका'

(रोरिक महोदय की कृपा से)

में गहन से गहन अर्थ निहित हैं। ऐसा जान पड़ता है कि उन्हों ने विकास की आत्मा को पहचान लिया है और उस के साथ संगति प्राप्त कर ली है।

प्रसिद्ध अमरीकन लेखक क्लॉड ब्रैग्डन, रोरिक के विषय में लिखते हैं:—

"कला के इतिहास में समय समय पर ऐसे व्यक्तियों का आविर्भाव हुआ है, जिन की रचनाओं में एक विशेष, गहन और रहस्यमय गुण मिलता है, जो उन्हें अपने समसामयिकों से पृथक् करता है, जिस के कारण यह असंभव हो जाता है कि हम उन्हे किसी वर्ग में रख सकें। वह केवल अपनी भाँति होते हैं।......रोरिक अपने जीवन और कला में हमें ऐसे ही व्यक्ति दिखाई देते हैं।"

रोरिक कल्याण-मार्ग के सच्चे पथिक हैं। संसार की किसी वस्तु को वह अंतिम नहीं समझते, इसी लिए इतने बड़े रक्षा-कार्य में लगे रहते हुए भी वह भविष्य से भयभीत नहीं होते। उन का भविष्य में अतुल विश्वास है। उन का कहना है—"भविष्य अपना अस्तित्व रखता है, इसी लिए तो हमारा अस्तित्व है। परस्पर निंदा तथा भय दिलाने के लिए हमारा जन्म नहीं। यहाँ हम जन्म लेते हैं परिश्रम करने के लिए, ज्ञान और उत्सर्ग पाने के लिए।"

यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि भविष्य रोरिक की कृतियों का अधिकाधिक मूल्य करेगा।

हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

(१) मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था—लेखक, मिस्टर अब्दुल्लाह युसुफ अली, एम्० ए०, एल्-एल्० एम्० । मूल्य १।)

(२) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—लेखक, राय बहादुर महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा । सचित्र । मूल्य ३)

(३) कवि-रहस्य—लेखक, महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा । मूल्य १।)

(४) अरब और भारत के संबंध—लेखक, मौलाना सैयद सुलैमान साहब नदवी । अनुवादक, बाबू रामचंद्र वर्मा । मूल्य ४)

(५) हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता—लेखक, डाक्टर बेनीप्रसाद, एम्० ए०, पी-एच० डी, डी० एस्-सी० (लंदन) । मूल्य ६)

(६) जंतु-जगत—लेखक, बाबू ब्रजेश बहादुर, बी० ए०, एल्-एल्० बी० । सचित्र । मूल्य ६॥)

(७) गोस्वामी तुलसीदास—लेखक, राय बहादुर बाबू श्यामसुंदरदास और श्रीयुत पीतांबरदत्त बड़थ्वाल । सचित्र । मूल्य ३)

(८) सतसई-सप्तक—संग्रहकर्ता, राय बहादुर बाबू श्यामसुंदरदास । मूल्य ६)

(९) चर्म बनाने के सिद्धांत—लेखक, बाबू देवीदत्त अरोरा, बी० एस्-सी० । मूल्य ३)

(१०) हिंदी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट—संपादक, राय बहादुर लाला सीताराम, बी० ए० । मूल्य १॥)

(११) सौर-परिवार—लेखक, डाक्टर गोरखप्रसाद, डी० एस्-सी०, एफ्० आर० ए० एस्० । सचित्र । मूल्य १२)

(१२) अयोध्या का इतिहास—लेखक राय बहादुर लाला सीताराम, बी० ए० । सचित्र । मूल्य ३)

(१३) घाघ और भड्डरी—संपादक, पंडित रामनरेश त्रिपाठी । मूल्य ३)

(१४) वेलि क्रिसन रुकमणी री—संपादक, ठाकुर रामसिंह, एम्० ए० और श्री सूर्यकरण पारीक, एम्० ए० । मूल्य ६)

(१५) चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—लेखक, श्रीयुत गंगाप्रसाद मेहता, एम्० ए० । सचित्र । मूल्य ३)

(१६) भोजराज—लेखक, श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेउ । मूल्य ३॥) सजिल्द, ३) बिना जिल्द ।

(१७) हिंदी उर्दू या हिंदुस्तानी—लेखक, श्रीयुत पंडित पद्मसिंह शर्मा । मूल्य सजिल्द १॥), बिना जिल्द १)

(१८) नातन—लेसिंग के जर्मन नाटक का अनुवाद । अनुवादक—मिर्ज़ा अबुलफ़ज़्ल । मूल्य १।)

(१९) हिंदी भाषा का इतिहास—लेखक, श्रीयुत धीरेंद्र वर्मा, एम्० ए० । मूल्य सजिल्द ४), बिना जिल्द ३॥)

(२०) औद्योगिक तथा व्यापारिक भूगोल—लेखक, श्रीयुत शंकरसहाय सक्सेना । मूल्य सजिल्द ५॥), बिना जिल्द ५)

(२१) ग्रामीय, अर्थशास्त्र—लेखक, श्रीयुत ब्रजगोपाल भटनागर एम्० ए० । मूल्य ४॥) सजिल्द, ४) बिना जिल्द ।

हिंदुस्तानी

तिमाही पत्रिका

की पहिले तीन वर्ष की कुछ फाइलें अभी प्राप्त हो सकती हैं । मूल्य पहिले वर्ष का ८) तथा दूसरे और तीसरे वर्ष का ५) ।

प्रकाशक

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

सोल एजेंट

इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग ४ } अप्रैल १९३४ { अंक २

पालि भाषा

[लेखक—डाक्टर बाबूराम सक्सेना, एम्० ए०, डी० लिट् (इलाहाबाद)]

प्राचीन बौद्ध साहित्य प्रायः दो भाषाओं में मिलता है—संस्कृत तथा पालि। संस्कृत ग्रंथों का प्रचार बहुधा नेपाल, तिब्बत, बंग आदि देशों के बौद्धों में पाया जाता है और पालि ग्रंथों का सिंहलद्वीप, ब्रह्म देश तथा स्याम में। सिंहलद्वीप की आजकल की बोलचाल की भाषा सिंहली, आर्यभाषा परिवार की है, पर ब्रह्म देश और स्याम की भाषाएँ आर्येतर परिवारों की हैं। परंतु शिक्षित समुदाय पालि भाषा का विशेष अध्ययन करते हैं और उन के लिए पालि वही महत्व और गौरव रखती है जो भारतीय हिंदुओं के लिए संस्कृत। पालि भाषा के ग्रंथ बहुधा सिंहली, ब्राह्मी तथा स्यामी लिपि में मिलते हैं। यूरोप के विद्वानों ने उन के रोमन लिपि के संस्करण प्रचलित किए हैं, जिन के द्वारा ही विशेष कर भारतीय विद्यार्थी इस भाषा का अध्ययन करते हैं। इधर धम्मपद आदि दो-एक सर्वसाधारण ग्रंथों के देवनागरी संस्करण भी प्रकाशित हो गए हैं।

'पालि' शब्द का प्रयोग पालि ग्रंथों में सर्वप्रथम इतिहास-ग्रंथों तथा

टीकाओं में मिलता है[1] और वहाँ इस का अर्थ कोई भाषा नहीं है अर्थ है 'मूल', 'बुद्धवचन', 'धर्मप्रवचन'। ऐसे स्थलों में इस अर्थ का विरोध 'अर्थकथा—टीका' से दिखाया गया है। उदाहरण के लिए 'महावंस' नाम के सिंहलद्वीप के इतिहास में रेवत थेर ने बुद्धघोष से कहा—

पालिमत्तमिधानीतं नत्थि अट्ठकथा इध

'यहाँ (सिंहलद्वीप से) पालिमात्र लाई गई है यहाँ अर्थकथा (टीका) नहीं है'। जिस भाषा में यह ग्रंथ हैं उस को सिंहलद्वीप वासी '*मागधी*' कहते हैं। जैसे हिंदुओं का विश्वास है कि संस्कृत मनुष्य-जाति की आदिभाषा है, यहूदियों का विश्वास है कि हेब्रू परमेश्वर-प्रदत्त आदिभाषा है, जैनों का मत है कि 'आर्ष' ही प्राचीनतम भाषा है और इसे पशु-पक्षी भी समझ सकते हैं, उसी प्रकार बौद्धों का विचार है कि यह मागधी भाषा ही मूलभाषा है जिस के द्वारा ही प्रथम कल्प के मनुष्य, ब्राह्मण और सम्यक् संबुद्ध सभी अपना व्यवहार चलाते थे[2]। भाषाओं के इतिहास का साधारण ज्ञान रखने वाले भी यह समझ सकते हैं कि इन मतों का आधार केवल कपोलकल्पना और अंधविश्वास है, तर्कयुक्त अनुसंधान नहीं। संभव है भाषा के अर्थ में यूरोपीय विद्वानों ने ही पहले-पहल '*पालि*' शब्द का प्रयोग किया हो। आरंभ में इन्हीं विद्वानों ने अशोक के शिलालेखों और स्तंभलेखों में प्रयुक्त भाषा के लिए भी '*पालि*' शब्द का व्यवहार किया था। पर इन दोनों भाषाओं में मे यथेष्ट अंतर होने के कारण '*पालि*' शब्द का व्यवहार अब बौद्ध ग्रंथों की भाषा के ही लिए सीमित है।

पालि शब्द का अर्थ भी विद्वानों ने कई प्रकार किया है। बुद्धघोष

---

[1] 'पाली-इंग्लिश डिक्शनरी' (पाली टेक्स्ट सोसाइटी), 'पाली' शब्द देखिए।

[2] 'सा मागधी मूलभासा नरा यायादिकप्पिका।
ब्रह्माणो चस्सुतालापा संबुद्धा चापि भासरे॥'

—१२ वीं शताब्दी के एक व्याकरण से

आदि पालि ग्रंथों के प्राचीन टीकाकारों के मत के अनुसार *पालि* शब्द *पाल्* धातु से संबद्ध है, जिस का अर्थ है पालन करना और रक्षा करना। मैक्स वैलेसर नाम के एक विद्वान का विचार है कि *पालि पाटलि* शब्द का अपभ्रंश मात्र है और इसी से पालि भाषा को पाटलिपुत्र की भाषा बताते है, पर इस के लिए उन्हों ने कोई युक्तसगत प्रमाण नहीं दिए। *पाटलि* का अपभ्रंश रूप *पाडलि* अथवा *पाललि* हो सकता है *पालि* नहीं। *पालि* शब्द का बहुमान्य अर्थ '*पंक्ति, कतार*' लिया जाता है और इसे प्राचीन *पालि* तथा प्राकृत *पल्ली*[1] से सबद्ध माना जाता है।

पालि के ध्वनिसमूह के अध्ययन करने से पता चलता है कि वह प्राचीन संस्कृत और (महाराष्ट्री आदि साहित्यिक) प्राकृतों के बीच की भाषा है। प्राकृतों मे संस्कृत के दो स्वरों के बीच में आए हुए कुछ स्पर्श-वर्णों का प्रायः लोप हो जाता है, पर पालि मे नहीं; यथा पालि *गच्छति*, महाराष्ट्री *गच्छइ*। प्राकृतों मे सभी संयुक्त-वर्णों में कुछ विकृति पाई जाती है, पर पालि मे दो एक मे नहीं होती जैसे संस्कृत *ब्राह्मण*, पालि *ब्राम्हण*, प्राकृत *बम्हण*।

पालि भाषा के विषय में दो बातें विचारणीय हैं—(१) यह किस प्रदेश की भाषा थी और (२) किस समय बोली जाती थी।

प्रदेश के बारे में विद्वानों के भिन्न भिन्न मत हैं। कुछ लोग बौद्ध परंपरा के अनुसार इसे मगध देश की भाषा मानते हैं, पर इस के मानने मे बड़ी कठिनाइयाँ है। साहित्यिक प्राकृत मागधी की विशेषताएँ मुख्य तीन हैं—संस्कृत *ष् श् स्* के स्थान पर *श्*, *र्* के स्थान पर *ल्* और अकारांत संज्ञाओं के प्रथमा एकवचन का रूप एकारांत होना। पालि मे यह तीनों बातें यत्र-तत्र ही केवल अपवाद रूप में पाई जाती हैं, नियम रूप मे नहीं। यदि पालि मगध देश की ही भाषा रही होती तो कुछ न कुछ मागधी विशेषताएँ उस में पाई जातीं। इस का समाधान विडिश महोदय यह कह कर देते हैं कि जब किसी प्रदेश

---

[1] यथा गाथासप्तशती १. २१ 'पल्ली उण सा सुहं सुवइ।'

की बोली सर्वसाधारण की साहित्यिक भाषा हो जाती है तब वह अपनी प्रादेशिक विशेषताएँ त्याग देती है, पर यह समाधान युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। ग्रियर्सन महोदय भी पालि को मगध देश की समझते हैं और विंडिश महोदय के साथ सम्मति प्रकट करते हुए, पालि में पाई जाने वाली पश्चिमीय प्रदेशों की बोली की विशेषताओं का कारण तक्षशिला विद्यालय—जहाँ उन के मतानुसार उस समय पैशाची भाषा बोली जाती थी—का संपर्क और प्रभाव बताते हैं। पर पैशाची विशेषताएँ भी पालि में केवल यत्र-तत्र मिलती हैं और उन का भी सिल्वेन लेवी के मतानुसार कृत्रिम संस्कृत के प्रभाव से समाधान हो सकता है। ग्रियर्सन महोदय यह कह कर अपने प्रतिवादी कोनो महोदय के पैशाची भाषा के विंध्यप्रदेश-संबंधी उद्गम-स्थान का निराकरण करना चाहते थे।

प्रसिद्ध विद्वान स्वर्गीय रीज़ डेविड्ज़् के मत के अनुसार पालि प्राचीन कोसल देश की भाषा थी। उन का मत था कि ईसा के पूर्व सातवीं शताब्दी में कोसल राज्य पूर्ण रूप से स्थापित हो गया था और इसी प्रदेश की एक भाषा कोसली संस्कृत के मुक़ाबिले में खड़ी हो गई थी। बुद्ध भगवान इसी कोसल राज्य के निवासी थे और इसी प्रदेश की बोली बोलते थे और उन्हों ने इसी में अपने धर्म का प्रचार किया था। यही भाषा कालांतर में अशोक राजा के लेखों की भाषा अर्धमागधी हुई। पर एक तो इस प्रकार कोसल राज्य के साम्राज्य का तथा भाषा का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं और दूसरे अर्धमागधी और पालि में बहुत भेद है, इस कारण रीज़् डेविड्ज़् का मत भी ग्राह्य नहीं हो सकता। पीछे से इन्हीं महोदय ने पश्चिमी विशेषताओं का समाधान यह कह कर किया कि उज्जैन आदि किसी पश्चिमी प्रांत के अर्धमागधी रूप को ही पालि कहना चाहिए। गाइगर महोदय का भी मत है कि पालि अर्ध-मागधी का ही कोई रूप है।

ओल्डेनबर्ग तथा ई० मूलर महोदयों का मत था कि पालि पूर्वीय भारत से सिंहलद्वीप पहुँची और इसी कारण विशेष रूप से, तथा पालि भाषा की तुलना उड़ीसा प्रदेश के खारवेल के लेख से कर के, उन दोनों का मत था

कि पालि भाषा उड़ीसा प्रदेश की भाषा रही होगी।

कुह्न महोदय ने इस मत के आधार पर कि सिंहलद्वीप में बौद्ध धर्म का प्रचार अशोक के पुत्र (अथवा पौत्र) महेंद्र के द्वारा हुआ जो उज्जैन से गए थे, उज्जैन को ही पालि भाषा का स्थान बताया था। पीछे से फ्रांके महोदय ने पालि की तुलना अशोक के शिलालेखों और स्तंभलेखों की भाषा से की। इन लेखों की भाषा का सूक्ष्म अध्ययन करने से पता चला कि भिन्न भिन्न प्रांतों में पाए जाने वाले लेखों की अलग अलग विशेषताएँ हैं और इस प्रकार पूर्वी, पश्चिमी आदि तीन चार प्रकार की बोलियाँ इन लेखों में पाई जाती हैं। फ्रांके के मत के अनुसार पालि कोई पश्चिमी बोली थी और संभव है कि वह उज्जैन की रही हो।

इन विभिन्न मतों में से कौन सा मत ग्रहण करना चाहिए? पालि के दो चार ग्रंथ पढ़ने से ही पता चल जाता है कि इस में यत्र-तत्र कई बोलियों का संमिश्रण है। तथापि इस के मूल में कोई भाषा अवश्य है, बोलियों की विशेषताएँ अपवाद स्वरूप हैं। यह मूलस्थित भाषा कौन है? गाइगर के मत से यह अर्धमागधी है पर अर्धमागधी की सब से बड़ी विशेषता अकारांत संज्ञाओं के प्रथमा एकवचन का एकारांत रूप (देवे, नरे आदि) पालि में अपवाद स्वरूप ही मिलते हैं; नियम से ओकारान्त रूप (देवो, नरो आदि) ही पाए जाते हैं। अर्धमागधी (विशेष रूप से जैन अर्धमागधी) के द्वितीया बहुवचन के पुंलिंग के रूप नपुंसकलिंग के समान (पुत्तकानि, वेदानि) होते थे। यह बात भी पालि में अपवाद स्वरूप ही पाई जाती है, नियम से एकारांत रूप (पुत्तके, वेदे) ही मिलते हैं।

अभी कुछ ही वर्ष हुए प्रोफेसर ल्यूडर्ज़ को, अश्वघोष के, प्राकृतों में लिखे, कुछ नाटकों के जीर्ण-शीर्ण पन्ने मिले हैं, जिन की अर्धमागधी की विशेषताएँ, प्रायः एकारांत प्रथमा एकवचन का रूप, र के स्थान में ल् स्वरों के बीच में न्, न ञ् न ण्, यह पाई जाती हैं। इस हिसाब से पालि की मूलभाषा अर्धमागधी नहीं। ल्यूडर्ज़ महोदय का मत है कि संभव है कि प्राचीन बौद्ध

ग्रंथ अर्धमागधी में रहे हों, जिन का बाद को किसी पश्चिमी साहित्यिक बोली में संस्करण किया गया हो।

धर्म-ग्रंथों का संस्करण होना कोई असंभव बात नहीं। जैन धर्म-ग्रंथों का इसी प्रकार एक संस्करण ईसवी पाँचवीं शताब्दी में देवर्द्धि गणी ने किया था। संभव है कि प्राचीन बौद्ध ग्रंथ भी जैन ग्रंथों की तरह अर्धमागधी में ही रहे हों। महावीर और बुद्ध दोनों अर्धमागध प्रदेश के निवासी थे। दोनों ने संस्कृत का बहिष्कार करके जनसाधारण के समझने योग्य भाषाओं में अपने अपने धर्म का प्रचार किया। इसी अर्धमागधी से कालांतर की साहित्यिक भाषा (उस समय की शौरसेनी के किसी रूप) में अनुवाद किया गया, यही मत उपयुक्त जान पड़ता है।

इस मत के साथ अन्य मतों का थोड़ा बहुत समाधान किया जा सकता है। पालि को अर्धमागधी या उस की बड़ी बहिन कोसली कहना युक्तिसंगत नहीं पर आदि धर्मग्रंथ इस अर्धमागधी में रहे होंगे, यह संभव है। सिंहलवासी इस को मागधी संभवतः इस कारण से ही कहते होंगे कि मगध प्रदेश से बुद्ध भगवान का बहुत संबंध रहा था अथवा इस कारण से कि उन के मत के अनुसार मगध के राजा अशोक के पुत्र महेंद्र द्वारा यह धर्म-पुस्तकें उन के यहाँ पहुँचीं। इस साहित्यिक भाषा पर पैशाची आदि बोलियों का भी प्रभाव पड़ा होगा।

अर्धमागधी से इस पालि भाषा में यह धर्मग्रंथ कब परिवर्तित अथवा अनुवादित हुए, इस के विषय में निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकते। सिंहलद्वीप के ऐतिहासिक बौद्ध ग्रंथों में उल्लेख आता है कि अशोक के समय में तृतीय बौद्ध संगीति हुई, पर इस का कोई प्रमाण अशोक के लेखों से नहीं मिलता। यह भी संदिग्ध ही है कि अशोक के समय में इन पालि ग्रंथों का प्रचार भी था। यदि उस के समय की यह साहित्यिक भाषा थी तो उस सम्राट् ने अपने लेखों में अर्धमागधी मूलभाषा का प्रयोग क्यों कराया ? अथवा अर्धमागधी के रहते हुए पालि में परिवर्तन की क्या आवश्यकता पड़ी ?

ध्वनियों के हिसाब से भी पालि अशोक की प्राकृतों से पुरानी नहीं

मालूम पड़ती। अशोक के उत्तर-पश्चिमी लेखों में संयुक्ताक्षर ष्ट, त्म तथा श्, ष्, स् तीनों ऊष्म-वर्ण पाए जाते है पर पालि में नहीं। पालि मे यत्र-तत्र दो वर्णों के बीच का स्पर्श-वर्ण अघोष न होकर घोषवत् मिलता है, जैसे *अग्गा-ळवी* (सं० *अग्राटवी*) और कहीं कहीं प्राकृतों की भाँति उस का लोप भी हो जाता है, यथा *कुसिनारा* (सं० *कुशी-नगर*)। प्रायः यह बात स्थानों के नामों मे विशेष रूप से है। इस से अनुमान होता है कि पालि सचमुच उतनी पुरानी भाषा नहीं है जितनी कि पहली बार देखने से जान पड़ती है। इन्हीं सब बातों का विचार कर, विद्वानों का मत है कि पालि भाषा ईसा के पूर्व के दो-सौ वर्षों से पुरानी नहीं हो सकती।

भारत के उस समय के इतिहास आदि पर अभी पूर्ण प्रकाश नहीं पड़ा है, इस लिए पूर्ण विश्वास से नहीं कहा जा सकता कि उस समय शौरसेनी के प्रदेश मे उस की कोई बड़ी बहिन इतनी प्रभावशालिनी थी अथवा नहीं, जिस मे बौद्धों को अपने धर्मग्रंथों के अनुवाद करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। पर ऐसा संभव अवश्य है। इसी प्रदेश से किसी समय साहित्यिक संस्कृत का प्रसार हुआ, फिर शौरसेनी प्राकृत का। इसी प्रदेश की भाषा हिंदी आज भारत की सब से अधिक महत्वशील भाषा है।

सूचना—इस विषय के अध्ययन के लिए नीचे लिखे ग्रंथ तथा लेख देखने चाहिए:—

फ़्रांके—पालि और संस्कृत (जर्मन)

गाइगर—पालि भाषा व साहित्य (जर्मन)

रीज़ डेविड्ज़्—पालि-अँगरेज़ी कोष (भूमिका मात्र)

चाइल्डर्ज़्—पालि कोष (भूमिका मात्र)

कीथ—पालि—दक्षिणी बौद्धों की भाषा (इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, १९२६)

'विनयपत्रिका' में सुरक्षित तुलसीदास के आध्यात्मिक विचार

[लेखक—श्रीयुत माताप्रसाद गुप्त, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०]

तुलसीदास के आध्यात्मिक विश्वासों का कुछ न कुछ परिचय तो उन की प्रत्येक रचना से मिल सकता है, किंतु उन का जितना यथातथ्य, स्पष्ट और बहुत कुछ पूर्ण परिचय हमें 'विनय-पत्रिका' के पदों से मिल सकता है उतना कदाचित् अन्य रचनाओं में से किसी से नहीं। इस का कारण भी प्रकट ही है। 'विनय-पत्रिका' के पदों में कवि ने बड़ी ही तन्मयता और आत्म-विस्मृति के साथ अपने समस्त उद्गारों को व्यक्त किया है। फिर भी, हम ने अभी तक इन पदों का इस संबंध में केवल इतना उपयोग किया है कि विशेषतः 'रामचरितमानस' के आधार पर तुलसीदास के दार्शनिक विचारों का विवेचन करते हुए एकाध स्थल पर 'विनय' के इन पदों के कुछ अंश उद्धृत कर देने की उदारता दिखाई है। फलतः, लेखक प्रस्तुत निबंध में केवल इन पदों में व्यक्त, कवि के आध्यात्मिक विश्वासों का यथा-शक्ति उसी के शब्दों में उल्लेख करने का प्रयास कर रहा है और आशा करता है कि विद्वानों का ध्यान इस ओर अवश्य आकर्षित होगा।

'अनविचार रमणीय सदा संसार भयंकर भारी' ॥१२१॥

हमारे आध्यात्मिक विश्वासों का प्रारंभ इसी अनुभव से होता है, कि साधारण दृष्टि से देखने पर जिस संसार को हम रमणीय समझते हैं, परिणाम में वह बड़ा ही भयंकर है—जिसे हम सुखप्रद समझते हैं, विचार करने पर वही निस्सार निकलता है—तृषार्त हो कर हम जल की खोज में निकलते हैं किंतु हमें मिलती है मृग-मरीचिका मात्र। इसी से हम और भी दुखित होते हैं—

मैं तोहि अब जान्यों संसार !

बाँधि न सकहि मोहि हरि के बल प्रगट कपट-आगार ॥
देखत ही कमनीय, कछू नाहिन पुनि किए बिचार ।
ज्यों कदली तरु मध्य निहारत कबहुँ न निकसत सार ॥
तेरे लिए जनम अनेक मैं फिरत न पायो पार ।
महा मोह मृग-जल सरिता महँ बोरयो हौं बारहि बार ॥१८८॥

यह रचना देखने में तो अत्यंत विचित्र है, यद्यपि परिणाम में बड़ी भयानक है। किंतु, स्वतः यह सत्य है या असत्य या अंशतः सत्य और अंशतः असत्य यह कहना कठिन है। तुलसीदास तो इन तीनों विचारों को भ्रम मात्र मानता है—

केसव, कहि न जाइ का कहिए ।

देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिए ॥
सून्य भीति पर चित्र रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे ।
धोए मिटै न मरै भीति दुख पाइय यहि तनु हेरे ॥
रबिकर नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माँहीं ।
बदन हीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं ॥
कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल करि मानै ।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै ॥१११॥

किंतु, इस संसार के हमारे लिए भयानक होने का कारण हमारा ही भ्रम अथवा अविवेक है, इस में संदेह नहीं—

हे हरि यह भ्रम की अधिकाई ।

देखत सुनत कहत समुझत संसय संदेह न जाई ॥
जो जग मृषा ताप त्रय अनुभव होहिं कहहु केहि लेखे ।
कहि न जाइ मृग वारि सत्य भ्रम तें दुख होइ बिसेखे ॥
सुभग सेज सोवत सपने बारिधि बूड़त भय लागै ।
कोटिहुँ नाव न पार पाव कोउ जब लगि आपु न जागै ॥१२१॥

अर्थ अविद्यमान जानिय संसृति नहिं जाइ गोसाईं ।
बिनु बाँधे निज हठ सठ परबस पर्यो कीर की नाईं ॥
सपने ब्याधि बिबिधि बाधा भइ मृत्यु उपस्थित आई ।
बैद्य अनेक उपाय करहिं जागे बिनु पीर न जाई ॥
सपने नृप कहँ घटै बिप्र बध बिकल फिरै अघ लागे ।
बाजि मेध सतकोटि करै नहिं सुद्ध होय बिनु जागे ॥
स्रग महँ सर्प बिपुल भयदायक प्रगट होइ अबिचारे ।
बहु आयुध धरि बल अनेक करि हारहिं मरै न मारे ॥
निज भ्रम तें रबिकर संभव सागर अति भय उपजावै ।
अवगाहत बोहित नौका चढ़ि कबहूँ पार न पावै ॥१२२॥

रस्सी को देख कर हमें सर्प का भ्रम होता है और हम भयभीत होते हैं, इस भय को दूर करने के दो उपाय हो सकते हैं—या तो रस्सी हमारे सामने से हट जावे या हमी अपनी चेतना को सँभाले। पहले की अपेक्षा दूसरे उपाय का प्रयोग ही अधिक श्रेयस्कर होगा, क्योंकि विना किसी स्थूल आधार के भी भ्रम का अस्तित्व संभव है, जैसे स्वप्न में हम समुद्र में डूबने की यातना का अनुभव करें—यहाँ पर रस्सी की भाँति कोई स्थूल-आधार नहीं है। फलतः संसार-त्याग अथवा कर्म-सन्यास की विशेष आवश्यकता नहीं है, वास्तविक आवश्यकता इस बात की है कि हम अपनी चेतना को जाग्रत करें। जो दुःख हम उठा रहे हैं, वह हमारे ही मन की मूढ़ता के कारण है। इसी मूढ़ मन के बहँकावे में आकर अनेक जन्म तक हम अपना दुःख रोते रहे! अभी तक हम ने किया ही क्या? कर्मों में आसक्त होकर उन के कीचड़ में हम अपनी चेतना को जो लिप्त करते रहे हैं, कहीं इस से भी वह निर्मल हो सकती है?

मोहिं मूढ़ मन बहुत बिगोयो ।
याके लिए सुनहु करुनामय मैं जग जनमि जनमि दुख रोयो ॥
सीतल मधुर पियूष सहज सुख निकटहिं रहत दूरि जनु खोयो ।
बहु भाँतिन स्रम करत मोह बस बृथहिं मंदमति बारि बिलोयो ॥

करम-कीच जिय जानि सानि चित चाहत कुटिल मलहिं मल धोयो।
तृषावंत सुरसरि बिहाय सठ फिरि फिरि बिकल अकास निचोयो॥
तुलसिदास प्रभु कृपा करहु अब मैं निज दोष कछू नहि गोयो।
डासत ही गई बीति निसा सब कबहुँ न नाथ नींद भरि सोयो॥२४५॥

इंद्रियों के विषयों में दिन रात भटकते हुए मेरे मन ने कभी विश्राम नही किया। यद्यपि इस बीच उसे दुःखो का ही सामना करना पड़ा फिर भी वह जान-बूझ कर उन से विरत न हुआ—अब तक तो चित्त को वह कर्म-कीच मे ही लिप्त करता रहा और उसे निर्मल करने की शक्ति जिस में है, उस विवेक-नीर की प्राप्ति का उस ने तनिक भी उद्योग नहीं किया—

कबहूँ मन बिश्राम न मान्यो।
निसि दिन भ्रमत बिसारि सहज सुख जहँ तहँ इन्द्रिन तान्यो॥
जदपि बिषय सँग सहे दुसह दुख बिषम जाल अरुझान्यो।
तदपि न तजत मूढ ममता बस जानत हूँ नहि जान्यो॥
जनम अनेक किए नाना बिधि करमकीच चित सान्यो।
होइ न बिमल बिबेक-नीर बिनु बेद पुरान बखान्यो॥
निज हित नाथ पिता गुरु हरि सों हरषि हृदय नहिं आन्यो।
तुलसिदास कब तृषा जाइ सर खनतहिं जनम सिरान्यो॥८८॥

यह कहना तो सरल है कि मन को शुद्ध कर लेने से ही सारा काम बन जाएगा, किंतु इस को व्यवहार मे लाना दुस्साध्य है क्योंकि मन हमारे कहने मे नहीं आता। यदि वह हमारा कहना ही मानता तो हम यह दुर्गति ही क्यों भोगते? उस को तो हम रात दिन अनेक शिक्षाएँ देते है, फिर भी वह अपना कुटिल स्वभाव नही छोड़ता है—

मेरो मन हरि हठ न तजै।
निसि दिन नाथ देउँ सिख बहु बिधि करत सुभाव निजै॥
ज्यों जुवती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै।
ह्वै अनुकूल बिसारि सूल सठ पुनि खल पतिहि भजै॥

लोलुप भ्रम गृहपसु ज्यों जहँ तहँ सिर पदत्रान बजै।
तदपि अधम बिचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ़ लजै॥
हौं हार्‌यो करि जतन बिबिधि बिधि अतिसय प्रबल अजै।
तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै॥८९॥

इसी मन के लिए भक्ति, ज्ञान और वैराग्य आदि कितने ही साधन हम ने इकट्ठे किए, किंतु तब भी इस ने अपने अहम्मन्यत्व और लोभ को न छोड़ा—

हे हरि कवन जतन भ्रम भागै।
देखत सुनत बिचारत यह मन निज सुभाव नहिं त्यागै॥
भगति ज्ञान वैराग्य सकल साधन यहि लागि उपाई।
कोउ भल कहै देउ कछु कोऊ असि बासना न उर तें जाई॥११९॥

विचित्र हैं इस के आचरण भी; कभी तो यह दीन बना रहता है और कभी अभिमानी राजा बन बैठता है, कभी तो निरा मूर्ख बनता है फिर कभी धर्मात्मा पंडित होने का स्वांग करता है—

दीनबंधु सुखसिंधु कृपाकर कारुनीक रघुराई।
सुनहु नाथ मन जरत त्रिबिधि ज्वर करत फिरत बौराई॥
कबहुँ जोगरत भोग निरत सठ हठ वियोग बस होई।
कबहुँ मोहबस द्रोह करत बहु, कबहुँ दया अति सोई॥
कबहुँ दीन मतिहीन रंकतर कबहुँ भूप अभिमानी।
कबहुँ मूढ़ पंडित बिडंब रत कबहुँ धरम रत ज्ञानी॥८१॥

जिन इंद्रियों के द्वारा हमारा मन अनेक दुष्कर्मों में अब तक लिप्त रहा, उन्हीं से यदि वह चाहता तो कितने ही शुभ अनुष्ठान कर सकता था। किंतु वह सब उस ने कुछ नहीं किया—

यों मन कबहुँ तुमहिं न लाग्यो।
ज्यों छल छाँड़ि सुभाव निरंतर रहत बिषय अनुराग्यो॥
ज्यों चितई परनारि सुने पातक प्रपंच घर घर के।
त्यों न साधु सुरसरि तरंग निर्मल गुनगन रघुबर के॥

ज्यों नासा सुगंध रस बस रसना षट रस रतिमानी
रामप्रसाद माल जूठनि लगि त्यों न ललकि ललचानी ॥
चंदन चंद्रबदनि भूषन पट ज्यों चह पाँवर परस्यो।
त्यों रघुपति पदु पदुम परस को तनु पातकी न तरस्यो ॥
ज्यों सब भाँति कुदेव कुठाकुर सेए वपु बचन हिए हूँ।
त्यों न राम सुकृतज्ञ जे सकुचत सकृत प्रनाम किए हूँ ॥
चंचल चरन लोभ लगि लोलुप द्वार द्वार जग बागे।
राम-सीय आस्रमनि चलत त्यों भए न श्रमित अभागे ॥१७०॥

मन की शुद्धि के लिए यों तो जप, तप, तीर्थ, योग और समाधि आदि अनेक साधन पुराणों और श्रुतियों में वर्णित है किंतु प्रबल कलिकाल ने उन सब की शक्ति का ह्रास कर दिया है। फलतः इस कलिकाल मे हमारे भ्रम का नाश एक हरि-कृपा से ही संभव है—

जप तप तीरथ जोग समाधी।
कलि मति बिकल न कछु निरुपाधी ॥
करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं।
रकतबीज जिमि बाढ़त जाहीं ॥
हरनि एक अघ असुर जालिका।
तुलसिदास प्रभु कृपा कालिका ॥१२८॥

माया, मोह, अथवा भ्रम का संयोग इस जीव के साथ केवल ईश्वर की प्रेरणा से हुआ है इसीलिए उस माया का नाश भी ईश्वर की कृपा से ही संभव है—

दोष निलय यह बिषय सोकप्रद कहत संत स्रुति टेरे।
जानत हूँ अनुराग तहाँ हरि सो हरि तुम्हरेहि प्रेरे ॥१८६॥

हैं स्रुति विदित उपाय सकल सुर केहि केहि दीन निहोरै।
तुलसिदास यहि जीव मोह रजु जोइ बाँध्यो सोइ छोरै ॥१०२॥

सब प्रकार मैं कठिन मृदुल हरि दृढ़ विचार जिय मोरे।
तुलसिदास यह मोह संखला छुटिहि तुम्हारे छोरे ॥११४॥

हे हरि कस न हरहु भ्रम भारी।
जद्यपि मृषा सत्य भासै जब लगि नहिं कृपा तुम्हारी ॥१२०॥

अस कछु समुझि परत रघुराया।
बिनु तव कृपा दयालु दास हित मोह न छूटै माया ॥१२३॥

संक्षेप में, हमारा तो यह दृढ़ विश्वास है कि बिना हरि-कृपा के भ्
नाश असंभव है—

माधव असि तुम्हारि यह माया।
करि उपाय पचि मरिय तरिय नहिं जब लगि करहु न दाया ॥
सुनिय गुनिय समुझिय समुझाइय दसा हृदय नहिं आवै।
जेहि अनुभव बिनु मोह-जनित दारुन भव विपति सतावै ॥
ब्रह्म पियूष मधुर सीतल जो पै मन सो रस पावै।
तौ कत मृगजल रूप विषय कारन निसि वासर धावै ॥
जेहि के भवन विमल चिंतामनि सो कत काँच बटोरै।
सपने परबस परयो जागि देखत केहि जागि निहोरै ॥
ज्ञान भगति साधन अनेक सब सत्य झूँठ कछु नाहीं।
तुलसिदास हरि कृपा मिटै भ्रम यह भरोस मन माहीं ॥११६॥

इस प्रकार, क्रमशः हम यह देखते है कि संसार दुःखमय है। दुःख
हमारा ही भ्रम है। भ्रम के नाश के लिए संसार-त्याग या कर्म-सन्
आवश्यक नहीं। यदि अपना मन ही समस्त विकारों को छोड़
सहज-स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर ले तो हमारे भ्रम का स्वतः नाश
और पुनः वही संसार सुखमय हो जाए। किंतु अपने सहज-स्वरूप
तो सरल नहीं है क्योंकि हमारा मन स्वभावतः ऐसे कर्मों में आ
ता है कि वह और भी विकार-ग्रस्त होता जाता है—फलतः इस

शुद्धि और भ्रम का नाश हरि कृपा से ही संभव है कारण यह है कि जिस की प्रेरणा से माया ने इस जीव को आच्छादित कर लिया है, उसी के कहने से वह उसे छोड़ भी सकती है, अन्य साधन भी इस भ्रम के नाश के लिए श्रुतियों और पुराणों में कहे गए हैं। किंतु कलिकाल के आतंक से वे सब निर्बल हो गए हैं। केवल एक साधन शेष रहता है, वह है राम के चरण में अनुरक्ति। बिना इस अलौकिक जल के हमारे जन्मों का मल दूर नहीं हो सकता—

मोह जनित मल लाग बिबिधि बिधि कोटिहु जतन न जाई।
जनम जनम अभ्यास निरत चित अधिक अधिक लपटाई॥
नयन मलिन पर नारि निरखि मन मलिन विषय सँग लागे।
हृदय मलिन वासना मान मद जीव सहज सुख त्यागे॥
पर निंदा सुनि स्रवन मलिन भए वचन दोष पर गाए।
सब प्रकार मल भार लाग निज नाथ चरन बिसराए॥
तुलसिदास व्रत दान ज्ञान तप सुद्धि हेतु श्रुति गावै।
राम-चरन अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावै॥८२॥

यदि हम बिना योग, यज्ञ, तप आदि के संसार से मुक्त होना चाहते हैं तो बस यही करना है कि दिन-रात राम के चरणों का चिंतन करते रहें—

जो बिनु जोग जज्ञ व्रत संजम गयो चहत भव पारहि।
तौ जनि तुलसिदास निसि बासर हरि पद कमल बिसारहि॥८५॥

अन्य साधनों की अपेक्षा भक्ति का मार्ग बहुत सीधा है। निरे ज्ञान से यदि हम आत्म-परिचय चाहते हैं तो बड़ा समय लगेगा—

रघुपति भगति बारि छालित चित बिनु प्रयास ही सूझै।
तुलसिदास कह चिद-बिलास जग बूझत बूझत बूझै॥१२४॥

तुलसीदास को तो कोई दूसरा भरोसा नहीं दिखाई पड़ता, दूसरे लोग चाहे जो करें। तुलसीदास का कहना है कि उन के कर्मों का फल जब उन्हें मिल जाएगा तभी वे मेरे कथन की सत्यता पर विश्वास करेंगे। मेरे गुरु ने तो अनेक मतों को सुन कर, अनेक पंथों और पुराणों का अध्ययन कर

तर, और सभी झगड़ों का निर्णय करके मुझ को राम की भक्ति क
किया। वही मुझे राजमार्ग सा लगता है।

नाहिन आवत आन भरोसो।
यहि कलिकाल सकल साधन तरु है स्रम फलनि फरो सो॥
तप तीरथ उपवास दान मख जेहि जो रुचै करो सो।
पाएहि पै जानिबो करमफल भरिभरि वेद परो सो॥
आगम विधि जप जाग करत नर सरत न काज खरो सो।
सुख सपनेहु न जोग सिधि साधन रोग वियोग धरो सो॥
काम क्रोध मद लोभ मोह मिलि ज्ञान विराग हरो सो।
बिगरत मन सन्यास लेत जल नावत आम घरो सो॥
बहुमत सुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहि लगत राज डगरो सो॥
तुलसी बिनु परतीत प्रीति फिर फिर पचि मरै मरो सो।
रामनाम बोहित भव सागर चाहै तरन तरो सो॥१७३॥

किंतु रघुपति-भक्ति कहने ही को सरल है, उस का निर्वाह अत्यं
है, विरले ही व्यक्तियों को उस का अनुभव है। उस के लिए हमें द्वैत
का सर्वथा त्याग करना पड़ेगा, क्योंकि बिना इस द्वन्द्व-त्याग के ह
चरणों में उत्पन्न उस अलौकिक सुख का न तो अनुभव कर सकते
हमारे भ्रम का नाश होता है—

रघुपति भक्ति करत कठिनाई।
कहत सुगम करनी अपार जानै सोइ जेहि बनि आई॥
जो जेहि कला कुसल ताकहँ सोइ सुलभ सदा सुखकारी।
सफरी सनमुख जल प्रवाह सुरसरी बहै गज भारी॥
ज्यों सर्करा मिलै सिकता महँ बल तें न कोउ बिलगावै।
अति रसज्ञ सूच्छम पिपीलिका बिनु प्रयास ही पावै॥
सकल दृश्य निज उदर मेलि सोवै निद्रा तजि जोगी।
सोइ हरि पद अनुभवै परम सुख अतिसय द्वैत वियोगी॥

सोक मोह भय हरष दिवस निसि देसकाल तहँ नाहीं

तुलसिदास यहि दसा हीन संसय निर्मूल न जाहीं ॥१६७॥

यदि हम अपने मन को इंद्रियों के विषयों से खींच कर राम के च
मे स्थापित कर सकें तभी हमारी भक्ति दृढ़ हो सकती है, किंतु यह भी
संभव है जब हमारी दस इंद्रियों के प्रतीक रूप दशानन के नाश करने
राम करुणा से द्रवित हों—

सर्वभूत हित निर्व्यलीक चित भगति प्रेम दृढ नेम एक रस।

तुलसिदास यह होहि तबहिं जब द्रवै ईस जेहि हतो सीस दस ॥२०४॥

इतनी करुणा की पूँजी प्राप्त करना कठिन नहीं है, उस के लिए
इतना ही चाहिए कि राम के मन में यह बात आ जाए कि हम उन से
करते हैं। हमे अपने कर्मों की अच्छाई बुराई अथवा संस्कारों के दूषित
की चिंता न करनी चाहिए। नीचों से उन के प्रेम का आभास मात्र पा
पर प्रेम करना रघुबीर की साधारण 'बानि' है—

श्री रघुबीर की यह बानि।

नीचहूँ सो करत नेह सुप्रीति मन अनुमानि ॥
परम अधम निषाद पाँवर कौन ताकी कानि।
लियो सो उर लाइ सुत ज्यों प्रेम को पहिचानि ॥
गीध कौन दयालु जो बिधि रच्यो हिंसा सानि।
जनक ज्यों रघुनाथ ता कहँ दियो जल निज पानि ॥
प्रकृति मलिन कुजाति सबरी सकल अवगुन खानि।
खात ताके दिए फल अति रुचि बखानि बखानि ॥
रजनिचर अरु रिपु बिभीषन सरन आयो जानि।
भरत ज्यों उठि ताहि भेंटत देह दसा भुलानि ॥
कौन सुभग सुशील बानर जिनहिं सुमिरत हानि।
किए ते सब सखा पूजे भवन अपने आनि ॥
राम सहज कृपालु कोमल दीन हित दिन दानि।
भजहि ऐसे प्रभुहि तुलसी कुटिल कपट न ठानि ॥२१५॥

यदि कोई व्यक्ति उन का दास हो जाता है तो वे स्वयं उसी
ते हैं, राम की यह पुरानी रीति है—

ऐसी हरि करत दास पर प्रीती।
निज प्रभुता बिसारि जन के बस होत सदा यह रीती॥
जिन बाँधे सुर असुर नाग नर प्रबल करम की डोरी।
सोइ अविछिन्न ब्रह्म जसुमति बाँध्यो हठि सकत न छोरी॥
जाको माया बस बिरंचि शिव नाचत पार न पायो।
करतल ताल बजाइ ग्वाल जुवतिन तेहि नाच नचायो॥
विश्वंभर श्रीपति त्रिभुवनपति बेद बिदित यह लीख।
बलि सों कछु न चली प्रभुता बरु ह्वै द्विज माँगी भीख॥
जाको नाम लिए छूटत भव जनम मरन दुख भार।
अंबरीष हित लागि कृपानिधि सोइ जनम्यौ दस बार॥
जोग बिराग ध्यान जप तप करि जेहि खोजत मुनि ज्ञानी।
बानर भालु चपल पसु पाँवर नाथ तहाँ रति मानी॥
लोकपाल जम काल पवन रवि ससि सब आज्ञाकारी।
तुलसिदास प्रभु उग्रसेन के द्वार बेंत कर धारी॥९८॥

तो अकेले प्रीति का नाता रखते हैं और उस के आगे अन्य स
चा मानते हैं। उन के स्नेह और शील-स्वभाव से यदि हम "
त हो जावें तो हम स्वतः उन के भक्त हो जावेंगे—

जानत प्रीति रीति रघुराई।
नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई॥
नेह निबाहि देह तजि दसरथ कीरति अचल चलाई।
ऐसेहुँ पितु तें अधिक गीध पर ममता गुन गरुआई॥
तिय-बिरही सुग्रीव सखा लखि प्रान प्रिया बिसराई।
रन पर्‌यो बंधु बिभीषन ही को सोच हृदय अधिकाई॥
घर गुरु गृह प्रिय सदन सासुरे भइ जब जहँ पहुनाई।
तब तहँ कहि सबरी के फलनि की रुचि माधुरी न पाई॥

सहज सरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिर नाई ।
केवट मीत कहे सुख मानत बानर बंधु बड़ाई ॥
प्रेम कनौड़ो राम सो प्रभु त्रिभुवन तिहुँ काल न भाई ।
तेरो रिनी हौं कह्यो कपीस सों ऐसी मानिहि को सेवकाई ॥
तुलसी राम सनेह सील लखि जो न भगति उर आई ।
तौ तोहिं जनमि जाय जननी जड़ तनु तरुनता गँवाई ॥१६४॥

राम की भाँति हमें अन्य स्वामी नहीं मिल सकता । प्रेम कर
कहे, द्रोह करने वाले से भी वे स्वयं प्रेम ही करते हैं, दूसर
इमे कहाँ मिलेगा ?

ऐसी कौन प्रभु की रीति ।
बिरद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति ॥
गई मारन पूतना कुच कालकूट लगाइ ।
मातु की गति दई ताहि कृपालु जादव राइ ॥
काम-मोहित गोपिकनि पर कृपा अतुलित कीन्ह ।
जगत पिता बिरंचि जिन्हके चरन की रज लीन्ह ॥
नेम ते सिसुपाल दिन प्रति देत गनि गनि गारि ।
कियो लीन सु आप में हरि राज सभा मँझारि ॥
ब्याध चित दै चरन मार्‌यो मूढ़ मति मृग जानि ।
सो सदेह सुलोक पठयो प्रगट करि निज बानि ॥
कौन तिन्हकी कहै जिन्हके सुकृत अरु अघ दोउ ।
प्रगट पातक रूप तुलसी सरन राख्यो सोउ ॥२१४॥

फलतः, जब हम राम के संपूर्ण कृत्यों का अनुशीलन करते है,
ा हमें समान रूप से सर्वत्र मिलती है—वह है उन का शील स्व
से लेकर राज्यारोहण तक उन का छोटे से छोटा से ले कर बड़
नी से ओत-प्रोत है, इस लिए यदि हम इस शील को ध्यान मे
ा की गुण-गाथा का मनन करें तो निसंदेह हमारे चित्त मे स्वतः
नुराग उत्पन्न होगा और इसी अनुराग की वृद्धि से हमे अनार

। प्रसाद भी प्राप्त हो जाएगा—

सुनि सीतापति सील सुभाउ ।
मोद न मन तन पुलक नयन जल सो नर खेहर खाउ ॥
सिसुपन तें पितु मातु बंधु गुरु सेवक सचिव सखाउ ।
कहत राम बिधु बदन रिसोहैं सपनेहुँ लख्यो न काउ ॥
खेलत संग अनुज बालक नित जोगवत अनट अपाउ ।
जीति हारि चुचुकारि दुलारत देत दिवावत दाउ ॥
सिला साप संताप बिगत भइ परसत पावन पाउ ।
दई सुगति सो न हेरि हरष हिय चरन छुए पछिताउ ॥
भवधनु भंजि निदरि भूपति भृगुनाथ खाइ गए ताउ ।
छमि अपराध छमाइ पाँइ परि इतौ न अनत समाउ ॥
कह्यो राज बन दियो नारि बस गरि गलानि गयो राउ ।
ता कुमातु को मन जोगवत ज्यों निज तनु मरम कुघाउ ॥
कपि सेवा बस भए कनौड़े कह्यो पवनसुत आउ ।
देबे को न कछू रिनियाँ हौं धनिक तु पत्र लिखाउ ॥
अपनाए सुग्रीव बिभीषन तिन न तज्यो छल छाउ ।
भरत सभा सनमानि सराहत होत न हृदय अघाउ ॥
निज करुना करतूति भगत पर चपत चलत चरचाउ ।
सकृत प्रनाम प्रनत जस बरनत सुनत कहत फिरि गाउ ॥
समुझि समुझि गुन ग्राम राम के उर अनुराग बढ़ाउ ।
तुलसिदास अनयास राम पद पाइहै प्रेम पसाउ ॥१००॥

की गुन-गाथा के मनन के अतिरिक्त उन की कृपा-प्राप्ति का
गी उपाय भी है—वह है नाम-स्मरण । राम-नाम के जप से
त होती है । कर्म तथा ज्ञान के साधन कलिकाल की करालत
गए हैं, इसीलिए काशी में मरते हुए व्यक्ति को शिव भी उ
ए इसी मंत्र का उपदेश किया करते हैं । यदि केवल हम न
ो अवलंब लें तो भी राम स्वतः हमारे ऊपर कृपालु हो जाएँगे

राम नाम के जपे जाइ जिय की जरनि

कलिकाल अपर उपाय ते अपाय भए जैसे तम नासिबे को चित्र के तरनि ॥
करम कलाप परिताप पाप साने सब ज्यों सुफूल फूले तरु फोकट फरनि ।
दंभ लोभ लालच उपासना बिनासि नीके सुगति साधन भई उदर भरनि ॥
जोग न समाधि निरुपाधि न बिराग ज्ञान बचन बिसेष बेष कहूँ न करनि ।
कपट कुपथ कोटि कहनि रहनि खोटि सकल सराहैं निज निज आचरनि ॥
मरत महेस उपदेस हैं कहा करत सुरसरि तीर कासी धरम धरनि ।
राम नाम को प्रताप हर कहैं जपैं आपु जुग जुग जाने जग बेदहूँ बरनि ॥
मति रामनाम ही सों रति रामनाम ही सों गति रामनाम ही की बिपति हरनि ।
राम नाम सों प्रतीति प्रीति राखे कबहुँक तुलसी ढरैंगे राम आपनी ढरनि ॥

ऐसा एक भी व्यक्ति न मिलेगा जिस को रक्षा राम ने अपने ना
ज्जा रखने के लिए न की हो। इसी विश्वास से तुलसीदास कितने ही का
लता हुआ भी अपना हठ नहीं छोड़ता है। कभी न कभी तो उस की प्र
नी जाएगी—

सो धौं को जो नाम लाज तें नहीं राख्यो रघुबीर ।
कारुनीक बिनु कारन ही हरि हरी सकल भव पीर ॥
बेद बिदित जग बिदित अजामिल बिप्र बंधु अघधाम ।
घोर जमालय जात निवारयो सुत हित सुमिरत नाम ॥
पसु पाँवर अभिमान सिंधु गज ग्रस्यो आइ जब ग्राह ।
सुमिरत सकृत सपदि आए प्रभु हरयो दुसह उरदाह ॥
ब्याध निषाद गीध गनिकादिक अगनित अवगुन मूल ।
नाम ओट तें राम सबनि की दूर करी सब सूल ॥
केहि आचरन घाटि हौं तिन्हते रघुकुल भूषन भूप ।
सीदत तुलसिदास निसि बासर परयो भीमतम कूप ॥१४४॥

दूसरों को जिस पर विश्वास हो वे उस का भरोसा करें, तुलसीदास
स कलिकाल में नाम का कल्याण-कल्प-तरु मिल गया है। कर्म, ज्ञान
पासना आदि सभी मार्ग वेदों से प्रमाणित हैं, किंतु तुलसीदास को तो

के अंधे की तरह नाम ही की हरियाली सूझती है। कभी वह कुत्तों की तरह क्षुधा-तृप्ति के लिए पत्तले चाटता फिरता था, आज वही नाम-स्मरण मात्र से अपने सामने अमृत परसा हुआ देख रहा है। जिस का जिस से प्रेम हो वह उस से करे किंतु तुलसीदास तो अपने माता-पिता-स्वरूप नाम के दो अक्षरों से बच्चे की भाँति हठ कर रहा है—

> भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
>
> मोको तो राम को नाम कल्पतरु कलि कल्यान फरो॥
>
> करम उपासन ज्ञान बेदमत सो सब भाँति खरो।
>
> मोहि तो सावन के अंधहि ज्यों सूझत रंग हरो॥
>
> चाटत रह्यो स्वान पातरि ज्यों कबहुँ न पेट भरो।
>
> सो हौं सुमिरत नाम सुधारस पेखत परुसि धरो॥
>
> स्वारथ औ परमारथ हू को नहिं कुंजरो नरो।
>
> सुनियत सेतु पयोधि पषाननि करि कपि कटक तरो॥
>
> प्रीति प्रतीति जहाँ जाकी तहँ ताको काज सरो।
>
> मेरे तो माय बाप दोउ आखर हौं सिसु-अरनि अरो॥
>
> संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरो।
>
> अपनो भलो राम नामहि तें तुलसिहिं समुझि परो॥२२६॥

किंतु, नाम से भी हमारी साधारण लगन न होनी चाहिए, उस से तो हमारी वैसी ही दृढ़ लगन होनी चाहिए जैसी चातक को नवीन मेघ से होती है। बादल गरज कर, कड़क कर, और वज्र की वर्षा कर भी पपीहे के प्रेम की परीक्षा करता है, किंतु इन सब कठिनाइयों से उस के हृदय में अधिकाधिक अनुराग ही उमँगा करता है। हमें भी यही उचित है कि हम पपीहे का अनुकरण करते हुए उसी दुर्गम एकांगी प्रेम-मार्ग के पथिक बनें और इस की तनिक भी चिंता न करें कि हमारा प्रेम-पात्र भी हम से प्रेम करता है हमारा हित तो इसी बात में है कि हम अपनी ओर से अविचलित-चित्त हो कर इस नियम का पालन करते जावें—

राम राम रमु राम राम रटु राम राम जपु जीहा
राम नाम नवनेह मेह को मन हठ होहि पपीहा ॥
सब साधन फल कूप सरित सर सागर सलिल निरासा ।
राम नाम रति स्वाति सुधा सुभ सीकर प्रेम पियासा ॥
गरजि तरजि पाषान बरसि पवि प्रीति परखि जिय जाने ।
अधिक अधिक अनुराग उमँग उर पर परमिति पहिचाने ॥
राम नाम गति रामनाम मति राम नाम अनुरागी ।
ह्वै गए हैं जे होहिंगे आगे तेइ गनियत बड़ भागी ॥
एक अंग मग अगम गवन करि बिलमु न छिन छिन छाहें ।
तुलसी हित अपनो अपनी दिसि निरुपधि नेम निबाहें ॥६५॥

नाम-स्मरण के अतिरिक्त राम-भक्ति का एक अन्य सहयोगी मार्ग भी है—वह है राम के दरवाजे पर बैठ यही याचना करना कि हमें और कुछ भी नहीं चाहिए, हम केवल उन की भक्ति के भूखे हैं। यह भूख भी तो कुछ इसी जन्म की नहीं, न जाने कितने जन्मों की है। कई जन्मों के अनंतर तो साधन-धाम यह मानव-देह प्राप्त हुआ, यदि इस देह से भी यह असाधारण क्षुधा न मिट सकी तो आगे न जाने कितने जन्मों तक भूखा ही रह जाना पड़ेगा। इसी विचार से कवि कैसी हृदय-द्रावक प्रार्थना करता है!

द्वार हौं भोर ही को आज।
रटत रिरिहा आरि और न कौर ही तें काज ॥
कलि कराल दुकाल दारुन सब कुभाँति कुसाज ।
नीच जन मन ऊँच जैसी कोढ़ में की खाज ॥
हहरि हिय मैं सदय बूझ्यो जाइ साधु समाज ।
मोहुँ से कोउ कतहुँ कहुँ तिन्ह कह्यो कोसलराज ॥
दीनता दारिद दलै को कृपा बारिधि बाज ।
दानि दसरथ राय के बानइत सिरताज ॥
जनम को भूखो भिखारी हौं गरीब नेवाज ।
पेट भरि तुलसिहि जेवाँइय भगति सुधा सुनाज ॥२१९॥

भगवन्, आप ही बताइए दूसरा 'दीनबंधु' मुझे कहाँ मिलेगा, मैं तो जिसी के विषय में अपना ध्यान दौड़ाता हूँ, वही मुझे अयोग्य या अकृपालु दिखाई पड़ता है। मैं ने माना कि मैं अपने मुख से ही आप का सेवक बनता हुआ भी लालची और कामी हूँ, किंतु कुछ अधिक तो आप से माँगता भी नहीं। मेरी याचना तो बस इतने ही के लिए है कि मुझे आप अपने द्वार पर पड़ा रहने दें और अपने गुणों का कीर्तन करते रहने दें—

दीनबन्धु दूसरो कहँ पावों।
को तुम बिनु पर पीर पाइहै केहि दीनता सुनावों॥
प्रभु अकृपालु कृपालु अलायक जहँ जहँ चितहिं डोलावों।
इहै समुझि सुनि रहौं मौन ही कहि भ्रम कहा गवावों॥
गोपद बूड़िबे जोग करम करौं बातन जलधि थहावों।
अति लालची काम-किंकर मन मुख रावरो कहावों॥
तुलसी प्रभु जिय की जानत सब अपनो कछुक जनावों।
सो कीजै जेहि भाँति छाँड़ि छल द्वार परो गुन गावों॥२३२॥

भगवन्, यदि आप यह समझते हों कि यह अन्यत्र कहीं नहीं गया और सीधा मेरे ही पास आ रहा है तो आप का यह अनुमान ठीक नहीं है। मैं ने तो कोई भी ऐसा दरवाज़ा न होगा जिस को न खटखटाया हो, ऐसा एक भी व्यक्ति न मिलेगा जिस के आगे शीश न झुकाया हो और अपना क्षुधार्त पेट न 'खलाया' हो। चारों ओर सिर मार कर ही अंत में आप की शरण में आया हूँ। बड़ी दूर से आप का यश सुन कर सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। तुलसीदास को आश्वासन दीजिए—

कहा न कियो कहाँ न गयो सीस काहि न नायो।
राम रावरे बिन भए जन जनमि जनमि जग दुख दसहुँ दिसि पायो॥
आस बिबस खास दास ह्वै नीच प्रभुनि जनायो।
हाहा करि दीनता कही द्वार द्वार बार बार परी न छार मुँह बायो॥
असन बसन बिन बावरो जहँ तहँ उठि धायो।
महिमा मान प्रिय प्रान ते तजि खोलि खलनि आगे खिनु खिनु पेट खलायो॥

नाच हाथ कछु नाहिं लभ्यो लालच ललचायो।
साँच कहौं नाच कौन सो जो न मोहिं लोभ लघु निलज नचायो॥
स्रवन नयन मन मग लगे सब थलपति तायो।
मूड़ मारि हिय हारि के हित हेरि हहरि अब चरन सरन तकि आयो॥
दसरथ के समरथ तुही त्रिभुवन जस गायो।
तुलसी नमत अवलोकिए बलि बाँह बोल दै बिरदावली बुलायो॥२७६॥

मेरा और कौन है ? किस से कहूँगा ? सब प्रकार की यातनाएँ झेलूँगा किंतु अपने मन की उच्च आकांक्षाओं को किस को सुना कर सुख लाभ करूँगा ? मुझे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि फलों की तनिक भी इच्छा नहीं है. मैं तो इतना ही चाहता हूँ कि आप की बाल-क्रीड़ा के लिए खग, मृग, तरु, किंकर होकर आप का प्रीति-पात्र बना रहूँ। इसी नाते मुझे नरक में भी सुख मिलेगा और इस के बिना स्वर्ग भी मुझे दुखदायी होगा; इस दास के हृदय में इसी की इतनी लालसा है। वह आप की जूती उठा कर कहता है कि या तो आप स्पष्ट वचन दीजिए अन्यथा अपने हृदय में लिख लीजिए कि 'तुलसी के इस प्रण का निर्वाह करूँगा।'

और मोहिं को है काहि कहिहौं।
रंक राज ज्यों मन को मनोरथ केहि सुनाइ सुख लहिहौं॥
जम जातना जोनिसंकट सब सहे दुसह औ सहिहौं।
मोको अगम सुगम तुम्हको प्रभु तउ फल चारि न चहिहौं॥
खेलिबे को खग मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं।
यहि नाते नरकहु सचु पइहौं या बिनु परम पदहुँ दुख दहिहौं॥
इतनो जिय लालसा दास के कहत पानही गहि हौं।
दीजै बचन कि हृदय आनिए तुलसी को पन निर्बहिहौं॥२३१॥

कवि ने ऊपर दिखाए गए राम-भक्ति के तीन प्रमुख साधनों—शील-स्वभाव चिंतन, नाम-स्मरण और आर्त-निवेदन—का महत्व एक ही पद में इस प्रकार कहा है—

स्वामी को सुभाव कह्यो सो जब उर आनि है।
सोच सकल मिटिहैं राम भलो मानिहै॥
भलो मानिहै रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै।
ततकाल तुलसीदास जीवन जनम को फल पाइहै॥
जपि नाम करहि प्रनाम कहि गुन ग्राम रामहिं धरि हिए।
बिचरहि अवनि अवनीस चरन सरोज मन मधुकर किए॥१३५॥

ऊपर के उपदेशों को अन्यत्र पुनः कवि ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

बिगरी जनम अनेक की सुधरत पल लगै न आधु।
'पाहि कृपानिधि!' प्रेम सों कहे को न राम कियो साधु॥
बालमीकि केवट कथा कपि भील भालु सनमान।
सुनि सनमुख जो न राम सों तिहि को उपदेसहि ज्ञान॥
का सेवा सुग्रीव की का प्रीति रीति निरबाहु।
जासु बंधु बध्यो ब्याध ज्यों सो सुनत सोहात न काहु॥
जपहि नाम रघुनाथ को चरचा दूसरी न चालु।
सुमुख सुखद साहिब सुधी समरथ कृपालु नतपालु॥
सजल नयन गदगद गिरा गहबर मन पुलक सरीर।
गावत गुन गन राम के केहि की न मिटी भव भीर॥
प्रभु कृतज्ञ सरबज्ञ हैं परिहरु पाछिली गलानि।
तुलसी तो सों राम सों कछु नई न जान पहिचानि॥१९३॥

राम-भक्ति का एक अन्य अनिवार्य अंग सत्संग है, किंतु संतों का संग भी हरिकृपा से ही होता है। फलतः इस उद्देश्य से भी कवि ने भगवान का गुण-गान किया है—

रघुपति भक्ति सुलभ सुखकारी।
सो भय ताप सोक त्रय हारी।
बिनु सतसंग भगति नहिं होई।
ते तब मिलैं द्रवै जब सोई॥

अब द्रवै दीनदयालु राघव साधु संगति पाइए
जहि दरस परस समागमादिक पाप रासि नसाइए ॥
जिन्हके मिले सुख दुख समान अमानतादिक गुन भए ।
मद मोह लोभ विषाद क्रोध सुबोध तें सहजहिं गए ॥
सेवत साधु द्वैत भय भागे ।
श्री रघुबीर चरन चित लागे ॥
देह जनित विकार सब त्यागे ।
तब फिर निज स्वरूप अनुरागे ॥
अनुराग सो निज रूप जो जग तें बिलच्छन देखिए ।
संतोष सम सीतल सदा दम देहवंत न देखिए ॥
निर्मल निरामय एक रस तेहि हर्ष सोक न व्यापई ।
त्रैलोक्य पावन सो सदा जाकी दसा ऐसी भई ॥
जो तेहि पंथ चलै मन लाई ।
तौ हरि काहे न होहिं सहाई ॥
जो मारग श्रुति साधु बतावैं ।
तेहि पथ चलत सबै सुख पावैं ॥
पावै सदा सुख हरि कृपा संसार-आसा तजि रहै ।
सपनेहुँ नहीं दुख देत दरसन बात कोटिक को कहै ॥
द्विज देव गुरु हरि संत बिनु संसार पार न पावई ।
यह जानि तुलसीदास त्रास हरन रमापति गावई ॥१२६॥

साधु-संगति का ही दूसरा पक्ष असाधु से असहयोग है। इसीलिए तुलसीदास अपने एक अत्यंत प्रसिद्ध पद में कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति से सर्वथा असहयोग ही करना होगा, जिसे सीताराम प्रिय न हों—वह व्यक्ति चाहे पिता, भाई, माता, गुरु, स्वामी या कोई भी क्यों न हो—

जाके प्रिय न राम बैदेही ।
सो छाँड़िए कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही ॥

तज्यो पिता प्रह्लाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रज-बनितनि, भए मुद-मंगलकारी॥
नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेब्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जो फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रान ते प्यारो।
जासों होय सनेह राम-पद, एतो मतो हमारो॥ (१७४)

भक्ति-मार्ग के विविध अंगों का एक पद में पूर्ण समावेश करते हुए तुलसीदास ने ज्ञान-मार्ग के भी कुछ अंगों के साथ उन का विचित्र समन्वय इस प्रकार किया है—

जौं मन भज्यो चहै हरि सुरतरु।
तौ तजि विषय विकार सार भजु अजहूँ जो मैं कहौं सोइ करु॥
सम संतोष विचार विमल अति सत संगति ए चारि दृढ़ करि धरु।
काम क्रोध अरु लोभ मोह मद राग द्वेष निसेष करि परिहरु॥
स्रवन कथा मुख नाम हृदय हरि सिर प्रनाम सेवा कर अनुसरु।
नयननि निरखि कृपा समुद्र हरि अगजग रूप भूप सीतावरु॥
इहै भगति बैराग्य ज्ञान यह हरितोषन यह सुभ व्रत आचरु।
तुलसिदास सिव मत मारग यहि चलत सदा सपनेहुँ नाहिन डरु॥

कवि ने अपने लिए जीवन का जो आदर्श निश्चित किया है उस के उल्लेख के बिना लेख अधूरा ही रह जाएगा। नीचे का पद इसी अभिप्राय से दिया जा रहा है। उस के इन थोड़े से शब्दों में उस के कुल आध्यात्मिक संदेशों का सार कितनी सजीवता के साथ आगया है!

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ कृपालु कृपा तें संत सुभाव गहौंगो॥
यथा लाभ संतोष सदा काहू सों कछु न चहौंगो।
परहित निरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो॥
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान सम सीतल मन परगुन नहिं दोष कहौंगो॥

परिहरि देह जनित चिंता सब दुख सुख समबुद्धि रहौंगा
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरि-भक्ति लहौंगो ॥१२०॥

अविचल हरि-भक्ति-लाभ का यह कितना अनुकरणीय पथ है ! ऐसे विचार-शील और निरंतर परहित-निरत व्यक्ति के लिए तो संसार की सभी अनिष्टकारी शक्तियाँ भी स्वतः आनन्ददायिनी सिद्ध होंगी इस में संदेह नहीं। कवि के ही शब्दों मे पुन:—

अनविचार रमणीय सदा संसार भयंकर भारी।
सम संतोष दया बिबेक ते व्यवहारी सुखकारी ॥१२१॥

सूरसागर और भागवत

[लेखक—श्रीयुत धीरेन्द्र वर्मा, एम्० ए०]

लोगों की प्रायः यह धारणा है कि सूरसागर भागवत का यदि अनुवाद नहीं है तो स्वतंत्र उल्था अवश्य है। दोनों ग्रंथों को साधारण तुलना से इस विचार की पुष्टि भी होती है। भागवत और सूरसागर दोनों ही मे बारह बारह स्कंध हैं तथा भिन्न भिन्न स्कंधों की कथा में भी पूर्ण साम्य है। उदाहरण के लिए दोनों ग्रंथों में नवम स्कंध में रामावतार का वर्णन है तथा दशम स्कंध में कृष्णावतार का। इसी प्रकार अन्य स्कंधों के कथानक में भी समानता मिलती है। फिर इस पक्ष की पुष्टि मे सब से बड़ा तर्क यह दिया जा सकता है कि स्वयं सूरदास ने इस बात का अपने ग्रथ मे उल्लेख किया है:—

श्री मुख चारि श्लोक दिये, ब्रह्मा को समुझाइ।
ब्रह्मा नारद सों कहे, नारद व्यास सुनाइ॥
व्यास कहे शुकदेव सों, द्वादश कंध बनाइ।
सूरदास सोई कहै पद भाषा करि गाइ॥ स्कंध १, ११२।

इस प्रकार के बाह्य साम्य तथा अंतर्साक्ष्य के रहते हुए भी यदि सूरसागर तथा भागवत का विवेचन सूक्ष्म तुलनात्मक दृष्टि से किया जाय तो दोनों मे समानताओं की अपेक्षा विभिन्नताओं की मात्रा अधिक दिखलाई पड़ती है।

संक्षेप में भागवत का मुख्य विषय भगवान विष्णु के चौबीस अवतारों तथा उन के द्वारा भगवान की अपरिमित शक्ति का वर्णन करना है। भागवत के प्रथम दो स्कंध भूमिका स्वरूप हैं। महाभारत की कथा का अंतिम अंश संक्षेप मे देने के बाद परीक्षित ने किस प्रकार भागवत की कथा को शुकदेव से सुना इस का विस्तार, ग्रंथ के लक्षण आदि सहित, आदि के दो स्कंधों में मिलता है। तीसरे स्कंध से अवतारों का विवेचन प्रारंभ होता है

और आठवें स्कंध तक शूकर, ऋषभदेव नृसिंह, वामन, मत्स्य आदि गौण अवतारों का वर्णन दिया गया है। जैसा ऊपर उल्लेख किया जा चुका है नवम स्कंध में राम तथा दशम स्कंध में कृष्ण अवतार का विस्तृत वर्णन है। एकादश और द्वादश स्कंधों में हंस तथा भविष्य में होने वाले कल्कि अवतार का उल्लेख करते हुए परीक्षित और शुकदेव से संबंध रखने वाली मूल कथा का उपसंहार किया गया है।

भागवत तथा सूरसागर में वर्णित अवतारों की सूची तथा क्रम आदि में कोई भारी भेद नहीं है। कुछ गौण अन्तर अवश्य है। किंतु सब से पहला बड़ा भेद भगवान के भिन्न भिन्न अवतारों के महत्व के संबंध में है। भागवत में कृष्ण तथा राम अवतार प्रमुख अवश्य हैं और इन दोनों में भी कृष्ण अवतार सर्वोपरि है—उस का विस्तार भी सब से अधिक दिया गया है—किंतु अन्य अवतारों की बिलकुल उपेक्षा नहीं की गई है। सूरसागर में कृष्ण अवतार ही सब कुछ है। राम अवतार के अतिरिक्त अन्य अवतारों का उल्लेख नाम-मात्र के लिए किया गया है। यह भेद नीचे दी हुई तालिका से स्पष्ट हो जावेगा :—

भागवत		सूरसागर	
स्कंध	अध्याय संख्या	स्कंध	पद संख्या
१	१९	१	२१९
२	१०	२	३८
३	३३	३	१८
४	३१	४	१२
५	२६	५	४
६	१९	६	४
७	१५	७	८
८	२४	८	१४
९	२४	९	१७२

भागवत		सूरसागर	
स्कंध	अध्याय संख्या	स्कंध	पद संख्या
१० पूर्वार्द्ध	४९ } ९०	१० पूर्वार्द्ध	३४९४
उत्तरार्द्ध	४१	उत्तरार्द्ध	१३८
११	३१	११	६
१२	१३	१२	५
	३३५		४०३२

अर्थात् भागवत मे ३३५ अध्यायो मे से ९० अध्याय कृष्ण अवतार से संबंध रखने वाले हैं और सूरसागर में लगभग ४००० पदों में से ३६०० से अधिक पदों में कृष्ण-चरित्र का वर्णन है तथा शेष ४०० पदों में विनय आदि साधारण विषयों के अतिरिक्त शेष २३ अवतारों का उल्लेख है।

ऊपर की तालिका पर ध्यान देने से एक अन्य अंतर भी स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। भागवत तथा सूरसागर दोनों ही में दशम स्कंध दो भागों में विभक्त है—पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध। दशम स्कंध पूर्वार्द्ध मे तब तक का कृष्ण-चरित्र मिलता है जब तक कृष्ण ब्रज अर्थात् गोकुल, वृंदावन तथा मथुरा मे थे। दशम स्कध उत्तरार्द्ध में कृष्ण के मथुरा छोड़ कर द्वारिका जाकर बसने तथा उस के बाद की घटनाओं का वर्णन है। भागवत में कृष्णचरित्र पूर्वार्द्ध की कथा ९० में से ४९ अध्यायों में तथा उत्तरार्द्ध की कथा ४१ अध्यायो मे दी गई है, किंतु सूरसागर में पूर्वार्द्ध की कथा लगभग ३५०० पदो मे तथा उत्तरार्द्ध की कथा केवल १३८ पदों में मिलती है। इस का तात्पर्य यह है कि कृष्णचरित्र में से भी केवल ब्रजवासी कृष्ण सूरदास के लिए सब कुछ थे द्वारिकावासी राजनीतिज्ञ तथा योगिराज कृष्ण सूरसागर के रचयिता के लिए कुछ भी विशेष महत्व नहीं रखते थे।

इस तरह सूरसागर का प्राण दशम स्कंध पूर्वार्द्ध ब्रजवासी कृष्ण का चरित्र-चित्रण मात्र रह जाता है, किंतु यह चित्रण भी भागवत के दशम स्कंध पूर्वार्द्ध के चित्रण से बहुत भिन्न है। भागवत में पूतना, तथा वत्स, प्रलंब

आदि असुरों के संहार से संबंध रखने वाली अलौकिक लीलाओं के विस्तृत वर्णनों द्वारा भगवान की असुर संहारिणी शक्ति को सामने लाकर उपस्थित किया गया है। सूरसागर में इन बाल-लीलाओं का बहुत संक्षेप में उल्लेख-मात्र मिलता है, और भगवान की बाल्यावस्था तथा किशोरावस्था का आकर्षक सुंदर रूप तथा उन की राधा तथा गोपियों से संबंध रखने वाली प्रेमलीलायें पूर्ण विस्तार के साथ दी गई हैं। सूरसागर के इस मौलिक पद-समूह का वर्गीकरण प्रायः तीन शीर्षकों में किया जाता है—(१) वात्सल्य-रस-प्रधान अंश या बाललीला, (२) संयोग-शृंगार-प्रधान अंश अथवा राधाकृष्ण या गोपी-कृष्णलीला, तथा (३) विप्रलंभ-शृंगार-प्रधान अंश अथवा गोपिका-विरह या भ्रमरगीत।

यहाँ यह स्मरण दिला देना आवश्यक है कि भागवत में इन विषयों का विवेचन या तो विशेष मिलता ही नहीं है और यदि मिलता भी है तो बहुत संक्षेप में और भिन्न दृष्टिकोण के साथ। कृष्ण की बाललीला भागवत में केवल दो-तीन पृष्ठों में दी गई है, सूरसागर में यही बहुत विस्तार के साथ लगभग तीस पृष्ठों में मिलती है। सूरसागर में अन्नप्राशन, बरष-गाँठ, पाँव चलना, चाँद के लिए मचलना आदि अपने समाज के प्रत्येक बालक की बाल्यावस्था से संबंध रखने वाले अनेक नए विषयों का समावेश किया गया है; तथा मिट्टी खाना, माखनचोरी आदि भागवत में पाए जाने वाले विषयों का विशेष मौलिक विस्तार मिलता है। प्रेमलीला के संबंध में भागवत में केवल कृष्ण और गोपियों के प्रेम का वर्णन मिलता है। राधा का नाम भी भागवत में नहीं आया है। सूरसागर में राधा-कृष्ण के प्रेम का आरंभ, विकास तथा परिणाम बहुत ही सुंदर ढंग से तथा पूर्ण विस्तार के साथ वर्णित है। उद्धव-संदेश की कथा भागवत में है अवश्य, किंतु बिलकुल नीरस रूप में है। सूरसागर में गोपियों की विरहावस्था का अत्यन्त उत्कृष्ट वर्णन है और इस के अतिरिक्त इस कथा का उपयोग निर्गुण उपासना तथा ज्ञान-कर्म मार्गों की अपेक्षा सगुण उपासना तथा भक्तिमार्ग की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए किया गया है। इन मौलिक अंशों का विस्तार भी कम नहीं है। सूरसागर के

दशम स्कंध पूर्वार्द्ध के अधिकांश का विषय कृष्ण की इस नए दृष्टिकोण से की गई बाल तथा प्रेम-लीलायें ही हैं।

अब एक स्वाभाविक प्रश्न यह हो सकता है कि फिर सूरसागर का क्रम भागवत से इतना अधिक मिलता हुआ क्यों है तथा स्वयं सूरदास अपनी कृति को भागवत का 'भाषा' रूप क्यों कहते हैं? सूरसागर का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने पर प्रत्येक व्यक्ति इस निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि वर्तमान सूरसागर एक ग्रंथ नहीं है बल्कि सूरदास की प्रायः समस्त कृतियों का संग्रह है। इस का मूल ढाँचा वास्तव में भागवत के बारहों स्कंधों का अत्यंत संक्षिप्त छन्दोबद्ध अनुवाद मात्र है। यह वर्णनात्मक अंश काव्य की दृष्टि से अत्यंत असफल है तथा धार्मिक दृष्टि से भी कोई विशेष महत्व नहीं रखता। इसी अंश के कारण यह धोका होता है कि सूरसागर भागवत का उल्था है, किंतु वास्तव में यह अंश अत्यंत गौण है। भागवत के इस संक्षिप्त छंदोबद्ध अनुवाद में अनेक स्थलों पर कवि की तद्विषयक *मौलिक पदरचना* भी संगृहीत है। ये पदसमूह विशेषतया दशम स्कंध पूर्वार्द्ध में मिलते हैं। ये अंश ही वास्तविक सूरसागर कहे जा सकते हैं। मौलिकता, रसात्मकता तथा धार्मिक विकास की दृष्टि से यह पदसमूह अत्यंत महत्वपूर्ण है। कवि की अन्य फुटकर रचनाएँ भी सूरसागर में अनेक स्थलों पर संगृहीत हैं। किन्हीं किन्हीं लीलाओं का वर्णन तीन-तीन चार-चार बार मिलता है। उदाहरण के लिए सूरसागर में तीन भ्रमरगीत मिलते हैं—पहला भागवत का उल्था है, दूसरा तद्विषयक मौलिक पदसमूह तथा तीसरा एक छोटा-सा छंदोबद्ध भ्रमर-गीत है, जो छंद आदि की दृष्टि से नंददास-कृत भँवरगीत का पूर्वरूप मालूम पड़ता है।

इस तरह हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भागवत का आंशिक अनुवाद होने पर भी इस समय सूरसागर नाम से प्रसिद्ध ग्रंथ का अधिक अंश कथानक तथा साहित्यिक और धार्मिक दृष्टिकोण से मौलिक है। इन मौलिक अंशों में प्रथम स्कंध के प्रारंभ में पाए जाने वाले विनय-संबंधी पद भी संमलित किए जा सकते हैं। यह अंश सूरदास की विनयपत्रिका के नाम से भी प्रसिद्ध है। दासभाव की प्रधानता के कारण विनय-संबंधी अधिकांश पद-समूह

कदाचित् वल्लभाचार्य के संपर्क में आने से पहले कवि द्वारा लिखा गया हो, यह आश्चर्य नहीं। चौरासी वार्ता में इस अंश के कुछ पदों का निर्देश सूरदास तथा वल्लभाचार्य की भेंट के अवसर पर किया गया है। इन मुख्य मौलिक अंशों के अतिरिक्त छोटे-छोटे मौलिक पदसमूह ग्रंथ में अनेक स्थलों पर मिलते हैं। विस्तार-भय से इन का उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है।

मैथिली-साहित्य (१४००-१७६८)—
नेपाल केंद्र

[लेखक—श्रीयुत डाक्टर उमेश मिश्र, एम्० ए०, डी० लिट्० (इलाहाबाद)]

जिस काल का वर्णन इस लेख में किया जायगा उस मे मैथिली भाषा के दो केंद्र थे। एक नेपाल, दूसरा मिथिला। नेपाल मे किस प्रकार मैथिली की उन्नति हुई इस का दिग्दर्शन प्रस्तुत लेख मे कराता हूँ।

'हिंदुस्तानी' के पिछले अंक में मै बता चुका हूँ कि नेपाल मे मैथिली भाषा की बड़ी उन्नति हुई और राजा से प्रजा तक सबों ने इसे बहुत अपनाया। इस भाषा मे अनेक ग्रंथ भी लिखे गए। इस के अनेक कारण हैं—

(१) जैसा कि मानचित्र से ज्ञात हो सकता है, मिथिला और नेपाल की सीमा परस्पर संबद्ध है। यद्यपि इन दोनों प्रदेशो के बीच अनेक घने जंगल तथा बड़े बड़े पर्वत-शिखर अभी भी वर्तमान हैं और गमनागमन में भो अनेक विघ्नबाधाएँ है, तथापि बहुत ही पूर्वकाल से नेपाल से मिथिला को आना और यहाँ से नेपाल को जाना लोगों के लिए बड़ी आसान बात रही है[१]। जब राजा नान्यदेव ने शाके १०१९ अर्थात् १०९७ ईस्वी[२] में नेपाल के मल्ल-

---

[१] 'लिंग्विष्टिक सर्वे अव् इंडिया', ग्रंथ ९, भाग ४, पृ० १७।

[२] किंतु 'वंशावली' के आधार पर डाक्टर डेनियल राइट का कहना है कि नान्यदेव ने शाके ८११ अर्थात् नेपाल सम्वत् ९ तथा ८८९ ईस्वी मे नेपाल पर चढाई की और अपना स्वत्व वहाँ जमाया। यद्यपि नेपाल के राज्यकाल के संबंध में अनेक मतभेद देख पड़ते हैं तथापि मै यहाँ डेनियल राइट के मत से सहमत नहीं हो सकता। अतः जैसा कि पूर्व में कह चुका हूँ नान्यदेव ने लगभग १०१९ शाके में नेपाल पर भी अपना शासन फैलाया। इस के और भी प्रमाण हैं। राजा नान्य-

वंशीय राजाओं को मार भगाया तो वे लोग मिथिला ही में आ कर रहने लगे उस के बाद भी बराबर मिथिला से आना जाना लगा ही रहा मैथिलों को नेपाल में बड़ी बड़ी जमींदारियाँ मिलीं, जो अभी तक बहुतों के पास पूर्ववत् वर्तमान हैं। इन्हीं जमींदारों में मेरे भी मातृकुल के लोग थे। इस से मिथिला और नेपाल का घनिष्ठ संबंध ज्ञात होता है।

(२) नान्यदेव के बाद हरिसिंहदेव मिथिला के बड़े प्रसिद्ध और विद्या-प्रेमी राजा हुए। उन्हों ने नेपाल पर भी शासन किया है। इस के बाद भी हरिसिंहदेव के पुत्र मानसिंहदेव ने लगभग पंद्रह वर्ष तथा उन के पुत्र शक्तिसिंह-देव ने लगभग बाईस वर्ष और इन के पुत्र श्यामसिंहदेव ने भी लगभग पंद्रह वर्ष तक नेपाल में राज्य किया। ये सब राजे मिथिला से आए हुए विद्वानों का पूर्ण आदर करते थे और जहाँ तक होता मिथिला की उन्नति की तरफ पूर्ण ध्यान देते थे। मैथिली ही इन दिनों राजभाषा थी।

(३) श्यामसिंह के कोई पुत्र नहीं हुआ। अतः इन्हों ने अपनी कन्या का भूतपूर्व मल्लवंशीय राजा (जो कि उन दिनों मिथिला में रहते थे) के साथ विवाह कर दिया। उस के बाद भी राजा प्रतापमल्ल (१६३९ ईस्वी) ने मिथिला ही के किसी वंश की कन्या से विवाह किया। इस के अनंतर रणबहादुरसाह तथा गीर्वाणयुद्धविक्रमशाह ने भी मिथिला ही से अपने वैवा-हिक संबंध स्थापित किए। और इन लोगों की वंशपरंपरा में बराबर मिथिला

देव के दो पुत्र हुए—गांगदेव तथा मल्लदेव। जिस में गांगदेव ने लगभग ४१ वर्ष मिथिला में राज्य किया। और नान्यदेव ने लगभग ५० वर्ष राज्य किया। इस हिसाब से १०६९ शाके के बाद गांगदेव का राज्यकाल आता है। यह नेपाल राज-कीय पुस्तकालय में वर्तमान एक रामायण के हस्तलिखित पुस्तक की निम्नलिखित पुष्पिका से भी स्पष्ट होता है—'सम्वत् (? शाके) १०७६ आषाढ़ वदि ४ महाराजा-धिराज-पुण्यावलोक-सोमवंशोद्भव-गौडध्वज-गांगेयदेव श्रीआनन्दस्य पाटकावस्थित पण्डित श्रीश्री कु (क ?) रस्यात्मज श्रीगोपतिनालेखीदम्।' इस से भी नान्यदेव का राज्यकाल १०१९ शाके ही सिद्ध होता है।

से घनिष्ठ संबंध बना रहा इसी कारण जितने उच्च कुल के लोग नेपाल में थे सब मैथिली भाषा को ही अपनी मातृभाषा समझते थे अतएव भाषा-विज्ञान-वेत्ताओं का कहना है कि "नेपाली भाषा बोलने वालों के आने के पूर्व नेपाल में मैथिली भाषा अथवा भोजपुरी के समान ही भाषा बोली जाती थी, यह संभावना की जाती है"[1] । डा० श्रीसुनीतिकुमार चटर्जी ने तो साफ साफ यह कहा है कि खसकुरा या नेपाली भाषा की उत्पत्ति १८ वीं शताब्दी के बाद हुई है । इस के पहले दक्षिण-पूर्व नेपाल में मैथिली ही बोली जाती थी । हाँ, इसी के साथ बंगला भाषा का भी अस्तित्व वहाँ था, यह भी उन्हों ने कहा है[2] । डा० प्रबोधचंद्र बागची का कहना है कि "पंचदश शताब्दी थेके ये भाषाय साहित्य रचना हते आरंभ हल "ताहा कखनओ प्राचीन मैथिली, कखनओ वा प्राचीन बाङ्गलार अनुरूप । तार एक मात्र युक्ति युक्त कारण मने हय ये नेपालेर प्राचीन वंशे ओ प्रभावसंपन्नव्यक्तिदेर शिक्षार भाषा छिल मैथिली । कारण, ताँदेर अनेकेई मिथिला थेके गियेछिलेन[3] ।"

(४) उन दिनों मिथिला के चारों तरफ विद्यापति तथा उन के पूर्व और बाद के हुए कवियों की कविता से लोग मुग्ध हो रहे थे । इन की कविता की भाषा मैथिली है । अतः मिथिला से घनिष्ठ संबंध होने के कारण, मैथिली ही को अपनी मातृभाषा समझते हुए नेपाल के साहित्य-प्रेमी राजा लोग भी मैथिली ही में ग्रंथ-रचना स्वयं करने लगे और विद्वानों को भी इस के लिए प्रोत्साहित करते रहे । फिर क्या था जिस भाषा के साहित्य को राजा ने अपनाया उस की भंडार-पूर्त्ति होने में कितना विलंब हो सकता है । इन्हीं कारणों से लगभग १७३८ ईस्वी तक मैथिली भाषा में रचित ग्रंथों का पता नेपाल में मिलता है । इन ग्रंथों में बहुत से तो पूर्ण रूप से केवल मैथिली ही में हैं तथा बहुतों में संस्कृत भी मिश्रित है ।

---

[1] 'लिंग्विष्टिक सर्वे अव् इंडिया', ग्रंथ ९, भाग ४, पृ० १७ ।

[2] 'बंगलाभाषा और उसकी उत्पत्ति'

[3] साहित्यपरिषद्पत्रिका, बंगाब्द १३३६, भाग ३६, संख्या ३ पृ० १७२ ।

महाराना जयस्थितिमल्ल ने १३८० से १३९४ ईस्वी तक राज्य किया[1] इन के तीन पुत्र हुए—धर्म्ममल्ल, ज्योतिर्म्मल्ल तथा कीर्त्तिमल्ल[2]। इन तीनों के नाम के पूर्व 'जय' भी लगाया जाता था। इन तीनों के राजत्व-काल में जो साहित्यिक रचना हुई उस का कुछ भी पता अभी नहीं है। जयज्योतिर्म्मल्ल के पुत्र यक्षमल्ल ने १४७१-१४९४ तक राज्य किया। इन्हों ने मिथिला तथा मगध को तथा अन्य छोटे छोटे राज्यों को जीत कर अपने अधिकार में कर लिया था[3]। इन के भी राजत्व-काल की साहित्यिक चर्चा का पता नहीं लगा है। इन के भी तीन पुत्र हुए—रायमल्ल, रत्नमल्ल तथा जयरणमल्ल। इन तीनों को इन के पिता ने तीन राजधानियों में अलग अलग राज्यभार सौंपा। रायमल्ल तो भातगाँव के राजा बने। रत्नमल्ल ने काठमांडू को अपनी राजधानी बनाया तथा जयरणमल्ल को बनेपा दिया गया। इन तीनों स्थान में साहित्यिक उन्नति बराबर होती ही चली आई।

भातगाँव के राजाओं के आधिपत्य मे साहित्य की विशेष उन्नति हुई। रायमल्ल के अनंतर भुवनमल्ल, जितमल्ल तथा प्राणमल्ल क्रम से राजा हुए। इन सबों के राज्य-काल मे भी साहित्यिक रचनाएँ अवश्य हुई होंगी, किंतु अभी उपलब्ध नहीं हुई हैं। संस्कृत के कुछ नाटकों की रचना हुई, इस का पता लगता है, किंतु यह ज्ञात नहीं है कि वह किस प्रकार की रचना है। प्राणमल्ल के बाद विश्वमल्ल १६ वीं शताब्दी के मध्यभाग में राजा हुए। इन के समय के

---

[1] सी० बेंडल, 'हिस्ट्री अव् नेपाल एंड सरौंडिंग किंग्डम्स्', पृ० २८।

[2] भक्तापुरी नगर्यां च त्रयो राजा विराजते।

धर्म्मो (ज्यो) तिश्च कीर्तिश्च ज्येष्ठमध्यकनिष्ठके। सी० बेंडल पृ० १५।

[3] आसीद्विश्वविशोभिनिर्म्मलयशोराशौ रघोरन्वये

विख्यातो जययक्षमल्लनृपतिर्दीतावदाताशयः।

यो राज्यं मिथिला विजित्य मगधं गत्वा गयां पौरुषात्

यो नेपालमकण्टकं व्यरचयज्जित्वा नृपान् पार्वतान्॥

[illegible] रचित [illegible] पृ० १

एक अधूरे नाटक का पता लगता है। इस का नाम 'विद्याविलाप' नाटक है। इस नाटक के आदि में सूत्रधार कहता है—

"श्रीमन् श्रीभक्तपत्तननगरी सकलगुणिजनशोभित, तार महिमा शुन… श्रीश्रीविश्वमल्ले नृपती 'श्रीश्रीजयविश्वमल्लदेवस्य सभा के महिमा शुन…" इत्यादि।

विश्वमल्ल के अनंतर त्रैलोक्यमल्ल, जिन का दूसरा नाम त्रिभुवनमल्ल था, राजा हुए। १५७२ से १५८६ तक इन्हों ने राज्य किया। यह साहित्य, न्यायशास्त्र, आगम तथा कविता में बड़े निपुण थे[१]।

इन के समय में भी अनेक नाटक लिखे गए। इन नाटकों के पद्यभाग अधिकांश गान के लिए ही लिखे जाते थे, यह निम्नलिखित पद्यों से स्पष्ट मालूम होता है। पद्यों को पढ़ने से उन के उच्च भावों को देख कर यह मालूम होता है कि नेपाल में उन दिनों मैथिली भाषा की उन्नति बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। यह उदाहरण मैं ने डाक्टर बागची के 'साहित्य-परिषद्' के लेख से उद्धृत किए हैं—

कमलनयन मोहि विसारल
सुन मधुरिका सखि।
वसंत दारुण काल गमाओब
कइसन जीवन राखि।
दक्षिण पवन मेघ सुधाकर
भेल सम किछु आनि।
चंदन शीतल वोलिले गाओल
रेणु उडए लह लागि।

---

[१] तस्मात्त्रैलोक्यमल्लः समजनि रजनीजानिजेता यशोभिः
साहित्यन्यायशास्त्रागमवरकवितारण्यसचारसिंहः।
दाता भोक्तावदाताशयगतिरनघश्चण्डिकापादसेवा—
पण्डीभूताधिजानः शिवचरणसरोजन्मचिंताद्विरेफः॥
—स्वरोदयदीपिका, नेपाल राजकीय पुस्तकालय सूची, पृ० १०८।

वदनि ए हरि विनु क्द हय दुख
चरण कमल यदि छाड़ल ता दिन गयल सुख।
सकल रयनि जागि गमाओलि
न छाड़े नीर नयन।
अवश्य आओत हरि महागुणी
वीरनारायण भान॥

'भणिता' से मालूम होता है कि वीरनारायण इस के रचयिता थे। इसी नाटक से विरह-वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—

सघन वरिसए मेहा
सुमरि सुबंधु महा।
जीव छटपट नींद न आवए
विरह दगध देहा।
मन पंछि हय जावो
जाहागिया पायिबो।
हाते धरिया पाय पड़िया
गला तुलिया लइबो।
चंदन चिरण भावए
कुसुम साजि सोहावए।
अङ्ग मोहि मोडि आङ्गन ठाकि
मन चौदिक धावए।

डा० बागची का कहना है कि यह नाटक समस्त एकत्र नहीं मिला। अतएव इस का नाम क्या है, यह भी नहीं कहा जा सकता है। किंतु विषय को देख कर यह मालूम होता है कि यह राधाकृष्ण को लेकर लिखा गया था।

ऊपर दिए हुए गानों की सुगठित भाषा, भावों का सन्निवेश तथा पदों का लालित्य देख कर यह अनुमान होता है कि इस प्रकार के अनेक ग्रंथ पूर्व से लिखे जाते थे और त्रिभुवनमल्ल के समय में भी अवश्य अनेक ग्रंथ लिखे

गए होंगे। दुर्भाग्यवश मैथिली की खोज अभी प्रारंभिक दशा ही में है। अतः इस के और ग्रंथों का पता अभी नहीं लग रहा है।

त्रिभुवनमल्ल के बाद जगज्ज्योतिर्मल्ल राजा हुए। इन का राज्यकाल लगभग १६१३-१६३३ ईस्वी कहा जाता है। यह बड़े पराक्रमी तथा अनेक शास्त्रों के विद्वान् हुए[1]। इन्हों ने मिथिला से अनेक उत्कृष्ट विद्वानों को अपने यहाँ बुला कर उन से नाना प्रकार के ग्रंथ पढ़े और उन की सहायता से अनेक विषयों पर ग्रंथ भी लिखे। मिथिला से उन दिनों आए हुए विद्वानों में कविवर पंडित वंशमणि झा सब में प्रसिद्ध थे।

जगज्ज्योतिर्मल्ल ने अनेक ग्रंथों की रचना की यथा (१) 'नरपति जयचर्य्या' की 'स्वरोदयदीपिका' नाम की टीका,[2] (२) पद्मश्रीविरचित 'नागर सर्वस्व' नामक कामशास्त्र ग्रंथ की टीका,[3] (३) 'श्लोकसारसंग्रह'[4] (४) 'संगीतभास्कर'—यह ग्रंथ मैथिल पंडित श्रीवंशमणि झा की सहायता से लिखा गया;[5] (५)। संगीतसारसंग्रह,[6]। इन के अतिरिक्त इन्हों ने अनेक भाषा ग्रंथ भी लिखे। १६२८ ईस्वी के लगभग 'मुदितकुवलयाश्व' नामक नाटक इन्हों ने लिखा। इस नाटक का आदर पाश्चात्य देशों मे विशेष कर हुआ। डा० पिशेल ने बड़े आदर के साथ इस ग्रंथ के अनेक अंशों को उद्धृत किया है[7]।

---

[1] तत्पुत्रो दानकर्णो जयति जयजगज्ज्योतिमल्लो नरेंद्रो
ज्योतिःसाहित्यशास्त्रस्मृतिविविधकलाम्भोधिपारङ्गमज्ञः।
नारीणामप्यगेणां सपदि मुखविधुं यस्य दृष्ट्वातिकष्टाद्
वैवर्ण्यं मूर्च्छा प्रभृति बहुविधा हंत भावा भवंति—स्वरोदयदीपिका।

[2] नेपाल राजकीय पुस्तकालय हस्तलिखित ग्रंथसूची, पृ० १०८-१०९।

[3] गुजराती प्रेस, बंबई से मुद्रित।

[4] नेपाल राजकीय पुस्तकालय हस्तलिखित ग्रंथसूची, पृ० २५९।

[5] वही पृ० २६२-२६३।

[6] वही, पृ० २६३-२६४।

[7] जर्मन ओरिएंटल सोसाइटी, हस्तलिखित पुस्तक-सूची, पृ० ७-८।

डा० बागची का कहना है कि इस नाटक की भाषा प्राचीन मैथिली है पाठकों को यह स्मरण रखना चाहिए कि प्राचीन मैथिली और आधुनिक मैथिली भाषा में विशेष अंतर नहीं है। केवल कतिपय शब्दों के प्रयोग में तथा उन के अर्थ में बहुत अंतर हो गया है। इस से भाषा में किसी प्रकार का वैचित्र्य नहीं उत्पन्न हुआ है। १६२९ ईस्वी में इन्हों ने द्वितीय नाटक 'हरगौरीविवाह' नाम का लिखा। इस नाटक की एक प्रति कैंब्रिज-विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में है। इसी समकाल में 'कुंजविहार' नाम का तीसरा नाटक भी इन्हों ने लिखा। इस नाटक के नाम ही से यह मालूम होता है कि यह राधा-कृष्ण की लीला को लेकर लिखा गया है। इस नाटक से कुछ पद्यांश यहाँ डा० बागची के लेख से उद्धृत किया जाता है—

सूत्रधार की उक्ति—

कुञ्जविहार हरि छाज रे
गोपी सबे हरखित आज रे।

राधा और कृष्ण का गान—

जाहि बह जमुना तीर, शीतल सुरहि समीर।
नवदल तरुअर सोह, मधुकर धुनि सब मोह।
ताहि विंदिरावन माझ, हमर हृदय गुणें बांझ।
ताहाँ गए करिए विलास,
जहाँ पहु पुराबए आस।
नृपजगज्जोतिमल्लवानी,
मोर गति एके भवानी।

इस ग्रंथ में ऋतुओं का वर्णन तथा गोपी एव राधिका की उक्तियाँ अनेक हैं।

पहले कहा गया है कि जगज्ज्योतिर्म्मल्ल के समय में मिथिला के एक प्रसिद्ध विद्वान् वंशमणि झा नेपाल में रहते थे। यह यद्यपि मुख्यतया काठमांडू के राजा की सभा में पंडित थे तथापि जगज्ज्योतिर्म्मल्ल के यहाँ भी यह आते थे और इन से राजा ने बहुत कुछ पढा था। यह भारद्वाज गोत्रोत्पन्न,

बिल्वपंचग्राम (बेलोंचे) मूलक पंडित रामचंद्र झा के पुत्र थे। पंडित रामचंद्र झा भी अनेक शास्त्रों में बड़े निपुण थे[1]। जगज्ज्योतिर्मल्ल के साथ वंशमणि झा १६१३ ईस्वी में थे। इस का प्रमाण यह है कि जगज्ज्योतिर्मल्लरचित 'स्वरोदयदीपिका' पुस्तक वंशमणि ने ल० सं० ४९४ अर्थात् १६१३ ईस्वी में राजा की आज्ञा से लिखी थी[2]।

वंशमणि झा के बनाए हुए केवल तीन ग्रंथों का पता अभी लगता है। (१) भाषानाटक 'गीतदिगंबर', (२) 'चतुरंगतरंगिणी', तथा (३) 'संगीत-भास्कर'। यह अंतिम ग्रंथ जगज्ज्योतिर्मल्ल-रचित 'संगीतचंद्र' की टीका है[3]। यह नेपालीय संवत् ७५१ अर्थात् १६३१ ईस्वी में लिखा गया था।

काठमांडू के राजा प्रतापमल्ल ने १६५५ ईस्वी में महातुलादान किया था। उसी अवसर पर वंशमणि ने 'गीतदिगंबर' नामक भाषानाटक की रचना

---

[1] प्रिये ! अस्ति किल भरद्वाजकुलजन्मना जनकजनपदीयेन रामचंद्रशर्म्मणः पुत्रेण वंशमणिकविनोपनिबद्धं गीतदिगम्बरं नाम रूपकमिति···।

आह को एत्थ रामचंदो ।

प्रिये न जानासि यस्यैषा प्रशस्तिपद्धी—

निर्दोषा कोषवृन्दे नटति पटुतया नाटके साटकेऽपि
न्याये वैशेषिके वा विलसति सविशेषैव साङ्ख्येति मुख्या ।
गद्ये पद्येऽतिहृद्ये सहृदयहृदयानन्दिनी यस्य बुद्धि-
र्जातः श्रीविल्वपञ्चाभिधकुलजलधौ चंद्रमा रामचंद्रः ॥

[2] शुभमस्तु श्रीरस्तु शाके १५३६ ल० सं० ४९४ श्रीजगज्जोतिर्म्मल्लनिदेशमासाद्य श्रीवंशमणिशर्म्मा व्यलेखीदं पुस्तकम्—नेपाल राजकीय पुस्तकालय हस्तलिखित ग्रंथ-सूची, पृ० १०९।

[3] श्रीमज्जगज्ज्योतिरधीश्वरस्य निदेशमासाद्य गुणोत्तरस्य ।

सङ्गीतशास्त्रस्य चकार टीकां श्रीमैथिलो वंशमणिर्मनीषाम्—नेपाल राजकीय पुस्तकालय हस्तलिखित ग्रंथ-सूची, पृ० २६३।

की[1]। यह नाटक चार अंकों में समाप्त हुआ है प्रथम अंक का नाम मुदित महेश', द्वितीय का 'मालतीमानभंग', तृतीय का 'निरक्तविरूपाक्ष' तथा चतुर्थ अंक का नाम 'सकामकामेश्वर' है।

कहीं तो इस नाटक में संस्कृत में श्लोक तथा गद्य भी है और कहीं मैथिली के पद्यों की भरमार है। आदि में ही मंगलाचरण करते हुए कवि ने शिव के अर्धनारीश्वर रूप का वर्णन किया है—

आध मौलिमण्डन फुलमाले,
आध तरङ्गित सुरसरि धारे।
आध अलिक तिलक नव इन्दु,
आध सोहाओ सिन्दुर बिन्दु।
कोमल विकट दुहु चारी,
अपुरुब नाच करथि त्रिपुरारी।
एकदेह अधपूरुष दारा,
तेतिसकोटि देव देखनिहारा।
सुकवि वंशमणि एसुर गावे,
सेवि देव हर की नहिं पावे।

इसी प्रकार के अनेक पद्य इस नाटक में और भी हैं। इस नाटक की जो हस्तलिखित प्रति मेरे पास है वह बहुत ही अशुद्ध है तथा इस में बहुत छूट भी है। तथापि पाठकों के विनोदार्थ तथा इन पद्यों की भाषा मैथिली ही है, यह दिखाने के लिए कुछ और भी पद्यों को यहाँ उद्धृत कर देना आवश्यक है।

---

[1] शाके १५७७ आषाढ़कृष्णपञ्चमी बुधे।
तुलाधिरूढे नृपतिप्रतापे प्रभाकरे धूतसमस्तपापे।
सुवर्णकान्ते विमले निशान्ते रत्नाकरे विप्रगणा ममज्जुः ॥
प्रतापमल्लप्रभुकल्पिताया जगत्त्रयेऽस्मिन्न तुला तुलायाः।
यदुच्चनीचेषु पयोमयीव हिरण्मयी वृत्तिरिवाविरासीत्।
—'गीतदिगंबरनाटक' पुष्पिका।

वसंत का वर्णन—

आएल उधम समय ऋतुराज,
सबहि सोजे (सोभें) नेन (जेन) युवतिसमाज।
पिक पञ्चम धुनि मङ्गल पूर,
वसंती बिलह पराग सिंदूर।
······मित कानन अलिझंझकार,
मुनिहुक मानस मदन विकार।
वअलित जागवलिवमल (?) चंद,
देखु विरहि जन जीथन (जीवन) दंद॥"

भैरवी—

परिमि जोग मो"···अभिमाने
पिक पञ्चमधुनि भव स्वगेज्ञाने (स्वगेआने)।
विसरल जपत जपत धएल साधी,
लागि रहल मन मदन समाधी।
करथि महेश वसंत विहार,
गावि सङ्गे जोग नाग विसार॥"

करह उनत हलि मुख अरविंदा रे।
सरिमए उगओ गगन दुइ चंदा रे।
विधुक वेधरण हेरह मधु निसा रे।
कुवलय पांति फूलओ दह दिसा रे।
सरसनि सनिहा रिवो जह (?) किछु वानि रे,
वरिसह······विसुधा मधुसानि रे।
रहलि विभावरि रस अवसान रे,
तेजह अकारण मरदन मान रे।
सुकवि वंशमणि एहु रस गाव रे,
अहन यनचन (?) काहि नहिं भाव रे॥

अन्य संस्कृत नाटकों की तरह इस नाटक मे भी संस्कृत भाषा में पद्य और कहीं कहीं गद्य भी है। नटी तथा चेटी आदि पात्र प्राकृत में भी बोलते हैं। गान तो सब मैथिली ही मे है।

जगज्ज्योतिर्म्मल्ल के बाद उन के पुत्र जगत्प्रकाशमल्ल राजा हुए। इन का राज्यकाल १७ वीं शताब्दी का मध्य-भाग है। यह भी अपने पिता के समान विद्या-प्रेमी राजा थे। इन के बनाए हुए संस्कृत में भी 'भवानीस्तव' (१६६२ ई०) 'नारायणस्तव' (१६६७ ई०) तथा 'पद्यसमुच्चय' नाम के ग्रंथ मिलते हैं। मैथिली में रचित इन के 'मलयगंधिनी' नामक नाटक का पता डा० बागची को लगा है, जिस के नांदी में लिखा है "जगतप्रकाश भने नाटक नाथे"। तथा सूत्रधार का कथन है "श्रीश्री जय जगत्प्रकाशमल्ल क आज्ञा भेल छ'''मलयगंधिनी नाटक अभिनय करु"। यह नाटक असंपूर्ण पाया जाता है। किंतु यह नहीं कहा जा सकता है कि यह संपूर्ण नहीं हुआ था, क्योंकि महाराज श्रीनिवासमल्ल के देवीमहोत्सव के उपलक्ष मे इस का अभिनय हुआ था।

जगत्प्रकाशमल्ल तथा श्रीश्रीनिवासमल्ल में परस्पर कुछ दिनों तक पूर्ण मैत्री थी। यह भी इसी नाटक के पढ़ने से मालूम होता है—

> चौखण्ड नरपति तोहर बखन
> त्रिभुवन महीपति सम नहि आन।
> निरमलमति तुअ गांग जलधर
> गल गजराज मोति सुंदर हार।
> चौसठि कलापर सरूपहि काम
> बारदक शशिमुख बड अभिराम।
> शिरि निवास भूपति शरण लेला
> जगतप्रकाश मति ताहा सुख देला।

इसी के बाद सूत्रधार पुनः कहता है—

हे प्रिये ! पुहेन राजा श्रीश्रीनिवासमल्ल। उन्हिक जश वर्णना भक्तापुर क राजा सतत करथि।

इस के अतिरिक्त जगत्प्रकाशमल्ल ने एक 'मदनचरित' नामक नाटक रचा था, जिस का अभिनय उन के कनिष्ठ पुत्र उग्रमल्ल के उपनयन के अवसर पर, लगभग १६६३ ई० में हुआ था। इस नाटक की पुष्पिका में लिखा है—

"इति श्रीश्रीजयजगत्प्रकाशमल्लकृतं कनिष्ठपुत्रश्रीश्रीउग्रमल्लस्य उपनयनार्थे मदनचरितं नाटकं समाप्तम्"

इस का गद्यांश भी बहुत मधुर है—

सूत्रधार—हे प्रिये ! एतय आउ।

नटी—हे नाथ ! हमर प्रणाम। की आज्ञा करैछिअ।

सूत्रधार—हे प्रिये ! श्रीश्रीजयजगतप्रकाशमल्ल देव क ज्येष्ठ राजकुमार श्रीश्री जयजितामित्रमल्ल क आज्ञा भेल अछि। इत्यादि।

पद्यांश भी अपूर्व है—

अथिर कलेवर कमलपातक जलतूले।
भवन कनकजन रजत आदि जप थिर नहि रह सब जने।
सुत मित सब धन सुख दुख सब अथिर जानब मने।

इत्यादि

डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी का कहना है कि यह सिद्धनरसिंह के पुत्र श्रीनिवासमल्ल की सभा में लिखा गया। 'मार्कंडेयपुराणोक्त ललितकुवलयाश्व—मदालसोपाख्यान—शिवमहिमानाटक' को १९२३ ई० में जोसेफ़ ओष्टर नामक एक जर्मन प्रकाशित करने को उद्यत थे। इस नाटक में गान मैथिली में हैं।

जगत्प्रकाशमल्ल के ज्येष्ठ पुत्र जितामित्रमल्ल भी बड़े उत्साही तथा विद्वान् राजा हुए। इन्हों ने संस्कृत में 'अश्वमेधनाटक' नेपाली संवत् ८१० पौष सुदि अर्थात् १६९० ई० में लिखा। इस का दूसरा नाम 'जैमिनिभारत' भी है। इस के भी गान बहुत सुंदर हैं। पता नहीं कि इस में भाषा का अंश कितना है, क्योंकि पुस्तक का समस्त वर्णन नहीं मिला है। जितना मिलता है उस में तो केवल संस्कृत ही है।

इस के अतिरिक्त 'मदालसाहरण' नामक मैथिली नाटक उन्हों ने १६८१ में लिखा, जिस का कुछ अंश यहां उद्धृत किया जाता है, जिस से पाठकों को यह मालूम हो जाय कि अन्य नाटकों की भाषा के समान ही इस की भी भाषा है—

विमल वहय सिर सुरसरि धार
नाचत मगन शशिशेखरा।
सुमति जितामित्र कह नृप ईश
देखु सदाशिव अभयवरा।

प्रिय सुन इन्दुमुखी तेज तोंहे मान
तोरित अधरमधु देह रतिदान।
तुअ सम सीमन्तिनी न देखल आन
दरशने भेल मोर थाकित परान।

ये पद्य उमापति उपाध्याय-रचित 'पारिजातहरणनाटक' के पद्यों से बहुत मिलते जुलते हैं। जैसा—

चानकला नयनानल थापल
मानल सुख भुजंगवरा।
अमिय सार हरि अविरल हो मल
हसल सकल सुर असुर नरा।

अवगुन परिहरि हरषि हेरु धनि
मानक अवधि बिहाने।
हिमगिरिकुमरि चरण हृदय धरि
सुमति उमापति भाने॥

इस के बाद काठमांडू के राजा प्रतापमल्ल के पौत्र भूपालेंद्रमल्ल ने भी मैथिली भाषा में नाटक रचे। भूपालेंद्रमल्ल लगभग १६८२ ई० में राजा हुए। इसी समय '—————' का अभिनय हुआ था निम्नलिखित पद्य से

ही इस नाटक की भाषा का परिचय पाठकों को आप ही आप हो जायगा। डा० बागची का कहना है कि इस नाटक की भाषा मैथिली है

तेरो वदनमा तो शशधर
मेरो नयन चकोरा।
देखत मोहए अधिक सोहए
कहहु वचन मोरा।
देखिते सुंदर चपललोचन
काजर शोभा री।
मनो पंकज ममर सोहत
पवन से लघुचारी।
पार्थिवेंद्रसुत नृप भूपालेंद्र कहत
एहो विचारी।
उचित समय मिलहुँ नागरि
पति से मनि समारी॥

जितामित्र के बाद भूपतींद्रमल्ल नेपाल के राजा हुए। इन्हों ने १६९५ से १७२२ ई० पर्यंत राज्य किया। इन के बनाए हुए अनेक नाटक मिलते हैं। इन के रचे हुए स्फुट गान भी अनेक पाए जाते हैं। डा० बागची का कहना है कि नेपाल-राजकीय-पुस्तकालय में एक 'भाषासंगीत' नाम का ग्रंथ है। इस ग्रंथ में ८१ गान हैं। यह भूपतींद्रमल्ल के बनाए हुए हैं। इस का पता उन गानों की भणिता से लगता है। गानों की भाषा शुद्ध परिष्कृत मैथिली है, जैसा कि निम्न उद्धरणों से सिद्ध होगा। डा० बागची के लेख से कुछ पंक्तियाँ मैं यहाँ उद्धृत करता हूँ—

हे देवि शरण राख भवानी।
मन वच करम करओ मान किछु
से सबए तुअ आपद जानि।
हमे अति दीन खीन तुअ सेवा
राख हरि यजन ठानि।

अभिनय मोर अपराध सभय
अन जनु राखह आनि ।
आओर इतर जन जग जन से सभय
गुण रसमक से वानि ।
तुअ पद कमल भमर मोर मानस
जनम जनम रहो मानि ।
भूपतींद्र नृप एहो रस गाव
जय गिरिजापति रानि ।

विरहवर्णन—

कि माधव न तेजह अवलाअ आनि । ध्रु०
शरद यामिनी हमे हेरिलहुँ हे चउदीशे
देखि शशि दगह परान ।
नाह अपनहि कट मने भाविय
मलय पवन हन चान ।
मधुकर भमि भमि विपिन कुसुम रमि
झुरि पिबय कर राव ।
युवति हृदयदल परम कठिन मन
पाए न तह अति माव ।
सरसिज सरोवरे द्रुम भय पिकधुनि
शुनि जिव काँपय मोर ।
भवन आसन घन, भल न सतावय
खन खन चिंति थिति मोर ।
कओन गुणे परबस रय (ज) नि गमाओल
आतुर अथिर गेआन ।
भूपतींद्र नरपति मन सुनु मानिनि
रतिरस होएत निधान

डा० बागची का, कहना है कि 'माधवानल', 'रुक्मिनीपरिणय' तथा और भी दो खंडित नाटकों की भूपतींद्रमल्ल ने रचना की थी। 'माधवानल' की रचना १७०४ ईस्वी में हुई थी। इस नाटक में राजवर्णन तथा देशवर्णन भूपतींद्र ने दूसरे के नाम से किया है। इस की भी भाषा मैथिली ही है। इसी प्रकार 'रुक्मिनीपरिणय' की भी भाषा है। जैसे—

> जगत जलधि सट तरि नहि होथि
>
> शिव क भजन बिनु आओर न कोथि।

ऊपर दो खंडित नाटकों की चर्चा हुई है। निम्न-लिखित पद्यों से मालूम होता है कि ये भी परिशुद्ध मैथिली नाटक हैं।

> तोहे प्रभु नागर सुगुन आगर
>
> रूपे मदन समान।
>
> सोरह चउगुन कला क आगर
>
> रसिक गुनगन जान हे।
>
> नारि अलपमति आन नाहि गति
>
> कामे दहत शरीर
>
> जनम सफल कर आज पहु मोर
>
> श्रीभूपतींद्र भन वीर हे॥

इस के अतिरिक्त भूपतींद्रमल्ल ने 'विद्याविलाप' तथा 'महाभारत' नाम के और भी दो नाटक लिखे थे।

'विद्याविलाप' सात अंक में समाप्त हुआ है। प्रसिद्ध 'विद्यासुंदरनाटक' जो हिंदी में है—वही कथा इस में भी है। पात्रों के प्रवेश-सूचक वाक्यों के तथा तीन संस्कृत श्लोकों के अतिरिक्त यह समस्त नाटक मैथिली भाषा के पद्यों में लिखा गया है। प्राचीन मैथिली के बहुत से परिचित शब्द तथा कारक चिह्न एवं लिखने की परिपाटी इस में पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। 'ञे' प्रथमा तथा द्वितीया कारक के स्थान में प्रायः प्रयुक्त हुए हैं। जैसे "विद्याञे अनुचित कएलन्हि काज"; "राजाञे देल जत" तथा "जे जन विद्याञे जित से पहु मोरा"।

यह प्रयोग १३वीं शताब्दी से चले आ रहे हैं और ज्योतिरीश्वर के 'वर्णरत्नाकर' में प्रचुर रूप से हैं। 'सञो' तथा 'जञो' 'से' और 'यदि' के लिए प्रयुक्त हुए हैं। ये भी प्राचीन ही प्रयोग हैं। 'दरबार चलह' यहाँ 'दरबार' शब्द अति शीघ्र के अर्थ में प्राचीन मैथिली में प्रयुक्त होते थे। यह नेपाली सं० ८४० अर्थात् १७२० ईस्वी में लिखा गया था।

इस के कुछ सुंदर पद्य पाठकों के लिए मैं उद्धृत करता हूँ—

'विद्याविलाप' के नांदी में कवि ने कहा है—

जय जय शंकर देव नटेशर
वह सिर सुरसरि धार।
चाँद ललाट शोभित अच्छ
निरमल उरवर फनिपति हार। हे नटेशर।
गौरी कलिततनु अपने दिगम्बर
तीनि नयन सुविराजे।
असन धुथुरफल वसन वघम्बर
पूरथि सुरगन काजे
भसम लेपित अङ्ग हर करुणामय
शूल डमरुकर ईश।
शंख तुहिन तुल देह वरण तुअ
गल रह कालिम वीस।
रघुकुलकुलमणि भूपतीन्द्र नृप
वरणित एहन अनूपे
चारि पदारथ दायक ईशर
मुनिगण भावित रूपे॥

जलक्रीड़ा वर्णन करती हुई विद्या नायिका बसंत राग में गाती है—

साजनि! सरोवर खेलायब रंगे॥ ध्रु०॥
मत्त मराल विहार कयल जल,
देखयित भेल उलास।

चारु चकइ चकवा दुहु तीरहि,
करय केलि विलास।
जाहि जूहि फुल सितरुचि विकसित,
तोड़ब सब मिलि आज।
विश्वलछिमिप्रिय भूपतीन्द्र नृप
गावय रणजित राज॥

हमे अबला पहु वयसहि थोर,
दूबर तनु सुकुमार।
न (?) देह कलेश
कुसुम न सह खगभार॥[1]
नारि कज विनय मन जनु राखिअ
नागर भय सगेआन।
लालमतिदेविसुत भूपतीन्द्र नृप भान॥

दूसरा नाटक 'महाभारत' है। यह २३ अंकों में समाप्त हुआ है। यह नेपाल-संवत् ८२२ अर्थात् १७०२ ई० मे लिखा गया है। संक्षेप में महाभारत की मुख्य कथा का वर्णन इस में किया गया है। चार पाँच श्लोक संस्कृत मे हैं और गान सब मैथिली में हैं। पात्रों का प्रवेश तथा निस्सरण नेवारी भाषा में मालूम होता है। इस नाटक में भी 'विद्याविलाप' के समान ठेठ मैथिली भाषा का प्रयोग अधिक देख पड़ता है। बहुत से प्राचीन प्रयोग इस में भी वर्तमान हैं। जैसे—"अबे हमे जायब"; "चल चल जायब तोराञ ततञ"—(चलो चलो शीघ्र हम वहाँ जायंगे); "हम सञो आजि" (सञो=से); "विधाताञे देल आज ई दुख यो (जो) हि" (विधाता ने आज यह दुख खोज कर मुझे दिया); "कि दहुँ होयत किकर आजे" (कि दहुँ=क्या); "जितब हमे जञो" (जञो=अगर) "हठ तेजु एहाञे जायब बनवासे" (एहाञे=आपही) "हम सञो न

[1] 'फूल न सहय खगभारा'—महाभारत नाटक, अंक ७।

करह गुमान" (मुझे गौरव न दिखाओ) "मिलि कहु काहिनि कहब गय" (हम सब मिल कर बातचीत करेंगे या उन से यह बात कहेंगे); "जन्हिक (जिन की) कृपा"; "तेजह सिनेह तन्हि (उन का)" इत्यादि। 'देखब गय'; 'करब गय', 'हेरब गय' इस प्रकार का प्रयोग ठेठ मैथिली में होता है। आधुनिक परिष्कृत मैथिली में 'गय' का प्रयोग धीरे धीरे लुप्त हो रहा है।

पाठकों के मनोविनोदार्थ कुछ पद्य यहाँ दिए जाते हैं, जिस से कविता का गुण तथा भाषा का परिचय उन्हें स्वयं हो जाय।

धृतराष्ट्र गांधारी से कहते हैं—

अमिअ वचन सुनु सुन्दरि मोर।
निरमल तुअ मुख शारद चन्द।
उपजल से देखि आनन्द कन्द॥
हेमकलस जनि उरसिज तोर।
भूपतींद्र कह समुचित जोर॥

रुक्मिणी तथा सत्यभामा कृष्ण से कहती हैं—

सुनु पहु मोर एक गोचर आज।
पुरुब पुण्यफल पाओल तुअ हमे
चरण दरशन नाथ हे॥
तनुरुप तुअ देखि मदन मलीन।
कतेक कहब गुण अति मोर खीन॥
प्रेमरस देह आबे चतुर सयान।
भूपतीन्द्र नृप मन तोहर बखान॥

द्रौपदी भीम से कहती हैं—

कमल बदन तुअ सुंदर देखल,
खेलय नयन चकोर।
हृदय जुडावह हसि चलु प्रेयसि,
पूरह मनोरथ मोर।

पृषती द्रुपद से कहती हैं—

पहु मोर प्राण अधार ॥ ध्रु० ॥
अपुरुब सुन्दर प्रेमक सागर
प्रियतम काम समान ।
नारि अलपमति कोने गति वर्णब
तोहे प्रभु गुणक निधान ।
पुनमत पुनमति नारि नागर दुहु
बीहि मिलाओल आनि ।
भुवन विदित नृप सुरपति तुलरुप
भूपतीन्द्र एहो वानि ॥

कृष्ण तथा व्यास भगवान् युधिष्ठिर से कहते हैं—

न करह युधिष्ठिर तोहे अनुतापे ॥
क्षत्रिय धरम थिक एहाय कयल निक
एहि आज तेजह संका ।
करु अबे हयमख नृप (क)र प्रियसख
भूपतीन्द्र मन अकलङ्का ॥

यहाँ यह कह देना उचित है कि श्रीयुत ननीगोपाल वन्द्योपाध्याय के समान कुछ बंगालियों ने इन नाटकों को बंगला भाषा का नाटक कहा है। किंतु यह उन लोगों का दुराग्रह मात्र है, यह तो बड़े बड़े पाश्चात्य तथा प्राच्य विद्वानों ने सिद्ध कर दिया है। यहाँ तक कि डा० श्रीसुनीतिकुमार चटर्जी, डा० बागची आदि बंगाली विद्वानों ने ही इन नाटकों की भाषा को मैथिली सिद्ध किया है और इस के लिए मैथिल विद्वान उन के चिर-कृतज्ञ हैं। और यही कारण है कि श्रीननीगोपाल वन्द्योपाध्याय को "हकराँ जायब सखी गाओब गीते" इस पद्य में 'हकराँ' शब्द का अर्थ नहीं मालूम हुआ और उन्हों ने इसे 'एकला' बनाया है। और इसी प्रकार "लुटि आनब गय गाय सगरे"

इस पद्य में 'सगर' का भी अर्थ उन्हें नहीं मालूम हुआ जिस के लिए उन्हों ने 'सकल' पाठ स्वीकार किया है।

भूपतींद्रमल्ल के पुत्र रणजित् मल्ल १७२२ ईस्वी से कुछ पहले ही भातगाँव के राजा हुए। यही मल्लवंश के अंतिम राजा थे। इस के अनंतर गोर्खाओं का राज्य आरंभ हुआ। रणजित् मल्ल ने लगभग ५० वर्ष तक राज्य किया। अपने पूर्वजों के समान यह भी बड़े उत्साही तथा विद्याप्रेमी और विद्वान थे। इन्हों ने अनेक नाटकों की रचना की। जिन में से कुछ तो लोगों को प्राप्त हैं, किंतु अधिकांश अभी भी उपलब्ध नहीं हुए हैं। संभव है कि ये सब अभी भी नेपाल-राजकीय-पुस्तकालय में अथवा अन्यत्र पड़े हों।

डा० बागची का कहना है कि 'उषाहरण', 'अंधकासुरवधोपाख्यान', 'कृष्णचरित्र', 'मदनचरित-कथा', 'कोलासुरवधोपाख्यान' तथा 'रामायण' नामक नाटक इन के रचित देख पड़ते हैं। 'उषाहरण' नाटक १७५४ ईस्वी में लिखा गया था। यह नाटक नौ अंकों में समाप्त हुआ है। यह रणजित् मल्ल के इष्टदेवता के मंदिर के जीर्णोद्धार के समय में खेला गया था, यह सूत्रधार के कथन से ज्ञात होता है।

'अंधकासुरवधोपाख्यान' नाटक १७६८ ईस्वी में रचा गया था। यह भी अपने इष्टदेवता के प्रीत्यर्थ लिखा था। इस के कुछ गद्यांश यहाँ उद्धृत किए जाते हैं। रानी शशिरेखा कहती है :—

> हे प्राणनाथ हमरो विनती शुन।
>
> अंधकासुर—प्रियतमा कहु।
>
> भीमानंद—(मन्त्री) हे दानवाधिप हमरो विनती अवधान करु।
>
> अंध—भीमानंद ! कहु।
>
> अंध—शशिरेखा प्रिये चलु आप सदने।
>
> कनक घरे रहि विलास मदने॥

इस के अतिरिक्त रणजित् मल्ल ने 'रामचरित' तथा 'माधवानलकाम-कंदला' नामक नाटकों की रचना की। 'माधवानलकामकंदला' सात अंकों

मे समाप्त हुआ है इस नाटक मे माधवानल तथा कामकदला के प्रेम का वर्णन है अन्य नाटकों की तरह इस मे भी मैथिली भाषा के प्राचीन शब्द तथा उन के प्रयोग पूर्णरूप से विद्यमान हैं। इस से पूर्व के नाटकों मे केवल 'जन्हि', 'तन्हि' 'उन्हि' इत्यादि का प्रयोग मिलता है किंतु इस मे 'जन्हि कर' प्रयोग देख कर यह मालूम होता है कि संबंध का चिह्न 'कर' बाद में लगने लगा है। आधुनिक मैथिली में 'क' 'केर' 'कर' इन तीनों का प्रयोग होता है। 'गय' शब्द पूर्व में केवल भविष्यकालिक क्रिया के आगे देखने में आया है। इस नाटक मे आज्ञा के साथ भी इस का प्रयोग हुआ है। जैसे—'सुरधुनि तह सुता देखु गय आवे, किय नहि आयल हिय दर लावे' (अंक ३)। श्री ननीबाबू ने इस की भाषा को बंगला समझ रक्खा है। इस लिए उन्हें—

> उगओब गीत मंजुल ॥
> हकराँ साजनि चलु चूरु उ(ओ)गा(आ)रि ॥
> आओब जाय लथ पान सुपारि ॥

इस पद्य का अर्थ कठिन मालूम होता है। अतः उन्हों ने 'हँकरा' को 'एकला' तथा 'चलु चूरु' को 'चलुब' शुद्ध पाठ समझा है। किंतु यह ठीक नहीं मालूम होता है।

किसी के यहाँ कोई उत्सव हो तो उस को केवल देखने के लिए अन्य लोग बुलाए जाते हैं। इस बुलावे को मैथिली मे 'हँकार' कहते हैं। तथा उत्सव-स्थान या उत्सव को 'हकराँ' कहते हैं। देशाचार यह है कि ऐसे अवसर पर आई हुई सधवा स्त्रियों का तथा अविवाहिता कन्याओं का विशेष कर, एवं अन्य स्त्रियों का भी यथायोग्य सिंदूरादि से शृंगार किया जाता है। इस में जो शूद्रादि नीच कुल की स्त्रियाँ होती हैं, वे हाथ मे भर भर कर तेल लेकर अपने अपने माथे में लगाती हैं और अत्यधिक तेल लगा लेती हैं तथा सिंदूर, पान सुपारी आदि लेकर अपने अपने घर को आती हैं। इसी बात का वर्णन यहाँ है। समकालीन कविवर मनबोध झा ने इसी बात को निम्नलिखित शब्दों में कहा है—

तेल सिन्दूर सम देलन्हि आआरी
चरि चरि सुरु दल मथा गोआरी ।
(कृष्णजन्म, पृ० ७)

'रामचरित्र' नाटक जो कलकत्ते में छपा है, उस की भाषा बंगला से कुछ मिलती जुलती है।

इन नाटकों के अतिरिक्त मैथिली भाषा के और अनेक नाटक नेपाल मे लिखे गए। जिन में से 'हरिश्चद्रनृत्यम' नाम का एक नाटक १८९१ ई० मे आगस्ट कानरेडी द्वारा जर्मनी के लीपजिग नगर मे प्रकाशित हुआ है। इस मे समस्त गान मैथिली मे है, यह डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का कहना है। उन्हो ने यह भी कहा है कि इस प्रकार के दस बारह ही नहीं प्रत्युत इस से भी अधिक नाटक पाश्चात्य देशों के पुस्तकालयों विशेषकर जर्मनी तथा इंगलैंड मे विद्यमान हैं।

इन के अतिरिक्त और भी नाटकों का कुछ कुछ पता लगा है, जो कि ब्रिटिश म्यूजियम, कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के पुस्तकालय तथा जर्मनी के पुस्तकालयों में है। उन के नाम यहाँ दिए जाते हैं—

'रामनाटक'—तालपत्र पर लिखित है। रचना-काल प्राय: १३६० ई० है।

'निष्कनाटक'—तालपत्र पर लिखित है। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में इस की प्रति है।

'सभातरंगिणी'—यह भी केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में है।

उक्त विवरण पढ़ कर लोगों की यह धारणा हो सकती है कि केवल मल्लवंशीय राजाओं ने ही मैथिली साहित्य की उन्नति के लिए चेष्टा की। किंतु मुझे तो यह अनुमान होता है कि नेपाल के पुस्तकालयों में खोज करने से मल्ल-वंश के बाद की रचनाओं का भी पता लग सकता है। क्योंकि गोर्खा लोग लगभग १७६८ मे नेपाल में अपना राज्य फैला चुके थे। इस वंश के भी राजा लोग जैसे रणबहादुरशाह तथा गीर्वाणयुद्धविक्रमशाह (१७६९ ईस्वी) एवं राजेंद्र विक्रमशाह आदि बड़े विद्वान हुए हैं और इन्हों ने संस्कृत में अनेक

ंथ स्वयं लिखे हैं तथा विद्वानों से लिखाए भी हैं[1]। रणबहादुरशाह ने भी मिथिला से अपना वैवाहिक संबंध किया था और अनेक मैथिल विद्वानों को अपने राज्य-सभा में रक्खा था, इस का नेपाल की वंशावली से पता चलता है। .थिली भाषा के गुणों से ये राजा लोग भी पूर्ण परिचित थे, इस में कोई संदेह नहीं। अतः संभव है कि गोर्खावंशीय राजाओं के समय मे भी मैथिली की उन्नति नेपाल मे अवश्य ही हुई। अभी भी नेपाल के बड़े बड़े घरानों की स्त्रियाँ काशीविश्वनाथ के पूजन के अवसर पर मैथिली गानों को गाती हुई दिखाई पड़ती हैं। इस का यही कारण है कि उन के देश मे मैथिली ही गानों का महत्व ै। और इतने मधुर गान, विशेष कर महादेव के भजन, अन्य भाषा में बहुत ही कम देख पड़ते हैं। पाठकों के मनोविनोदार्थ एक-दो ऐसे गानों का यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक मालूम होता है—

जय जयदायक नटनक नायक
शैलतनया अरधङ्गे।
नटजनपालक भवभयनाशक
भूत क समुदय सङ्गे।
भुवन क ईश महेश॥
कुमुद धवल रुचि दिनकर शशि शुचि
लोचन भुषण भुजङ्गे।
अलि क अमिअ कर विलसित जसु शिर
लेखक तटिनि तरङ्गे।
गरल क रुचि गल अतिहिन तुछु (?) छल
लेपित भसमहि अङ्गे।
पुरहर दयामय जन्हि बड रोष कय
कामहु कयल अनङ्गे।
विश्वलक्षिमिसुत भन जय रणजित

---

[1] नेपाल राजकीय पुस्तकालय हस्तलिखित ग्रंथ सूची, पृ० २४२-२४७।

रासथु मोहि निज सङ्गे
अभिमत फल दय विघनओ दुर कय
नाचहु कय बहुरङ्गे ॥

परवेश सुत्र भय कुशल रसाल ।
पहिलहि महेशेर कयिल जहाल ॥
तुहिन किरण कला मेला जसु भाल ।
शिर सुरसरि उर नरशिर माल ॥
पहिरिअ भले भाँति बाघक छाल ।
भूषण रचिअ वर फणधर जाल ॥
भन रणजित नृप परम कृपाल ।
तसु भजने पड़िय नहि भवजाल ॥

नेपाल में रचे गए मैथिली नाटकों मे दो प्रकार की रचनाशैली देखने में आती है। कुछ तो केवल गान ही से भरे हैं। गानों के अतिरिक्त दो-तीन संस्कृत में श्लोक होते हैं तथा पात्रों के प्रवेश और निस्सार एवं गानों के रागों के नाम भी कहीं-कहीं लिखे रहते हैं, जैसा 'विद्याविलाप' आदि नाटकों में देख पड़ता है। इस प्रकार नाटकों के लिखने का ढंग, मालूम होता है, उन दिनों विशेष प्रचलित था। संस्कृत भाषा में भी ऐसे नाटक मिलते हैं, जिस से यह अनुमान होता है, कि केवल भाषा-नाटक ही मे ऐसा नियम नहीं था। मिथिलेश महाराज महेश्वरसिंह के समय (१८१८ ई०) में दरभंगा मंडलांतर्गत हाटी ग्राम-निवासी सोदरपुर वंशोद्भव महोपाध्याय पंडित मधुसूदन मिश्र का बनाया हुआ 'जानकीपरिणय' नामक संस्कृत भाषा का नाटक भी इसी प्रकार श्लोकबद्ध ही है। कहीं-कहीं एक या दो पंक्तियाँ गद्य मे हैं।

दूसरे प्रकार के नाटक मे संस्कृत, प्राकृत तथा मैथिली इन तीनों भाषाओं का मिश्रण है। जैसे वंशमणिरचित 'गीतदिगंबरनाटक'। उपर्युक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि अधिकांश भाग तो मैथिली पद्य ही में लिखा जाता था किंतु कहीं-कहीं गद्य का भी अंश मैथिली भाषा में होता था जैसे

'अंधकासुरवधोपाख्यान' नामक नाटक में देख पड़ता है। इस प्रकार की लेखन-प्रणाली मुख्य मिथिला में भी बहुत दिनों तक प्रचलित थी।

नेपाल में मैथिली भाषा की उन्नति का यह संक्षेप विवरण है। यदि उक्त सभी ग्रंथ मिल जायँ तो मैथिली साहित्य का बहुत ही सुंदर इतिहास लिखा जा सकता है किंतु यह अभी एक मनोरथ मात्र मालूम होता है।

चित्रकार "कवि" मोलाराम की चित्रकला और कविता

[लेखक—श्रीयुत मुकंदीलाल, बी० ए० (आक्सन), बैरिस्टर-एट्-लॉ]

[१४]

महीपत शाह

दुलाराम शाह का नाम टेहरी राज्य व बेकेट-वंशावली में नहीं दिया है। न 'गढ़वाल का इतिहास' के लेखक पंडित हरिकृष्ण रतूड़ी ने ही दुलाराम शाह का नाम दिया है। इस का कारण न जाने क्या है? संभव है दुलाराम शाह श्यामशाह के पुत्र न हों, दत्तक पुत्र रहे हों या कम-असल पुत्र रहे हों; या राज्यापहारी रहे हों। कोई बात अवश्य ऐसी है जिस से गढ़वाल राजवंश ने दुलाराम शाह को नहीं अपनाया। किंतु दुलाराम शाह ऐतिहासिक गढ़-नरेश थे। दुलाराम शाह के एक दान-पत्र का समय १५८० ई० है। कम से कम एक निर्दिष्ट समय का संबंध दुलाराम शाह से है। ऐटकिंसन लिखते हैं—

दुलाराम शाह और महीपत शाह का समय और उन के समकालीन

"हमारे पास सन १५८० ई० का एक दान (पत्र) दुलाराम शाह का है। वह महीपत शाह का पूर्वाधिकारी था। और उस के समय से समकालीन लेखों के आधार पर गढ़वाल के राजाओं के राजत्व-काल की तारीखें मिलती जाती हैं[१]।"

---

[१] ऐटकिंसन, 'हिमालयन डिस्ट्रिक्ट्स', जिल्द २, पृ० ५२७।

महीपत शाह का भी एक शिलालेख श्रीनगर में केशोराय के मठ में सन् १६२५ ई० का है। अस्तु दुलाराम शाह का समय सन १५८० ई० और १६२५ ई० के आसपास है।

'गढ़वाल का इतिहास' के रचयिता पंडित हरिकृष्ण रतूड़ी ने श्याम-शाह और महीपत शाह के बीच किसी और राजा का नाम नहीं दिया है, यद्यपि यह बात मोलाराम के काव्य और दान-पत्रों से साबित है कि श्यामशाह का उत्तराधिकारी और महीपत शाह का पूर्वाधिकारी दुलाराम शाह था। पंडित हरिकृष्ण रतूड़ी ने श्यामशाह का समय १६१०-१६२५ और महीपत शाह का १६२९-१६४६ ई० दिया है।

दानपत्र व शिलालेखों के अनुसार रतूड़ी जी के दिए इन दो राज्य-कालों का समय सही नहीं।

दुलाराम शाह निश्चय रूप से कुमाऊँ के राजा रुद्रचंद (१५६५-१५९७ ई०) का समकालीन था।

'गढ़वाल गजेटियर' में, जो कि प्रायः ऐटकिसन के आधार पर लिखा गया है, यह लिखा है कि दुलाराम शाह का उत्तराधिकारी महीपत शाह रुद्र-चद्र के पुत्र लक्ष्मीचंद का समकालीन था।[1] ऐटकिसन के अनुसार लक्ष्मीचंद का समय सन १५९७-१६२१ ई० है। किंतु केशोराय मठ के शिलालेख के अनुसार महीपत शाह के शासन का कम से कम एक समय १६२५ ई० था। मुमकिन है कि महीपत शाह का राज्य लक्ष्मीचंद के अंतिम काल से आरंभ हुआ हो। या उस के साथ शुरू होकर फिर और अधिक समय तक रहा हो। 'गढ़वाल गजेटियर' मे महीपत शाह के विषय में केवल इतना ही लिखा है—

"उस समय (जब कुमाऊँ के राजसिंहासन पर लक्ष्मीचंद था) गढ़वाल मे महीपत शाह राज्य करता था। महीपत शाह के विषय मे इस के अतिरिक्त और कुछ मालूम नहीं कि वह गढ़वाल की राजधानी, देवलगढ़ से हटा कर

---

[1] 'गढ़वाल गज़ेटियर' (१९१० संस्करण), पृ० ११५-१६।

श्रीनगर ले आया, और यह कि वह सारे गढ़वाल को एक ही छत्र-छाया के नीचे ले आया। वास्तव में महीपत शाह कुछ समय तक कुमाऊँ के राजा त्रीमलचंद (१६२५-१६३८ ई०) का समकालीन भी रहा।"[1]

महीपत शाह के विषय में ऐटकिसन ने केवल इतना ही लिखा है कि—

"स्थानीय प्रचलित गाथा के अनुसार अजयपाल गढ़वाल के राजाओं के जन्मस्थान, पुरानी राजधानी चाँदपुर को छोड़ कर देवलगढ़ में आया। वहाँ से महीपत शाह राजधानी को श्रीनगर ले आया। श्रीनगर में केशोराय के मंदिर में महीपत शाह का सन् १६२५ का एक शिलालेख है।"

महीपत शाह के बारे में ऐटकिसन ने और कुछ नहीं लिखा। किंतु महीपत शाह कुमाऊँ के राजा लक्ष्मीचंद का समकालीन था और हमें महीपत शाह का समय उक्त शिला-लेख से मालूम है। इस लिए निम्नलिखित शब्दों में ऐटकिंसन ने जिस गढ़वाल के राजा के लक्ष्मीचंद को परास्त करने के विषय में लिखा है, वह गढ़वाल का राजा महीपत शाह ही था—

"अपने पिता (रुद्रचंद) की युद्ध-नीति के अनुकरण करने की इच्छा से कुमाऊँ के राजा लक्ष्मीचंद ने सात बार गढ़वाल पर आक्रमण किया और हर बार गढ़वाली राजा ने इतनी ज़ोर की उस को शिकस्त दी कि कुमाऊँ के बहुत से सैनिक लड़ाई में मारे गए। जिस 'स्याल बूंगा' किले पर उन्हों ने सात बार विजय प्राप्त की थी उस छोटे से क़िले के खंडहर को गढ़वाली अब तक बड़े गौरव की निगाह से देखते हैं।

"लक्ष्मीचंद को, अंतिम युद्ध में, गढ़वालियों ने इतनी बुरी तरह हराया कि वह अपने प्राणों की रक्षा के लिए विवश होकर एक डोका (पिटारा) में, मैले कपड़ों के नीचे छिप कर बैठा हुआ, इस अपकीर्ति व लज्जास्पद तरीके से अपनी राजधानी (अल्मोड़ा) में पहुँचा।"[2]

---

[1] ऐटकिंसन, 'हिमालयन डिस्ट्रिक्ट्स', जिल्द २, पृ० ५२६।

[2] वही, पृ० ५५६।

ऐटकिंसन ने अपने 'हिमालयन डिस्ट्रिक्ट्स' में जो संक्षिप्त इतिहास पर्वतीय राजाओं का दिया है, उस में गढ़वाल के राजाओं के विषय में जो कुछ हाल लिखा है वह केवल प्रसंगवश लिखा है। गढ़वाल राज्य अथवा वहाँ के राजाओं का इतिहास लिखने का कोई प्रयत्न ऐटकिंसन ने नहीं किया है। कुमाऊँ के राजाओं का वृत्तांत विस्तार-पूर्वक दिया है।

[१५]

मोलाराम के शब्दों में महीपत शाह

मोलाराम ने महीपत शाह के विषय में, पद्य में, बहुत कुछ विस्तार-पूर्वक लिखा है। मोलाराम के अनुसार महीपत शाह का बहुत सा समय रणक्षेत्र में ही कटा। और वह कुमाऊँ के राजा के साथ लड़ने के लिए गढ़वाली सेना को ले कर इस लिए गया कि, रणभूमि में काम आकर हरद्वार में जो उस ने ५०० जोगियों और १००० गृहस्थों को कत्ल करवाया था और अन्यान्य धर्म-विरुद्ध कार्य किए थे, उन के प्रायश्चित्त करे।

मोलाराम ने महीपत शाह की क्रूरता, उद्दंडता, स्वेच्छाचारिता, उन्मत्तता, धृष्टता, रण-कुशलता और वीरता का अच्छा चित्र पद्य में दिया है।

महीपत शाह का व्यक्तिगत चरित्र

दुलोराम ही शाह के, भये महीपत शाह।
महा प्रचंड भुजदंड ही, तामस तिमर अथाह॥
शक्ति महा प्रबल भुज दंडा।
कीने नित अरिजन बहु खंडा॥
शक्ति अरु धन निसि दिन हरै।
धूर्त महा मन में नहीं डरै॥
मदिरा पान करै मदमातो।
नेत्र घूर्ण अत वचनहि तातो॥
रीझ खीझ महि विलंब न लावै।
कर्म अकर्म सबहि करावै॥
पाछे सोच करै मन माहिं।
हो गइ बात करि कछु नाहिं॥

अण बराबर सब कों जानैं।
कही काहु की कछु नहीं मानैं ॥
हिंसा जीव घात बहु कीनी।
भली बुरी कछु नाहीं चीन्ही ॥
मंत्री मानस कई जो मारे।
भले बुरे कोउ नहीं विचारे ॥
थर थर काँपै तिन सौं सब ही।
रहे प्रसन्न नाहिं वह कब ही ॥

[१६]

महीपत शाह की हरद्वार यात्रा

कुंभ यात्रा और अशकुन

आयो मेला कुंभ को, चले आप हरद्वार।
तहाँ चलत जो कुछ भई, कहत हूँ सो विस्तार ॥
श्रीनगर सैं जब ही चले।
सगुन न कोई नीके मिले ॥
सनमुख पौन प्रचण्डहि आई।
खैंचे म्यान सौं तेग चलाई ॥
अण फणि-चर्म दिष्ट महि आये।
काग मृग बाँवै धाये ॥

....

चले नृपति रषिकेश सिधारे।
ठाढ़े भये भरत के द्वारे ॥

भरत मूर्ति की आँखें निकलवा दीं

मण्डप भीतर जब हो गये।
दरसन देख क्रोध अत भये ॥
कह्यो भर्थ[1] यह उग्र निहारो।
इन के दोऊ नेत्र उखारो ॥

---

[1] संगमर्मर (बिल्लौर) की बनी भरत-मूर्ति अब भी भरत-मंदिर ऋषि-केश में विद्यमान है।

हम दरसन को आये याके।
इह देखत क्यों हमें रिसाके॥
नेत्र दुहू विलोर के, दीने शीघ्र कढ़ाय।
देखे जब वह हाथ ले, गये बहोत सरमाय॥
दीने फिर वह नेत्र चढ़ाई।
चले तहाँ सों आगे धाई॥

नागे गुसाइयों का कत्ल

आगे मिले गुसाईं नागे।
... .
सख सवै धारें तन माहि।
सारे अंग विभूत रमाहि॥
महा दिगंबर साधू सूरे।
इक बागंबर धारी पूरे॥
चले जात हरिद्वार गुसांहीं।
भई भेंट तिन मारग माहीं॥
राजा देखि तिन्हे जो रिसायो।
करो कतल इनको फरमायो॥
चली तहाँ तलवार तवैही।
नांगे दीने काटि सवै ही॥
पड़ी पाँच सौ लोथ गुसाँही।
गृहस्थी एक हजार तहाँ ही॥
तिन महि एक सिद्ध वी कूटा।
ताके तन से दूध ही छूटा॥
ठौर ठौर सौ रक्त बहायो।
ताकी तरफ सौं दूध ही आयो॥
इह जस पुत्र कियो तह जाई।
गढ़-पति हि जो मही पति साई॥

करि स्नान हरिद्वार सौ, सिरीनगर महि आय
हत्या कीनी हम घनी, कह्यो जो विप्र बुलाय ॥

[१७]

महीपत शाह का पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त

महीपत शाह अपने पापों के प्रायश्चित्त के विषय में पंडितों से परामर्श करता है—

याको तुम उद्धार बतावो ।
किये पाप जो सभी मिटावो ॥
बिन अपराध हम हते गुसांही ।
नेत्र भरथ के छोड़े नांही ॥
बिना दोष हम दंड दीन्यो ।
पर द्वारा बहु वर्षण कीन्यो ॥
गनका कोई जो छाड़ी नाही ।
भोग कियो जमनी संग माही ॥
किनहू हम सौ सुख नहिं पायो ।
कर्म अकर्म कछू न लखायो ॥
तुम सब हमरी जानो बातहि ।
कहा कहे तुमरे सातहि ॥
याको अब तुम कहो विचारा ।
जाविध छूटे पाप हमारा ॥
पंडित देस विदेश के, सुनि के कियो विचार ।
कठिन महा दुहू भाँति ही, याको क्रोध अपार ॥
....

तब विप्रन ने शास्त्र मँगायो ।
पढ़ि विधि क्रम वही जो सुनायो ॥

निकसे शास्त्र महि तीन प्रकारा।
कटै पाप तबही इह सारा॥

राज-पंडितों ने कहा कि "घोर पाप अतहो जिन कीने" उन के लिए प्रायश्चित्त करने की यह विधियाँ हैं।

दान हवन बहु द्रव्य लुटावै।
अन्नदान गौ दान करावै॥
क्षुदावंत अत्यन्त जो कोई।
त्रिप्त कीजे जग महि सोई॥
नाना विंजन वस्तर दीजै।
दक्षिणा देहि विदा सब कीजै॥
वीर चक्र रचि पूजन करै।
मदिरा मांस हवन महि धरै॥
शक्ति अरु कन्या पूजन कीजै।
....
....
वस्तर भूषण सब कछु दीजै।
महा प्रसन्न सबहि विधि कीजै॥
षट दरसन सब ही जो बुलाइ।
कीजै तृप्त सभी मन लाइ॥
प्रजा कौं भी पास बुलाओ।
दुवधा तिनहीं की जो मिटाओ॥
पीपल वृक्ष कोरी घर कीजै।
तामे बैठि अग्नि जब लीजै॥
पाप भस्म तब ही सब होवै।
निर्मल होय स्वर्ग तब जोहै॥
कै तो स्वर्ण गलाय जो लीजे।
तातो तातो ही पीजे॥

प्राण जाय तज पाप सबै ही ।
पावै नर बैकुंठ तबै ही ॥
के तो रण माहिं सनमुख मरै ।
भव सागर सौं तब ही तरै ॥
निर्मल होय स्वर्ग माहिं जावै ।
पाप ताप कछु नाहिं रहावै ॥
निकस्यो इहै शास्त्र के माही ।
बांच्यो सब विप्रन जो तहां ही ॥

महीपत शाह ने दान-पुण्य, ब्राह्मण-भोजन हवन और पूजा-पाठ सब किया किंतु जल कर प्राण त्याग करना उचित नहीं समझा ।

राजा ने सुनि के कही, हम क्षत्री जग माहिं ।
बनिता जलत है अग्नि महि, यह धर्म हमारो नाहिं ॥

हम हूँ जूझेंगे रण माहीं ।
बनिता नाम धरावैं नाहीं ॥
किये पुन्न जे शास्त्र बताये ।
हवन यज्ञ सब ही जो कराये ॥
गऊदान अनधन वह दीन्यो ।
विधि पूर्वक सब ही कछु कीन्यो ॥
राजा प्रजा करी सब राजी ।
कवियन को दीने गज बाजी ॥

[१८]

महीपत शाह की कुमाऊँ पर चढ़ाई

महीपत शाह ने उचित यही समझा कि रण-भूमि में प्राण त्याग करें ।

इस लिए सेना एकत्रित कर महीपत शाह ने कुमाऊँ पर चढ़ाई करना निश्चय किया।

गढ़वाली सेना का विवरण

चढ़ी फौज तब चले कुमाऊँ।
बाजन लागे ढोल दमाऊँ॥
सवा लाख फौज तुलानी।
तीन ढोल मंगाये सलानी॥[1]
लोभी[2] अरु बधाणी[3] आये।
तड़ा तोमड़ा[4] संग महि लाये॥
सातु मातु[5] कंडो मारा।
बटफर[6] काठ पटेल सिधारा॥

---

[1] सलानी शब्द सलाण से व्यक्तिवाचक विशेषण है। सलाण गढ़वाल के तीन परगनों (गंगासलाण, तल्लासलाण, और मल्लसलाण) के नाम हैं। इन्हीं तीन परगनों से वर्तमान लैंसडौन सब-डिविज़न, जो देश के सब से निकट है, बना है।

[2] गढ़वाल के उत्तरी भाग का एक परगना लोहबा है। लोभा के रहने वाले लोभी।

[3] गढ़वाल के उत्तरी भाग का एक परगना बधाण है। बधाण के रहने वाले बधाणी।

[4] तोमड़ा—तोमड़ी से बनाया जाता है और पानी रखने के काम में आता है।

[5] मातु—एक लाठी के अंत में आड़ी लकड़ी लगी होती है; जो बोझ लेजाने वालों के काम आती है। इसी प्रकार की छड़ी तमाशा देखने व शिकारी लोग बैठने के लिए रखते हैं। इस छड़ी पर बोझी पीठ का बोझ रख कर खड़े खड़े आराम करता है।

[6] बटफर—गढ़वाली शस्त्र का नाम।

खसिया[1] संग और दिसवाली।
तुंवर[2] दिल्ली के दिलवाली॥
तूंवर दिल्ली के अतंत प्यारे।
संग बनवाड़ी[2] दास सिधारे॥
मंत्री गढ़ के सब संग लाये।
खसिया बामन चले जो आये॥

गढ़वाली सेना का रोचक और उल्लेखनीय विवरण मोलाराम ने अन्यत्र निम्नलिखित पद्यों में दिया है। यह नीचे दिया हुआ विवरण उस गढ़वाली सेना का है जो मेदिनी शाह (१६७६-१६९९ ई०) दिल्ली के बादशाह औरंगज़ेब (१६५८-१७०७ ई०) के आग्रह पर, उस की सहायता के लिए क्यूंटल पहाड़ी राज्य पर चढ़ाई करने के लिए गढ़वाल से ले गया था।

करि सलाम हजरत कौं धायो।
गढ़सौं अपने कटक मंगायो॥
बटफर जबर पटैला।
तड़ा तोमड़ा भडा भगेला॥
खसिया फसिया धाये।
सातू भातू कंडी लाये॥
कंबल पोस मारछे काछे।
चपे तीर ले आये आछे॥

---

[1] खसिया यहाँ पर क्षत्री अथवा राजपूतों के लिए प्रयोग किया गया है। गढ़वाल में आदिम काल में एक बड़ी लड़ाकू खस जाति रहती थी। अब भी गढ़वाल के एक भाग के बाशिंदों को खसिया कहते हैं।

[2] मोलाराम का कथन है कि महीपत शाह के समय में दिल्ली से उन का एक पूर्वज बनवारी दास, जो तुंवर जाति का था, गढ़वाल में आया और राज दरबार में रहने लगा।

फरसी फरसा लेकर आय
कोई डांगरा ही चमकाये ॥

जब कुमाऊँ के राजा को खबर मिली तो (मोलाराम के कथनानुसार) वह घबराया और उस ने अपने मंत्रियों से परामर्श किया। जानना चाहा कि हम पर क्यों नाहक़ यह आक्रमण हो रहा है। अपने मंत्रियों की सलाह से कुमाऊँ के राजा त्रीमलचंद ने गढ़वाल के राजा महीपत शाह को—

....

यह पाती लिखि जो दे दीनी।
किह कारण चढ़ि के आये ॥

....

मालूम होता है उस समय के कुमाऊँ के राजा त्रीमलचंद शांतिप्रिय थे। और वह महीपत शाह से लड़ना नहीं चाहते थे। कुमाऊँ के राजा ने कहा—

कुमाऊँ के राजा की शांतिप्रियता

जो तुम कहो सो हम हू करि हैं।
तुमरे संग न हम लरि हैं ॥
तुमरो दियो राज हम पायो।
निमक तुमारो हमने खायो ॥

....

वृक्ष हमारो तुम ही लाओ।
अब क्यों चाहो याहि कटाओ ॥

....

हुक्म करो तो हम ही आवैं।
जो कुछ कहो सो द्रव्य ही लावैं ॥

रणक्षेत्र में प्राण त्याग करने की इच्छा से उक्त महीपत शाह ने कुमाऊँ के राजा के पत्र का उत्तर यह दिया—

महीपत शाह की रण मे प्राणत्याग करने की प्रबल इच्छा

हम धन चाहत ना रजधानी।
....

माँगत हैं हम हूँ जो लड़ाई।
लड़ो सीघ्र तुम हम सौ आई॥
इह प्रण हमहूं करिके आये।
क्षत्रिन को रणतीर्थ बताये॥
रण महि हम देह त्याग करनी।
लख चौरासी पड़ै न भरनी॥
....

चले महीपत शाह सुजाना।
कौसल्या[1] महि दीन्यो थाणा॥
... .

मुक्ति हेत बासो कीन्यो॥
दीन्यो वहै वकील लगाई।
ताने सबही बिथा सुनाई॥
और पाप महि वो नहीं आये।
रणभूमि महि मरनहि धाये॥
वह वकील कहि तिनके जाई।
उद्योतचंद सुनि अति घबराई॥
उद्योतचंद कुर्माचली राजा।
सुनि कै छाड़ दियो सब काजा॥
....

कह्यो कहा अब हमहूं करै।
मित्रन के संग कैसे लरै॥

---

[1] कोसी नदी।

अन धन दै मंत्रि पठायो ।
गढ़पति उन बहुविधि समझायो ॥
गढ़पति के मन महि नहि भाई ।
अन धन सब दिये हटाई ॥

महीपत शाह ने एक बात न मानी और कुमाऊँ पर आक्रमण आरंभ कर दिया । अल्मोड़ा के राजा को विवश हो कर महीपत शाह की सेना से लोहा लेना पड़ा ।

संग्राम और महीपत शाह की रणक्षेत्र में मृत्यु

गढ़पति संग सिपाही थोरे ।
खैंच म्यान से सब ही दौरे ॥
ज्यों वन माहि काष्ट नर काटैं ।
त्यों रण माहि सूरमा छाटैं ॥
कुर्मांचल की फौज भगाई ।
भाजन को कहुं राह न पाई ॥
....

लड़े महीपत शाह जहाँ ही ।
भयो महा समसान तहाँ ही ॥
....

अजर अमर भये वह जग मांही ।
जिन की कविजन कथा बताही ॥
दस हजार रण माहि गिणाये ।
कुर्मांचली गढ़वाली गिराये ॥
खबर हुई गढ में गई गये स्वर्ग को नाह ।
दये राज बैठाय तब सबने प्रथिपत्त शाह ॥

मोलाराम को हम ने गलत पाया है तो एक-दो बातों में । कहीं कहीं उस ने नाम पीछे के आगे कर दिए हैं । नहीं तो मोलाराम घटना व राजाओं

के नाम बहुत सही लिखता। वास्तव में उद्योतचंद का समय १६७८—१६९८ ई० है। और वह मेदिनी शाह (महीपत शाह के नाती) का समकालीन था। महीपत शाह के समकालीन लक्ष्मीचंद और त्रीमलचंद थे। इन दोनों का राज्य-काल सन् १५९७-१६३८ ई० है।

महीपत शाह का समकालीन कौन कुमाऊ नरेश था—उद्योतचंद (उद्योतचंद) या त्रीमलचंद ?

इसी भाँति, जैसा कि हम आगे चल कर दिखायेंगे, सुलैमान शिकोह[१] गढ़वाल में पृथिवीपत शाह के समय (सन् १६५८ ई०) में आया, न कि फतेह-शाह के समय (सन् १६९९-१७४९) मे, जैसा कि मोलाराम ने लिखा है। महीपत शाह का समकालीन उद्योतचंद था, जैसा कि मोलाराम कहता है, या त्रीमलचंद जैसा, कि ऐटकिसन से जाहिर होता है ? मोलाराम ने अपने काव्य की रचना सन् १८०३ में की और ऐटकिसन ने "हिमालयन डिस्ट्रिक्ट्स" सन् १८८४ मे लिखा। ऐटकिसन ने भी जैसा सुना वही लिखा। लिपिबद्ध इतिहास, गढ़वाल और कुमाऊँ का, न मोलाराम को मिला और न ऐटकिसन को। इस लिए कौन सही है, इस का पता तत्कालीन उत्तर-भारतीय इतिहास से ही लग सकता है। तथापि मोलाराम और ऐटकिसन ने जो कुछ उद्योतचंद व त्रीमलचंद की बाबत दंत-कथा दानपत्र और तत्कालीन इतिहास के आधार पर लिखा है, उस से हम को यही मानना पड़ेगा कि महीपत शाह का सम-कालीन कुमाऊँ नरेश त्रीमलचंद (१६२५-१६३८ ई०) ही था। ऐटकिंसन के अनुसार त्रीमलचंद शांतिप्रिय था। गढ़वाल के राजा से लड़ने को खड़ा होने के बदले, वह कुछ काल तक गढ़वाल में निर्वासित रहा। और उस ने केदारनाथ के मंदिर को दान भी दिया। उस का दानपत्र मौजूद है। मोलाराम के कथनानुसार भी कुमाऊँ का तत्कालीन राजा लड़ाकू नहीं था। जब महीपत शाह उस से (रणक्षेत्र में प्राण त्यागने के अभिप्राय से) लड़ने गया तब भी अल्मोड़े का राजा श्रीनगर के राजा से लड़ने के लिए तैयार

---

[१] ऐटकिसन, 'हिमालयन डिस्ट्रिक्ट्स', जिल्द २, (१८८४ संस्करण), पृ० ५६०-६७।

नहीं हुआ। उस ने विवश हो कर ही रणक्षेत्र में सेना भेजी। उद्योतचंद (उद्धोतचंद) का यह हाल नहीं था। वह तो बड़ा लड़ाकू था। उस ने तो स्वयं गढ़वाल पर आक्रमण किया। उस ने परगना बधाण पर सन् १६७८ में हमला किया था। इस वर्ष तो उस ने मात खाई परंतु दूसरे वर्ष वह अधिक सफल रहा। गणाई के रास्ते उस ने लोहवा व चाँदपुर परगनों पर चढ़ाई की और उन को लूटा[1]।

महीपत शाह का कूर्मांचल आक्रमण ऐतिहासिक घटना

गढ़वाल और कुमाऊँ के बीच लड़ाई दुलारामशाह (सन् १५८० ई०) और रुद्रचंद (१५६५-१५९७ ई०) के समय से आरंभ हुई और गढ़नरेश ललितशाह (१७८०-१७९१) के राजत्व-काल तक अर्थात् २०० वर्ष जारी रही। इस का उल्लेख मोलाराम ने किया है। पंडित हरिकृष्ण रतूड़ी ने, गढ़वाल का जो इतिहास लिखा है उस में महीपत शाह के कुमाऊँ पर चढ़ाई करने का ज़िक्र नहीं किया है। यद्यपि कई बार तिब्बत पर आक्रमण करने की व तिब्बत के एक सूबे को परास्त करने की चर्चा श्रीयुत रतूड़ी ने की है।

मोलाराम ने कुमाऊँ की लड़ाई में भाग लेने वाले दो प्रमुख व्यक्तियों के नाम दिए हैं। एक तो अपने पूर्वज बनवारीदास का और दूसरे माधोसिंह का। माधोसिंह और उस की वीरता का उल्लेख तिब्बत की लड़ाई के सिलसिले में पंडित हरिकृष्ण रतूड़ी ने भी किया है। इस का क्या कारण है कि मोलाराम ने महीपत शाह के तिब्बत पर आक्रमण करने का ज़िक्र नहीं किया और रतूड़ी जी ने कुमाऊँ आक्रमण का ज़िक्र नहीं किया? मोलाराम विस्तार-पूर्वक इतिहास नहीं लिख रहा था। इस के अतिरिक्त जहाँ तक हम देख पाए हैं मोलाराम प्रायः प्रत्येक उल्लेखनीय और ऐतिहासिक राजा के संबंध में एक ही प्रख्यात घटना दर्शाता है। किंतु रतूड़ी जी की त्रुटि के लिए हमें कोई कारण नज़र नहीं आता।

---

[1] ऐटकिंसन, 'हिमालयन डिस्ट्रिक्ट्स', जिल्द २, पृ० ५७०।

[१९]

पृथिवीपत शाह

पृथिवीपत शाह का राज्य काल गढ़वाल के इतिहास में, ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। पृथिवीपत शाह और उन के पुत्र मेदिनी शाह का दिल्ली के सम्राट् से बहुत संबंध रहा है। इन के विषय में मुग़ल-काल के इतिहास-लेखकों के ग्रंथों में प्रसंगवश बहुत कुछ लिखा गया है। चूँकि हमारा उद्देश्य मोलाराम की कविता के उदाहरण देते हुए, ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख करना है, इस लिए पृथिवीपत शाह के राज्य-काल और उस की कीर्ति के विषय में हम वही बातें लिखते हैं, जो हमें मोलाराम के काव्य मे मिली हैं।

पृथिवीपत शाह का यश और उसकी गुण-ग्राहकता

महीपत शाह स्वर्ग जब गये।
पृथीपत शाह नृपति तब भये॥
पृथीपत शाह भये अवतारा।
तिन को जस गावै संसारा॥
धर्म कर्म शुभ जग्यहि कीने।
बिरती विप्रन को कहि दीने॥
कविजन सुनि कीरति जो गावें।
जरी दुशाला तिन्है दिलावें॥
गुणग्राहक रहे अत गढ माहीं।
राजी कियो गुनिन के ताहीं॥

मोलाराम के कथनानुसार दिल्ली के सम्राट् औरंगज़ेब के कानों तक जब पृथिवीपत शाह की कीर्ति पहुँची, तो बादशाह ने खिलत देकर अपना एलची (दूत), जिस को मोलाराम 'ऐंधी' कहते हैं, भेजा।

खिलत देहि ऐंधी इहाँ हजरत दिये पठाय।

....

दिल्ली से बादशाह के एलची का गढ़वाल में आना और उस का अनादर

ऐंधी लेहि खिलत गढ़ आयो।
किनहू ने वह नाहि गिनायो॥
महाराज सुनि चुप ह्वै रहे।
ऐंधी लेन आप नहि गये॥
मंत्रिन सब ही रीति सुनाई।
सो राजा के मन नहि भाई॥
कह्यो तुरक पै हम नहीं जावैं।
हाथ जोर नहीं सीस नवावैं॥
क्यों गुलाम को करैं सलाम हि।
....

राजा पृथिवीपत शाह ने अपने चोपदार से कहा कि शाही दूत को हमारे सामने ले आओ। 'ऐंधी' से चोपदार ने कहा कि पुरानी बात को भूल जाओ।

जो तुमहू अपनी हुरमत चाहो।
हुकम मान हमरे संग आओ॥

नहीं तो कान पकड़ कर राजा के सामने ले जाऊँगा।

कान दाबि तब संग सहि आयो।
खिल्लत बादशाही सब लायो॥

राजा ने शाही वकील का बड़ा अनादर किया। जब एलची खिलत ले कर राजा के संमुख उपस्थित हुआ तो उस से "बाँह पकरि ताजीम कराई।" और उस से बादशाही खिलत ले कर पलंग पर रख दी। राजा स्वयं पलंग पर बैठा रहा। एलची को जमीन पर बैठाया। थोड़ी देर उसे बैठा कर फिर उस से सलाम करा कर उसे विदा किया।

ऐंधी भाजि के दिल्ली सटक्यो।
मजलस जाय दस्त दो पटक्यो॥

देखि बादशाह ताहि को, गढ़ की बूझी बात ।
ऐंधी क्यों घबराइयो, तुम कहो हमारे सात ॥
ऐंधी कहे हक प्राण बचायो ।
आधी रात जो भाजि के आयो ॥
तुम्हें तहाँ कोई नहीं जानै ।
राजा को सब कोई मानै ॥
राजा भयो बादशाह आपे ।
तासों घर घर सबही काँपे ॥

ऐंधी ने अपने अनादर का किस्सा भी कहा ।

पृथ्वीपत शाह आप कहलावे ।
तुम को हजरत तुरक बतावे ॥

एलची ने अपने भाग आने का क़िस्सा कहा । और बादशाह को इस प्रकार खूब भड़काया ।

सुनी हकीकत बादशा, कह्यो पकरि कै लावो ।
मीर मुग़ल तुम जल्दी हि अबहिं गढ को जावो ॥
....

शीघ्र ही गढ़वाल पर चढ़ाई हो गई ।

गढवाल पर मुगल सेना की चढाई

गढ़ पर्वत लिये घिराई ।
दल-बल बहु फौजें आई ॥
इत सौं पृथिपतशाह सिधारे ।
....

वार-पार फौजें सब ठाडी ।
बिच मैदान चले जहाँ गाड़ी ॥
सैल श्रृंग चहूँ ओरहि ठाढ़े ।
वृक्ष साण के डारहि बाढ़े ॥
... .

पृथिवीपत शाह ने बादशाह के सेना-नायक से कहा

घोरा बढ़ि तुम सनमुख आवो।
नाहक क्यों फौजैं हि कटाओ॥
मीर मुगल बढ़ि घोरा आयो।
पृथीपतशाह इधर सौं धायो॥
घोरा घोरा दिये मिलाई।
कर्ण कर्ण सों लागे जाई॥
गल कमान राजा के डाली।
राजा ने तब सूरत सिंवाली॥
धाकी काढ़ी वाकोहि दीनी।
कमर अलग तहँ ताकी कीन्हीं॥
मीर मुग़ल धरणी में ढायो।
कटक देखि सिगरोहि भगायो॥
नृपति फौज तहँ पाछे लागी।
आगे जात तुरक की भागी॥

जब राजा की सेना भागती हुई मुग़ल सेना का पीछा करने लगी तब राजा ने अपनी सेना को रोका और कहा भागते हुए सैनिकों का पीछा करना वीर-कर्म नहीं। गंगा में स्नान कर, सेना-सहित वह अपनी राजधानी श्रीनगर लौट आया।

राजा की इस विजय से प्रजा बहुत प्रसन्न हुई और खुशी में राजा को

कर सलाम सब ही ने दीन्यो।
सवा लाख को कागज कीन्यो॥

किंतु राजा ने यह पारितोषिक स्वीकार नहीं किया—

राजा कहें न हमें सताओ।
बहुधन जो तुम पे तो लुटाओ॥

इधर दिल्ली का हाल यह है कि

मीर मुग़ल भाग्यो जबै, भजी फौज अकुलाय।
दिल्ली में जहाँगीर सों[1], कही हकीकत जाय॥

आगे चल कर मोलाराम पृथिवीपत शाह और दिल्ली के बादशाह के बीच सलूक हो जाने का ज़िक्र करते हैं।

दिल्ली से दूसरे एलची का आना

हजरत बहुत भये सुनि राजी।
बकस्यो हाथी ग्यारा बाजी॥
खिलत दुसाला मूँगा मोती;
... .
और ही ऐंधी पठायो।
श्रीनगर महि लेकै आयो॥
महाराज सब मंत्रि पठायो।
अत आदर सौ ले वह आयो॥

इस दूसरे एलची (ऐंधी) से राजा पृथिवीपत शाह ने पहले वाले के भाग कर जाने का कारण यह बताया—

गनिका ऐंधी माँगन लाग्यो।
सो हम दई न उठिके भाग्यो॥
इत कंचनी होत है नाहीं।
हिंदू रमजनि है पुर माहीं॥

दिल्ली से दूसरा 'ऐंधी' जो पृथिवीपत शाह के लिए एक हाथी, ग्यारह घोड़े, खिलत और जवाहिरात ले कर आया था, उस को खश कर और समझा-बुझा कर राजा ने वापिस भेजा।

दिल्ली दाखल ऐंधी भयो।
उन हूं सब विध नीको कह्यो॥

---

[1] मोलाराम ने ग़लती से शाहजहाँ के बदले जहाँगीर का नाम दिया है।

जहाँगीर[1] खुश सुनिके भये।

.. ..

इधर मोलाराम के कथनानुसार श्रीनगर में पृथिवीपत शाह के शेष दिन सुख-पूर्वक बीतने लगे।

श्रीनगर महाराज नित, रहे प्रसन्न मन मांहि।
ख्याल करे जो आनि कै, खाली जात सो नांहि॥

....

... .

कवि लोग पृथिवीपत शाह का कीर्ति-गान करने लगे।

या विध कविजन कविता कीनी।
महाराज सौ ही कहि दीनी॥
महाराज सुनि के मुसिकाये।
हाथी घोरा ताहि दिलाये॥
नाना वस्त्र सख पहिराये।
सहस्त्र रुपया रोक दिलाये॥
जावत जीउ सुजस फैलायो।
देह तजि तब स्वर्गहि पायो॥

[२०]

मोलाराम की ऐतिहासिक धारणा

ज्यों ज्यों हम मोलाराम के काव्य में उल्लिखित घटनाओं की सत्यता की परीक्षा करने के लिए इतिहास की शरण लेते है, त्यों त्यों हम को मोलाराम की ऐतिहासिक धारणा और उस की सत्यता देख कर आश्चर्य होता है। स्मरण रहे कि गढ़वाल उस समय

पृथिवीपत शाह और शाहजहाँ का युद्ध

---

[1] जहाँगीर के बदले शाहजहाँ होना चाहिए।

दिल्ली से उतना ही अगम्य था जितना कि आज दिन दिल्ली से हिमालय का सब से ऊँचा शिखर गौरीशंकर पर्वत है। अस्तु, गढ़वाल की बाबत उस समय के लेखक बहुत ही कम जानकारी रखते थे। और गढ़वाल का इतिहास उल्लेखनीय नहीं समझते थे। गढ़वाल के राजा को मुग़ल बादशाह श्रीनगर का "ज़मींदार" कहते थे। किंतु जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब के समय में शाही वकील दिल्ली से गढ़वाल में आया करते थे। उन में से एक का पृथिवीपत शाह ने अनादर किया। इसी कारण शाहजहाँ ने गढ़वाल राज्य पर आक्रमण करने को सेना भेजी। "शाहजहाँनामा" के लेखक इनायत खाँ के अनुसार सन् १६५४-५५ ई० के बीच "ख़लीलुल्ला खाँ ने ८००० सिपाही श्रीनगर के "जमींदार" को परास्त करने के लिए भेजे, और रास्ते में सिरमौर का राजा सभाक प्रकास भी उन के साथ हो लिया।" सेना दून होती हुई बहादुरख़ानपुर यमुना व गंगा के बीच पहुँची। वहाँ के कृषक भाग कर पहाड़ों पर चले गए। कई कृषक मुग़ल सेना के शिकार बने। ख़लीलुल्ला खाँ पहाड़ की ओर बढ़ा। गंगा के तट पर पहुँच कर उस ने एक तोपख़ाना गंगा पार (लछमन झूला होकर) श्रीनगर के राजा चांडी के थाने पर क़ब्ज़ा करने को भेजा। कुमाऊँ का राजा बहादुर चंद भी सिरमौर के राजा की तरह अपने शत्रु गढ़वाल के राजा से बदला लेने के लिए शाही फ़ौज में संमिलित हो गया। गढ़वाल (श्रीनगर) के राजा से दून ले लिया। "गढ़वाल का राजा उस समय पृथिवीपत शाह था जिस का कि सन् १६४० ई० का एक दानपत्र है और जो कि पीछे बदनसीब सुलैमान शिकोह के संबंध में प्रख्यात हुआ।"[1]

पृथिवीपत शाह का समय

पंडित हरिकृष्ण रतूड़ी ने पृथिवीपत शाह का समय सन् १६४६-१६७६ ई० दिया है। अल्मोड़े वाली वंशावली में पृथिवीपत शाह का समय १५४०-६० ई० दिया गया है। टेहरी दरबार की वंशावली में पृथिवीपत शाह का समय १५५२-१६१४ दिया

---

[1] ऐटकिंसन, 'हिमालयन डिस्ट्रिक्ट्स', जिल्द २, पृ० ५६२-३।

है, जो कि बिल्कुल ग़लत है हमें अल्मोड़ा वाली वंशावली में दिया हुआ समय ठीक मालूम देता है मेदिनी शाह पृथिवीपत शाह के राज्य-काल में ही राज्य-प्रबंध का कार्य करने लग गया था। पृथिवीपत शाह शाहजहाँ का समकालीन था।

समालोचना

साहित्य

शेक्सपियर व तत्कालीन इंग्रजी रंगभूमि (मराठी)—लेखक, गणेश हरिकेलकर, एम्० ए० (मुंबई व केंब्रिज)। प्रकाशक, वेंकटेश शामराव मलकुंदी, बी० ए०, व्यवस्थापक, नवभारत ग्रंथमाला, कांग्रेसनगर, नागपुर। पृष्ठसंख्या २११। मूल्य १॥)।

समालोच्य पुस्तक नागपुर से प्रकाशित मराठी भाषा की 'नवभारत ग्रंथमाला' का तीसरा ग्रंथ है और इस के रचयिता हैं प्रसिद्ध फर्ग्युसन कालेज के अँग्रेज़ी भाषाध्यापक प्रोफ़ेसर केलकर। पुस्तक के आरंभ में दी हुई प्रस्तावना से पता चलता है कि इस का मुख्य विषय शेक्सपियर है, किंतु, उस के महत्व को भली-भाँति विवेचित करने के उद्देश्य से, लेखक ने, साथ ही, अँग्रेज़ी नाट्यकला के उदय व विकास तथा शेक्सपियर-कालीन लोकस्थिति विषयक प्रसंगों पर भी आवश्यक प्रकाश डालना उचित समझा है। लेखक के अनुसार परिस्थिति अनुकूल होने पर ही किसी महापुरुष के गुणों का विकास हो सकता है और उचित परिस्थिति के अभाव में अच्छे अच्छे गुण भी व्यर्थ सिद्ध होते हैं। अतएव शेक्सपियर की श्रेष्ठता भी, तदनुसार, उस के पूर्व एवं समसामयिक परिस्थितियों पर ही बहुत कुछ निर्भर होने के कारण, उस के नाटकों की उत्तमता उस की प्रतिभा एवं तदनुकूल परिस्थिति के सुंदर संमिलन का ही परिणाम-स्वरूप है। लेखक ने पुस्तक में, इस ओर, पाठकों का ध्यान, यथावसर, बराबर आकृष्ट करने की चेष्टा की है।

पुस्तक के अंतर्गत कुल बारह प्रकरण हैं, जिन्हें 'शेक्सपियर पूर्वी', 'शेक्सपियर' तथा 'शेक्सपियरनंतर' नामक तीन खंडों में विभाजित किया

गया है प्रथम खड क दो प्रकरण इग्रजी नाट्यकलेचा उदय एव शेक्सपियर स्या पूर्वीच नाटककार मे लेखक ने बतलाया है कि आरभिक यु ग म किस प्रकार धर्म को ही सभी विद्याओं तथा कलाओं का अधिष्ठान समझा जाता था और इन सब का उपयोग देवताओं और पितरों के संतोषार्थ ही किया जाता था। किस प्रकार स्वभावतः उत्सवप्रिय मानव समाज ने सर्वप्रथम धार्मिक आख्यानों को जन्म देकर तदनंतर उन में ललित-लीलाओं का भी समावेश किया और किस प्रकार धार्मिक चरित्र अथवा नैतिक आदर्शों के साथ ही, योरप में, क्रमशः कारीगरी अथवा व्यवसाय विषयक बातों को भी स्थान देने का प्रबंध करते हुए नाटकीय खेलों का प्रचार बाहर के देहातों में भी कर दिया। योरप के विद्या व कला वाले प्रसिद्ध पुनरुज्जीवन तथा धार्मिक सुधार संबंधी आंदोलनों द्वारा भी नाटकों को लौकिक मार्ग पर बराबर अग्रसर होने में बहुत कुछ सहायता मिली और धीरे-धीरे सारे देश मे नाटकगृहों के निर्माण तथा नवीन नवीन नाटकों की रचना एव अभिनय होने लगे। इंगलैंड मे लंदन नगर के बाहर टेम्स नदी के उत्तरी किनारे पर सर्वप्रथम स्वतंत्र रंगमंच की नींव भी ऐसे ही समय के प्रवाह में आकर सन् १५७६ में डाली गई।

शेक्सपियर के पूर्ववर्ती प्रसिद्ध अंग्रेजी नाटककारों में से, किड को छोड़ कर, प्रायः सभी आक्सफोर्ड अथवा केंब्रिज के पदवीधारी थे और उन के ऊपर स्वभावतः ग्रीक एवं रोमन नाटकों के सिवाय मध्ययुगीन कवियों की अद्भुत कथामयी कृतियों के भी अध्ययन का प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता था। वे नवीन परिस्थितियों में पड़ कर नितांत 'स्वच्छंदी' अथवा पूरे 'रंगी' जीव ही बन गए थे अतएव उन मे से सभी की रचनाओ में पर्याप्त गांभीर्य अथवा स्थायित्व के गुणों का पाया जाना आश्चर्य की बात थी। हाँ, भिन्न-भिन्न नाट्यकारों के अंतर्गत भिन्न-भिन्न विशेषताएँ जैसे, किड मे रौद्र व भयानक, मार्लो मे वीर व उदात्त, लिली में लालित्य एवं लाज वा ग्रीन में शृंगार व कोमलत्व के बीज अलग-अलग अवश्य लक्षित हो रहे थे, जिन के समन्वय की सामग्री द्वारा निसर्ग देवता ने शेक्सपियर की अनुपम मूर्ति संघटित की।

इस के आगे लेखक ने 'शेक्सपियर' नामक दूसरे खंड के सात प्रकरणों में से प्रथम अथवा 'पूर्वचरित्र' में उस के माता-पिता, जन्म, शिक्षण, विविध अनुभव, व्यवसाय, विवाह, ग्राम-त्याग, लंदन के नाटक-गृहों की नौकरी एवं मित्रमंडली आदि अनेक उपयोगी विषयों पर प्रकाश डाल कर द्वितीय अथवा 'प्रारंभीची काव्य रचना' द्वारा उस की सर्वप्रथम रचनाओं अर्थात् छोटे-छोटे काव्यखंडों तथा सॉनिट्स का परिचय दिया है। तदनंतर 'शेक्सपियर कालीन लोकस्थिति' नामक तीसरे प्रकरण में यह दिखलाने की चेष्टा की गई है कि इंगलैंड अथवा इंगलैंड के संबंध में घटित होने वाली विशिष्ट घटनाओं द्वारा प्रभावित 'उद्योन्मुख', आत्मविश्वासी तथा 'कर्तृत्ववान' अंग्रेजी समाज की विविध भावनाओं ने किस प्रकार शेक्सपियर के नाटकों की रचना के लिए 'पार्श्वभूमिका' तैयार कर दी। 'नाटक रचनेंतील उमेदवारी' तथा 'शेक्सपिय-रच्या नाटकांचा परिचय' नामक चतुर्थ और पंचम प्रकरणों में लेखक ने सन् १५९० ई० से लेकर चार पाँच वर्ष पर्यंत शेक्सपियर द्वारा नाटक रचना संबंधी किए गए प्रारंभिक प्रयोगों का संक्षिप्त परिचय देकर उस के अनंतर पंद्रह सोलह वर्षों तक बराबर लिखे और खेले गए उस के प्रसिद्ध नाटकों का भी विवरण लिखा है। विवरण देते समय इस बात का ध्यान रक्खा गया है कि भिन्न भिन्न नाटकों का, उन के विषयानुसार, अलग वर्गीकरण भी हो जाय और प्रत्येक वर्गीकरण का कुछ न कुछ सामान्य विवेचन भी होता चले। 'आयुष्याचा उत्तरार्ध' में शेक्सपियर के अंतिम दिनों के विषय में संक्षिप्त चर्चा करके इस खंड के अंतिम प्रकरण अर्थात् 'नाटकांचें सामान्य विवेचन' द्वारा लेखक ने उक्त नाटकों की प्रसिद्ध दो आवृत्तियाँ, उन का काल-निर्णय, उन के मूल आधार एवं शेक्सपियर की भाषाशैली आदि के साथ साथ उस की योग्यता का एकत्र विस्तृत परिचय दिया है, जो बहुत ही सुंदर है।

पुस्तक के तीसरे खंड का नाम 'शेक्सपियरनंतर' होने पर भी उस में विशेष चर्चा शेक्सपियर के अंतिम समय-संबंधी बातों अथवा उस के समसा-मयिक नाटककारों को लक्ष्य करके ही की गई है। इस में कुल तीन प्रकरण हैं, जिन में से प्रथम के अंतर्गत 'लोकस्थितीचें पुनः एकदा निरीक्षण' द्वारा

शेक्सपियर की कृतियों के कारण तत्कालीन लोकाभिरुचि में होने वाले परिमार्जन और संशोधन का संक्षिप्त किंतु उत्तम विवेचन किया गया है और दूसरे अर्थात् 'शेक्सपियरकथा समकालीन व नंतरचे नाटककार' में बेन जान्सन, बामेंट और फ्लेचर, टॉमस डेक्कर, चैपमन प्रभृति अनेक नाटक-रचयिताओं एवं उन की रचनाओं के विवेचनात्मक प्रसंग हैं। अंत में उपसंहार नामक, खंड के तीसरे अथवा पुस्तक के ही बारहवें, प्रकरण में लेखक ने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि शेक्सपियर के अनुकरण में कुछ दिनों तक नाटक-चर्चा की बाढ़ किस प्रकार आगे फैल कर सन् १६४२ ई० के अनंतर, इङ्गलैंड की पार्लिमेंट सभा द्वारा, अचानक रोक दी गई और शेक्सपियर की 'सर्वव्यापी नाट्यसृष्टी' का कुछ दिनों के लिए लोप-सा हो गया।

पुस्तक में शेक्सपियर-कालीन नाटक-गृहों के विषय में पाठकों की धारणा निश्चित करने के लिए सन् १५९६ में प्राप्त रंगभूमि के एक रेखाचित्र की प्रतिलिपि दी गई है और शेक्सपियर के सब से पुराने तथा प्रामाणिक चित्र का भी एक फ़ोटो है। इस के सिवाय बेन जान्सन आदि शेक्सपियर के सात प्रसिद्ध समसामयिक नाटककारों के भी चित्र एक साथ, एक पृष्ठ पर, दिए गए हैं और अंत में 'कांही संदर्भ-ग्रंथ' एवं 'सूची' द्वारा क्रमशः पुस्तक के प्रत्येक खंडानुसार उपयोगी ग्रंथों की तालिका तथा पुस्तक में आए हुए महत्त्वपूर्ण नामों की अनुक्रमणिका भी लगा कर, इसे सर्वांगपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया गया है।

शेक्सपियर के संबंध में अंग्रेज़ी भाषा में पांडित्यपूर्ण ग्रंथों की कमी नहीं है। लेखक ने अपनी सामग्री वहीं से प्राप्त की है। परंतु उस के चुनने तथा उसे सजाने में लेखक ने सुरुचि दिखाई है। पुस्तक से उस के रचयिता की योग्यता व परिश्रम का पूर्ण परिचय मिलता है। यह छोटी होने पर भी वास्तव में, बहुत उत्तम और उपयोगी है और हम चाहते हैं कि ऐसी पुस्तकों की रचना व प्रचार हिंदी भाषा में भी अधिक से अधिक हुआ करे।

सामाजिक इतिहास

भारतीय अस्पृश्यतेचा प्रश्न—(मराठी) लेखक, विठ्ठल रामजी शिंदे, बी० ए०; प्रकाशक, वेंकटेश शामराव वलकुंदी, बी० ए०, एल्-एल्०बी—व्यवस्थापक, नवभारत ग्रंथमाला काँग्रेसनगर। नागपूर, सन् १९३३ ई० । पृष्ठ-संख्या २७८ । मूल्य १॥) ।

प्रस्तुत रचना भी 'नवभारत ग्रंथमाला' का ही छठवाँ ग्रंथ है और इस के रचयिता हैं बंबई की प्रसिद्ध 'भारतीय निराश्रित साहाय्यकारी मंडली' के संस्थापक श्री शिंदे महाशय, जिन्हों ने अस्पृश्यता के प्रश्न को लेकर प्रायः तीस वर्षों तक अध्ययन और आंदोलन किया है। इस रचना द्वारा उन्हों ने 'शास्त्रीय दृष्टि व निर्विकार मन' से यह दिखलाने की चेष्टा की है कि वर्तमान अस्पृश्यता नामक संस्था संसार में किस प्रकार क़ायम हुई और इस का विकास, विशेषतः भारतवर्ष में, किन किन कारणों से व किन किन रूपों में क्रमशः घटित होता गया है। वे उक्त प्रश्न पर अब भी विचार करते जा रहे हैं और आशा की जाती है कि, प्रस्तुत ग्रंथ की प्रस्तावना एवं अंतिम पृष्ठों में की गई अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार, वे इस रोचक एवं सामयिक विषय के अन्य पहलुओं पर भी अपने सार्वजनिक जीवन के फलस्वरूप कोई न कोई अन्य ग्रंथ भी शीघ्र लिखेंगे।

इस पुस्तक को, विषयानुसार, दो खंडों में विभक्त किया गया है जिन में से पहले अर्थात् 'अस्पृश्यतेचा इतिहास' नामक खंड के अंतर्गत 'सामान्य आलोचन', 'पुरातन अस्पृश्यतेचें रूपनिदर्शन', 'बौद्ध कालांतील अस्पृश्यता', 'मनुस्मृति कालीन अस्पृश्यता', 'उत्तर युगीन अथवा अर्वाचीन अस्पृश्यता' एवं 'ब्रह्मदेशांतील बहिष्कृतवर्ग' नामक छः प्रकरणों द्वारा लेखक ने अस्पृश्ता की परिभाषा, उदय, व्यापकता और क्रमविकास के विषय में अपने विचार सप्रमाण प्रकट करने का प्रयत्न किया है। अस्पृश्यता 'एक पुरातन सामाजिक जागतिक संस्था' है जो सूतक, मृतक, सांसर्गिक रोग अर्थात् नैमित्तिक अथवा जातीय अर्थात् नित्य अस्पृश्यता के रूप में संसार के प्रायः सभी देशों में अत्यंत प्राचीन काल से ही रहती आई है। किंतु लेखक ने नैमित्तिक

अस्पृश्यता की ओर विशेष ध्यान न देकर नित्य अस्पृश्यता को ही समालोच्य ग्रंथ का मुख्य विषय रक्खा है लेखक के अनुसार भारतीय अस्पृश्यता का मुख्य लक्षण किसी विशेष जाति को उस की वंश-परंपरा के अनुसार अस्पृश्य मान कर उसे गाँव के बाहर बसाना तथा बहिष्कार के नियमों के किसी प्रकार भंग हो जाने पर प्रचलित धार्मिक अथवा राजकीय विधानों का अमल में लाना मात्र समझा जा सकता है, जिस कारण इसे जातीय अथवा नित्य अस्पृश्यता मानना चाहिए। इस का मुख्य परिणाम अस्पृश्य जाति का किसी न किसी रूप में निराश्रित रहना है।

परन्तु प्राचीन भारतीय ग्रंथों के देखने से पता चलता है कि यहाँ पर भी अस्पृश्यता का रूप पहले उक्त सीमा तक नहीं पहुँचा था। भारतीय अस्पृश्यता का वर्तमान रूप प्रागैतिहासिक काल से आज तक घटित होती आने वाली विविध धार्मिक, सामाजिक अथवा आर्थिक घटनाओं का सम्मिलित परिणाम है, जिन का निर्देश लेखक ने ऋग्वेद संहिता से लेकर पाणिनि के सूत्रों, जातकों, स्मृतियों तथा पुराणों के हवाले देकर बहुत कुछ सफलता-पूर्वक किया है। उस से भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय अस्पृश्यता को वर्तमान रूढ़ित्व प्रदान करने में वर्णव्यवस्था के वर्णद्वेष अथवा जातिद्वेष एवं ग्राम-संस्था के स्वकीय वृत्तिलोभ और परकीय वृत्तिमत्सर ने सब से अधिक भाग लिया है। लेखक ने भारत की और विशेष कर बर्मा की कतिपय वर्तमान अस्पृश्य जातियों के पुराने इतिहासों के संक्षिप्त विवरण देकर यह भी दिखलाया है कि वे किस प्रकार पहले आर्यों के प्रायः समान ही अनेक प्रकार से सुखी और संपन्न रहा करती थीं, किंतु समयानुसार, केवल विजित हो जाने के कारण, किस प्रकार उन पर विजयी वर्ग का प्रभाव उपरोक्त दोनों संस्थाओं के द्वारा क्रमशः बढ़ता गया और वे बहिष्कृत एवं निराश्रित तक हो हो गईं। ये ऐतिहासिक विवरण वास्तव में बड़े ही मार्मिक और मनोरंजक हैं।

पुस्तक का दूसरा खंड अर्थात् 'अस्पृश्यतेचा प्रश्न' पहले खंड से लगभग दूना बड़ा है, किंतु इस में प्रकरण पांच ही हैं जिन के नाम क्रमशः 'संख्या आणि लक्षणे' 'नांवांची व्युत्पत्ति व इतिहास' 'धर्म', 'सामाजिक स्थिति', और

'राजकारण' हैं। 'संख्या आणि लक्षणें' नामक प्रकरण में अस्पृश्य कहलाने वाली भिन्न भिन्न जातियों का वर्गीकरण कर के उन में से प्रत्येक की संख्या सन् १९०१ ई० की सरकारी मनुष्य-गणना के अनुसार निर्धारित की गई है। लेखक ने भारत की समग्र अस्पृश्य मंडली को पहले उन के नीच धंधा स्वीकार करने, कालांतर में विजित होने, बौद्धादि धर्मों से हिंदू धर्म में आने, जंगली अवस्था में रहने तथा मनुस्मृति के अनुसार विभागों के भीतर गिने जाने के क्रम से पाँच बड़े बड़े वर्गों के नाम से विभक्त किया है और तदनंतर उन के अंतर्गत आने वाले जातिगत नामों की भी तालिका दी है। इस कारण सन् १९०१ ई० की मनुष्यगणना तथा 'लोदियन कमिटी' की रिपोर्ट के हिसाबों से तुलना करने पर थोड़ा बहुत अंतर पड़ जाने की संभावना है। परंतु लेखक के द्वारा निश्चित पद्धति को भी हम उस के वैज्ञानिक आधार के कारण किसी प्रकार कम समीचीन नहीं ठहरा सकते। 'नावांची व्युत्पत्ति व इतिहास' नामक प्रकरण में, इसी प्रकार, लेखक ने कतिपय मुख्य मुख्य अस्पृश्य जातियों के नामों की मूल-व्युत्पत्ति का भाषा शास्त्रानुसार विवेचन करते हुए उन के क्रमशः विकसित वर्तमान रूपों पर भी विचार किया है और अपने प्रायः तीस वर्षों के सूक्ष्म निरीक्षण एवं व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि आजकल अस्पृश्य के नाम से पुकारी जाने वाली इन अनेक जातियों की मूल दशा, वास्तव में, कभी बहुत ही ऊँची और उज्ज्वल रह चुकी है। विषय की नवीनता एवं लेखक की सुंदर शैली के कारण यह प्रकरण अत्यंत रोचक हो गया है।

'धर्म' नामक प्रकरण में यह दिखलाया गया है कि वर्तमान भारतीय अस्पृश्यता का रूप पहले-पहल मनुस्मृति के काल में ही निश्चित हो चुका था, परंतु निष्पक्ष भाव से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि अस्पृश्य कहलाने वाली अनेक जातियों की गणना हिंदू धर्म के भीतर की ही नहीं जा सकती। वे वास्तव में संस्कारतः हिंदू न होकर केवल संसर्गतः अथवा स्वभावतः हिंदू बन गए हैं, अतएव उन के लिए मंदिर-प्रवेश का प्रश्न उठाना उन के धार्मिक से अधिक सामाजिक अधिकारों की रक्षा के लिए ही आंदोलन करना है।

अस्पृश्यों के हृदय में अपनी अस्पृश्यता की भावना का कायम रहना अत्यंत कष्टप्रद बात है, जिस का अनुभव उन में से शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों को नित्यप्रति होता रहता है। 'सामाजिक स्थिति' वाले प्रकरण में लेखक ने इस बात को और भी स्पष्ट किया है और बतलाया है कि अस्पृश्यता ने हमारे समाज में एक प्रकार की विवशता उत्पन्न कर दी है, जिस से या तो दुरवस्था में पड़े हुए अछूत को अपनी हीनता सताती रहती है अथवा किसी प्रकार थोड़ी सी योग्यता प्राप्त कर लेने पर भी सामाजिक अपमान की तीव्र वेदना उसे बेचैन किए बिना नहीं छोड़ती। पुस्तक के अंतिम प्रकरण 'राजकारण' में दिखलाया गया है कि किसी बलिष्ठ जाति के दुर्बल जाति पर विजय प्राप्त कर लेने का परिणाम क्या होता है और इस बात को भारत के इतिहास द्वारा हम कहाँ तक उदाहृत कर सकते हैं। अस्पृश्य कहलाने वाली जातियाँ मूलतः किसी प्रकार भी हीन नहीं हैं और अवसर प्राप्त करने पर वे किसी से भी कम सफल नहीं हो सकती इस बात को भी लेखक ने अनेक उदाहरण दे कर सिद्ध किया है और साथ ही 'राजकारण' में महत्वपूर्ण सुधारों की आयोजना की भी आवश्यकता बतलाई है। अंत में अगले ग्रंथ के मुख्य विषय दलितोद्धार संबंधी प्रयत्नों का इतिहास एवं उपाय चिंतन की ओर संकेत कर के लेखक ने प्रस्तुत पुस्तक को समाप्त किया है। इस के अनंतर ४७ संदर्भ, पुस्तकों की तालिका और पुस्तक के विशिष्ट शब्दों की सूची भी दे दी गई है।

पुस्तक सामयिक होने के साथ ही अत्यंत महत्वपूर्ण और उपयोगी है और एक बार भी पढ़ लेने पर इस में उठाये गए प्रश्नों पर प्रत्येक पाठक का चिंताशील हो जाना अवश्यंभावी है। ग्रंथ का श्री सयाजी राव गायकवाड़ बड़ोदा के नाम अर्पित होना भी बहुत उपयुक्त हुआ है।

प० रा० च०

हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

(१) मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था—लेखक, मिस्टर अब्दुल्लाह यूसुफ़ अली, एम्० ए०, एल्-एल्० एम्० । मूल्य १।)

(२) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—लेखक, राय बहादुर महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा । सचित्र । मूल्य ३)

(३) कवि-रहस्य—लेखक, महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा । मूल्य १।)

(४) अरब और भारत के संबंध—लेखक, मौलाना सैयद सुलैमान साहब नदवी । अनुवादक, बाबू रामचंद्र वर्मा । मूल्य ४)

(५) हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता—लेखक, डाक्टर बेनीप्रसाद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० एस्-सी० (लंदन) । मूल्य ६)

(६) जंतु-जगत—लेखक, बाबू ब्रजेश बहादुर, बी० ए०, एल्-एल्० बी० । सचित्र । मूल्य ६।)

(७) गोस्वामी तुलसीदास—लेखक, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास और श्रीयुत पीतांबरदत्त बड़थ्वाल । सचित्र । मूल्य ३)

(८) सतसई-सप्तक—संग्रहकर्ता, राय बहादुर बाबू श्यामसुंदरदास । मूल्य ६)

(९) चर्म बनाने के सिद्धांत—लेखक, बाबू देवीदत्त अरोरा, बी० एस्-सी० । मूल्य ३)

(१०) हिंदी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट—संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए० । मूल्य १॥)

(११) सौर-परिवार—लेखक, डाक्टर गोरखप्रसाद, डी० एस्-सी०, एफ्० आर० ए० एस्० । सचित्र । मूल्य १२)

(१२) अयोध्या का इतिहास—लेखक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए० । सचित्र । मूल्य ३)

(१३) घाघ और भड्डरी—संपादक, पंडित रामनरेश त्रिपाठी । मूल्य ३)

(१४) वेलि क्रिसन रुकमणी री — ठाकुर रामसिंह, एम्० ए० और श्री सूर्यकरण पारीक, एम्० ए० । मूल्य ६)

(१५) चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—लेखक, श्रीयुत गंगाप्रसाद मेहता, एम्० ए० । सचित्र । मूल्य ३)

(१६) भोजराज—लेखक, श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेउ । मूल्य ३॥) सजिल्द, ३) बिना जिल्द ।

(१७) हिंदी उर्दू या हिंदुस्तानी—लेखक, श्रीयुत पंडित पद्मसिंह शर्मा । मूल्य सजिल्द १॥), बिना जिल्द १)

(१८) नातन—लेसिंग के जर्मन नाटक का अनुवाद । अनुवादक—मिर्ज़ा अबुल्फ़ज़्ल । मूल्य १।)

(१९) हिंदी भाषा का इतिहास—लेखक, श्रीयुत धीरेंद्र वर्मा, एम्० ए० । मूल्य सजिल्द ४), बिना जिल्द ३॥)

(२०) औद्योगिक तथा व्यापारिक भूगोल—लेखक, श्रीयुत शंकरसहाय सक्सेना । मूल्य सजिल्द ५॥), बिना जिल्द ५)

(२१) ग्रामीय अर्थशास्त्र—लेखक, श्रीयुत ब्रजगोपाल भटनागर, एम्० ए० । मूल्य ४॥) सजिल्द; ४) बिना जिल्द ।

(२२) भारतीय इतिहास की रूपरेखा (२ भाग)—लेखक, श्रीयुत जय-चंद्र विद्यालंकार । मूल्य प्रत्येक भाग का सजिल्द ५॥) बिना जिल्द ५)

हिंदुस्तानी

तिमाही पत्रिका

की पहले तीन वर्ष की कुछ फाइलें अभी प्राप्त हो सकती हैं । मूल्य पहले वर्ष का ८) तथा दूसरे और तीसरे वर्ष का ५) ।

प्रकाशक

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

सोल एजेंट

इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद

नोबेल पुरस्कार-प्राप्त

प्रसिद्ध नाट्यकार

जॉन गाल्सवर्दी

की

चार अमूल्य रचनाएँ

१—न्याय—'जस्टिस' नामक नाटक का अनुवाद। अनुवादक—श्रीयुत प्रेमचंद। मूल्य २।)

२—हड़ताल—'स्ट्राइफ़' नामक नाटक का अनुवाद। अनुवादक—श्रीयुत प्रेमचंद। मूल्य २)

३—धोखाधड़ी—'स्किन गेम' नामक नाटक का अनुवाद। अनुवादक—श्रीयुत लालताप्रसाद शुक्ल, एम्० ए०। मूल्य १।॥)

४—चाँदी की डिबिया—'सिल्वर बॉक्स' नामक नाटक का अनुवाद। अनुवादक—श्रीयुत प्रेमचंद। मूल्य १॥)

सभी पुस्तकों पर सुंदर सुनहरी कपड़े की मज़बूत जिल्दें हैं।

प्रकाशक

हिंदुस्तानी एकेडेमी,

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

सोल एजेंट:

इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग ४ } जुलाई १९३४ { अंक ३

उर्दू, हिंदी, हिंदुस्तानी

[लेखक—राइट आनरेब्ल सर तेजबहादुर सप्रू, एल्-एल्० डी०, के० सी० एस्० आई०, पी० सी०]

आजकल मैं बहुधा पत्रों और उर्दू की पुस्तकों में देखता हूँ कि इस विषय पर जोर दिया जाता है कि उर्दू दकन में पैदा हुई या पंजाब में या कहीं और। ऐतिहासिक दृष्टि-कोण से यद्यपि यह विवाद अत्यंत मनोरंजक है, तथापि भाषा और साहित्य की उन्नति पर मुझे इस का प्रभाव होता दिखाई नहीं देता। विद्वानों को अधिकार है कि अपने शोधों द्वारा वह चाहे दकन को और चाहे दिल्ली को उस का उत्पत्ति-स्थान नियत करें। परंतु इस बात को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि इस डेढ़-दो सौ वर्ष के भीतर जो उन्नति उर्दू भाषा या साहित्य में हुई है वह या तो दिल्ली में या लखनऊ में हुई है। यद्यपि इस बात को स्वीकार करने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है कि पिछले बीस वर्ष में हैदराबाद ने उर्दू की उन्नति में बहुत प्रकट-रूप से भाग लिया है। आज से पचीस वर्ष पूर्व तक जब कोई व्यक्ति उर्दू की चर्चा करता था तो उस से तात्पर्य अधिकांश उर्दू शायरी से होता था। परंतु इस पचीस वर्ष में शायरी के अतिरिक्त और दिशाओं में भी उर्दू में पर्याप्त उन्नति हुई है। अब कुछ पुस्तकें इतिहास या दर्शन या अन्य विषयों पर उर्दू में निकल गई हैं और उन्हें

पढ़ कर उर्दू के विस्तार का कुछ अनुमान हो सकता है। इसी प्रकार हमार शायरों का भी कुछ ढंग बदल रहा है। पहले तो उन को 'मूए मियां' 'चाहे जनखदां' और गुल व बुलबुल इत्यादि की बहुत खोज रहा करती थी और इसी खोज में उन का जीवन समाप्त हो जाता था। लेकिन संतोष है कि अब हमारे उर्दू शायरों का ध्यान और तरफ़ भी गया है। ईरान में इस तीस-चालीस वर्ष के भीतर शायरी का ढंग बिल्कुल बदल गया और वर्तमान युग के शायरों ने पुरानी जंजीरों को तोड़ कर अपने विचारों में स्वतंत्रता प्राप्त कर ली है। अपने देश के सुधार में और अपनी मातृभूमि के उत्थान में ईरान के कवियों ने जो भाग लिया है उसे कोई व्यक्ति, जो वर्तमान युग की शायरी से परिचित है, अस्वीकार नहीं कर सकता। यद्यपि उर्दू शायरों पर अभी ग़ज़ल का रंग बहुत गहरा चढ़ा हुआ है तथापि क्रमशः उन में भी परिवर्तन हो रहा है। ग़ालिब ने सत्तर-अस्सी वर्ष पूर्व इन्हीं बंधनों का अनुभव कर के कदाचित् यह शेर लिखा था—

बकद्रे-शौक़　　नहीं　　ज़र्फ़े-तंगनाए-ग़ज़ल।
कुछ और चाहिए वसअत मेरी ज़बाँ के लिए।

[अर्थात् ग़ज़ल का संकुचित पात्र हमारी लालसा के लिए पर्याप्त नहीं है। मेरी भाषा के लिए कुछ और विस्तार की आवश्यकता है।]

यदि भाषा के विस्तार का, हमारी ओर से समझ बूझ कर, प्रयत्न किया गया तो मेरे विचार में बीस-पचीस वर्ष के भीतर उर्दू साहित्य में पर्याप्त भंडार हो जायगा, जिस के द्वारा प्रारंभिक कक्षाओं से लेकर अंतिम तक, इसी भाषा में शिक्षा देना संभव हो जायगा।

मेरा चिर-काल से यह विश्वास रहा है कि किसी देश की शिक्षा पराई भाषा में नहीं हो सकती न कोई व्यक्ति पराई भाषा में पूर्ण योग्यता प्राप्त कर सकता है। मिल्टन जैसे कवि ने, जो कि लैटिन भाषा का पंडित था, जब 'पैराडाइज़ लॉस्ट' लिखने का विचार किया तो अंत में उस ने यही निश्चय किया कि अपनी भाषा अर्थात् अंग्रेजी में ही उसे कविता करनी चाहिए। अतएव

जो ख्याति मिल्टन को अपनी भाषा में 'पैराडाइज़ लॉस्ट' लिखने के कारण मिली वह सूर्यालोक की भांति प्रकट है।

अंग्रेज़ी शिक्षा-प्राप्त हिंदुस्तानियों की संख्या तीस या पैंतीस करोड़ आदमियों में केवल कुछ लाख की है। उच्च से उच्च शिक्षित हिंदुस्तानियों को सदा यह डर रहता है कि अंग्रेज़ी बोलने या लिखने में कोई गलती न हो जाय। हिंदुस्तानियों में ऐसे व्यक्ति, जिन्हें अंग्रेज़ी भाषा पर पूरा अधिकार प्राप्त हो या जो महावरे, शब्दों के चुनाव या विन्यास में अशुद्धि न करते हों, बहुत कम हैं और सदा रहेंगे। प्रत्येक भाषा का सबंध समाज के संगठन से होता है। जब हमारे जीवन का रहन-सहन हिंदुस्तानी है तो बहुत से शब्द और महावरे अंग्रेज़ी भाषा के ऐसे हैं जिन का प्रभाव हम पर वैसा नहीं हो सकता जैसा अंग्रेज़ों पर होता है। इसी प्रकार यदि अंग्रेज़ी के स्थान पर हिंदुस्तान में फ़ारसी या अरबी का साधारणतः रिवाज होता तो उस का भी वैसा प्रभाव हिंदुस्तानी स्वभाव पर न होता जिस प्रकार ईरानियों और अरबों पर हुआ करता है। और इस का अनुभव हिंदुस्तान को हो चुका है।

इस्लामी शासन-काल में फ़ारसी और अरबी का बहुत कुछ प्राबल्य हिंदुस्तान में रहा। लेकिन हिंदुस्तानी मुसल्मानों को भी, भाषा-विज्ञता की दृष्टि से, वह पद न प्राप्त हुआ जो ईरानी और अरब साहित्यिकों को हुआ है। एक बार इसी विषय पर मुझ से और प्रोफ़ेसर ब्राउन से कैम्ब्रिज में वार्तालाप हुआ था। मैं ने बहुत डरते डरते उन से पूछा कि आप के अनुभव में ईरान में किसी हिंदुस्तानी कवि का आदर किया गया है। उन्हों ने केवल खुसरो का नाम बताया और इस पर भी यह कहा कि यद्यपि खुसरो हिंदुस्तानी थे अर्थात् यह कि हिंदुस्तान में रहते थे और वहीं वह मरे तथापि उन का वंश हिंदुस्तानी न था। परंतु फ़ारसी और अरबी को छोड़ कर जब से कि उर्दू की नींव पड़ी हिंदुस्तानियों ने जो उर्दू में यश प्राप्त किया है उस पर किसी दूसरे देशवाले को आपत्ति करने का अधिकार नहीं प्राप्त है। मीर और सौदा, ज़ौक और ग़ालिब व मोमिन, आतश व नासिख, अनीस व दबीर उर्दू के मालिक थे। उन्हों ने जिन महावरों अथवा जिस शब्द-विन्यास की नींव डाली, वह अरबी

और फ़ारसी शब्द-विन्यास की दृष्टि से शुद्ध हों या अशुद्ध, उर्दू में प्रचलित हो गए। भाषा के प्रचारक की दृष्टि से उन्हें यह अधिकार था कि वह जिस तरह चाहते उर्दू शब्द-विन्यास स्थिर करते। उन की भाषा टकसाली भाषा हो गई। उन के मुहावरे या शब्द-विन्यास से पृथक् जाना या उन का विरोध करना ग़लती समझी जाती है। इसी प्रकार वर्तमान युग के जो उस्ताद हैं उन्हें भी पूरा अधिकार है कि नए विचारों, अनुभवों तथा भावों को उचित-रूप में उर्दू में उपस्थित करें। संभव है कि यदा-कदा उन पर भी आलोचना होती हो, परंतु धीरे धीरे हम उन के आविष्कारों से भी परिचित हो जावेंगे और उन के शब्द-विन्यास भी भाषा में प्रवेश कर जावेंगे।

सारांश यह कि अपनी भाषा अपनी वस्तु है। उस को जिस भाँति चाहें उपयोग में ला सकते हैं। आवश्यकतानुसार उस में उन्नति कर सकते हैं। किसी अन्य व्यक्ति की सम्मति या आज्ञा पर हम आश्रित नहीं और हमारी भाषा हमारे भावों और विचारों का रूपांतर है और यह भाषा न अँग्रेज़ी हो सकती है और न इतर भाषा। मैं इसी कारण इस बात के लिए सदा प्रयत्न-शील रहा कि उर्दू की उन्नति हो। परंतु इस से मैं अनभिज्ञ नहीं कि जब उर्दू की चर्चा की जाती है तो यह प्रश्न उठता है कि हिंदी की उन्नति क्यों न हो? मैं न हिंदी का बुरा चाहने वाला हूँ और न शत्रु। यद्यपि बहुधा हिंदू सज्जनों का यह विचार है कि मुझ पर उर्दू फ़ारसी का इतना रंग जमा हुआ है कि मैं क़रीब क़रीब आधा मुसल्मान हूँ। मैं ने न कभी यह कहा, न इस का प्रयत्न किया कि हिंदी की उन्नति न हो। परंतु वास्तविकता यह है कि पाँच वर्ष की अवस्था से, जब कि मेरी शिक्षा आरंभ हुई, मुझे उर्दू फ़ारसी का शौक़ रहा है और इन का बहुधा अध्ययन करता रहा हूँ। अट्ठावन बरस की अवस्था में नई अभिरुचियाँ ज़रा कठिनाई से उत्पन्न होती हैं। यदि किसी को यह उलाहना है कि मैं ने हिंदी और संस्कृत क्यों नहीं पढ़ी तो इस का उत्तरदायित्व, जहाँ तक मेरे होश संभालने के समय तक है, मुझ पर नहीं, मेरे पूर्वजों पर हो सकता है। और मेरी धारणा तो यह है कि मेरी अवस्था के बहुधा हिंदुओं की यही दशा है। पचास वर्ष पूर्व इस प्रांत में, कम से कम उन भागों में जहाँ मैं उत्पन्न हुआ

और मेरी शिक्षा हुई, मध्य श्रेणी के हिंदुओं में साधारणतः यही चलन था, कि उर्दू और फ़ारसी में उन को विद्यारंभ कराया जाता था। चाहे इस का कारण यह रहा हो कि उर्दू और फ़ारसी भाषा जीविकोपार्जन में सहायक थी, चाहे और कोई कारण हो, परंतु वास्तविकता यही है कि दिल्ली में जहाँ मेरे पूर्वज रहते थे, और उस के आस-पास जहाँ मेरी शिक्षा हुई, यही रिवाज था। और उसी रिवाज के अनुसार मेरी भी शिक्षा हुई। परंतु इस का अर्थ यह नहीं कि मैं हिंदू साहित्य से नितांत अनभिज्ञ हूँ या मैं ने अभिज्ञता प्राप्त करने का अपने अवकाश के समय में प्रयत्न नहीं किया। मेरा विश्वास यह है कि कोई हिंदुस्तानी अपने को हिंदुस्तानी कहने का अधिकारी नहीं जब तक वह हिंदू और इस्लामी सभ्यता तथा साहित्य से थोड़ा बहुत परिचय न रखता हो। मैं आजकल के मुसल्मानों की बहुधा यह शिकायत करता हूँ कि उन्हों ने हिंदू इतिहास, हिंदू सभ्यता व संस्कृति से परिचय प्राप्त करने का कभी प्रयत्न न किया, यद्यपि एक समय में मुसल्मानों में ऐसे लोगों की पर्याप्त संख्या मिल सकती थी जिन्हों ने हिंदू साहित्य में भी एक अच्छा पद प्राप्त कर लिया था। थोड़े समय की बात है कि एक मुसल्मान नवयुवक मुझ से मिलने आए। उन्हों ने इतिहास में एम्० ए० पास किया था। यूनान और रूम और यूरोप के इतिहास से उन्हें अच्छा परिचय प्राप्त था। परंतु हिंदू-काल के इतिहास से वह बिल्कुल अनभिज्ञ थे। और इसे उन्हों ने स्वीकार भी किया। इसी प्रकार बहुधा हिंदू एम्० ए० ऐसे मिलेंगे जिन को इस्लामी सभ्यता और इस्लामी संस्कृति से बिल्कुल परिचय नहीं प्राप्त है।

जब एक साधारण शिक्षित हिंदू को यह शिक्षा दी गई है कि मुसल्मान हिंदुस्तान को लूटने के लिए आए थे, महमूद ग़ज़नवी ने सत्रह हमले किए; मुसल्मान मूर्तिध्वंसक थे; उन्हों ने आकर यहाँ ६०० वर्ष तक क्रूरता से शासन किया तो किसी को क्यों आश्चर्य हो कि वह मुसल्मानों से दिल में घृणा करता है? इसी प्रकार यदि किसी मुसल्मान बच्चे को आरंभ से यह शिक्षा दी जाय कि हिंदू जितने हैं सब मूर्ति-पूजक हैं, उन के धर्म में संकीर्णता के अतिरिक्त कुछ नहीं है और यह मुसल्मानों के शासन में ६०० वर्ष तक रह चुके हैं और

अब मुसल्मानों से ऐतिहासिक प्रतीकार चाहते हैं, तो क्या आश्चर्य है कि मुसल्मान हिंदुओं से घृणा करें ? इस चालीस वर्ष के भीतर जो बीज हम ने बोए हैं उसी तरह के वृक्ष और उसी तरह के फल हमारे सामने आ रहे हैं। और फिर भी प्रत्येक व्यक्ति को दावा जातीयता का है !

आजकल यह तमाशा हो रहा है कि हिंदुओं के शिक्षित वर्ग में खाने पीने के तो साधारणतः बंधन टूट गए हैं, बिना संकोच हिंदू और मुसल्मान एक दूसरे के साथ साधारण जल्सों में, यहाँ या जब विदेशों में जाते हैं तो खान-पान प्रचलित रखते हैं परंतु यही सज्जन जब राजनीतिक प्रश्नों पर वार्तालाप करते हैं तो मालूम होता है मानो एक दूसरे से कोई संबंध ही न था। इस से अच्छे तो हमारे पूर्वज थे जो खान-पान आदि के बंधनों को स्वीकार करते थे लेकिन आँखों में शील रखते थे। आपस में मित्रता और सद्व्यवहार रखते थे। संभव है कि यह अविश्वास उस स्वतंत्रता और राजनीतिक शक्ति का पूर्व-रूप हो जिस का हम सब दम भरते हैं। जहाँ और भेद की बातें हैं वहीं एक प्रश्न भाषा का भी है। अपने दिल को बहलाने के लिए हम ने यह ढंग ग्रहण कर लिया है कि जब उर्दू और हिंदी की चर्चा होती है तब हम यह कहते हैं कि यह दोनों भाषाएँ एक ही हैं। और हमें उर्दू और हिंदी के स्थान पर हिंदुस्तानी उपयोग करना चाहिए। संभव है कि चालीस या पचास वर्ष पूर्व इस शब्द 'हिंदुस्तानी' का व्यवहार उचित होता परंतु इस समय तो मेरे विचार में इस शब्द के प्रयोग से या तो अपने दिल को बहलाना तात्पर्य है या एक-दूसरे को धोका देना। सच बात यह है कि इस समय उर्दू और हिंदी तो भिन्न भाषाएं बनती चली जा रही हैं। उर्दू के साहित्यिक अपना यह धर्म समझते हैं कि उर्दू में अरबी और फ़ारसी के अव्यवहृत और अपरिचित शब्दों की भरमार कर दें। इसी प्रकार हिंदी के साहित्यिक अपना यह कर्तव्य समझते हैं कि हिंदी में भी अव्यवहृत और अपरिचित संस्कृत के शब्द भर दिए जावें। अतएव मेरे लिए यह मान लेना असंभव है कि ऐसी उर्दू या ऐसी हिंदी को हम हिंदुस्तानी का नाम दे सकते हैं। मुझे तो इस बात का भय है कि यदि यही प्रगति रही तो वह समय दूर नहीं है, जब कि उर्दू-दाँ को हिंदी जानने

वाले से वार्तालाप के समय एक दुभाषिए की आवश्यकता होगी और इसी प्रकार इस के विपरीत दशा मे भी। यदि वास्तव में हम लोगों ने यह निश्चय कर लिया है कि इसी प्रकार से उर्दू और हिंदी की अलग अलग उन्नति हो और जो कुछ परिणाम हों उन्हें सहन करें तो क्यों न साहस के साथ हम इस को मान लें कि उर्दू जाननेवालों को उर्दू की उन्नति का अधिकार प्राप्त है और हिंदीवालों को हिंदी की उन्नति का। यद्यपि मेरे विचार में यह श्रेष्ठतर होता कि हिंदुस्तानी अर्थात् ऐसी संमिलित भाषा, जिसे साधारणतया हिंदू और मुसल्मान समझ जाते प्रचलित होती। लेकिन यदि यह असंभव हो गया है तो अब भी हम कम से कम यह कर सकते हैं कि अरबी और फारसी के शब्द उर्दू से और अव्यवहृत संस्कृत शब्द हिंदी से पृथक् करने का प्रयत्न करें।

कुछ समय हुआ एक दानपत्र एक हिंदू सज्जन ने एक वकील द्वारा मेरे पास भेजा। मैंने उसे दो बार सुना, यह हिंदी में लिखा हुआ था। सैकड़ा पीछे सत्तर शब्द मैं नहीं समझ सका और ऐसे-ऐसे संस्कृत के क़ानूनी शब्द इस में लिखे गए थे, जो मैं ने अपने अड़तीस वर्ष के अनुभव में कभी नहीं सुने थे। अंत में जब उस का अँग्रेज़ी अनुवाद मेरे सामने प्रस्तुत किया गया उस समय मैं क़ानूनी संमति दे सका। अब ऐसी दस्तावेज़ को मैं क्या कहूँ ? उर्दू, हिंदी, अथवा हिंदुस्तानी ?

यद्यपि मैं राजनीतिक प्रश्नों के विषय में बहुत कम निवेदन करना चाहता हूँ, लेकिन जो कुछ मैंने ऊपर संकेत किया है वह केवल इस कारण कि भाषा का बहुत कुछ संबंध राजनीतिक संगठन से हुआ करता है। यूरोप के कुछ देशों में, उदाहरणार्थ पोलैंड या अल्सेस-लोरेन में, जो भाषा के सबंध में आपस में झगड़े हुए हैं और उन के जो परिणाम हुए हैं उन से हमें शिक्षा लेनी चाहिए। परंतु वहाँ तो यह स्थिति थी कि विजेता और विजित के बीच के झगड़े थे। यहाँ यह दशा है कि यह झगड़े विजेता और विजित के बीच के नहीं हैं वरन् एक ही देश के निवासियों के बीच, और कुतूहल की बात तो यह है कि दोनों स्वतंत्रता के इच्छुक हैं।

मैं ने अपने प्रतिष्ठित मित्र मौलवी असगर साहब, संपादक रिसाला 'हिंदुस्तानी' की इच्छा और आग्रह से अपने कुछ स्फुट विचार असंबद्ध रूप में प्रकट कर दिए हैं। संभव है कुछ सज्जनों को मेरे विचारों से मतभेद हो परंतु मैं उन्हें यह विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि मेरे यह विचार मैत्री-भाव से प्रेरित हैं।

(उर्दू 'हिंदुस्तानी' से)

(अनुवादक—रामचंद्र टंडन)

हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी

[लेखक—श्रीयुत धीरेंद्र वर्मा, एम्० ए०]

अपने देश की हिंदी-उर्दू समस्या उन महत्वपूर्ण समस्याओं में से एक है, जिस के निर्णय पर देश की भावी उन्नति बहुत कुछ निर्भर है।

आधुनिक साहित्यिक हिंदी के पक्ष में कई बातें कही जा सकती हैं—

१. शब्द-भंडार के लिए संस्कृत की ओर झुकने से हिंदी भारत की अन्य समस्त आधुनिक आर्य-भाषाओं, जैसे बँगला, मराठी, गुजराती आदि के निकट रहती है, क्योंकि ये समस्त भाषाएँ भी संस्कृत से ही अपना शब्द-कोष भर रही हैं।

२. नए विचारों को प्रकट करने के लिए बने-बनाए प्राचीन संस्कृत शब्दों को उठा लेने में सुभीता रहता है। तद्भव, देशी अथवा विदेशी शब्दों को ढूढ़ना कठिन होता है, फिर अक्सर ठीक शब्द मिलते भी नहीं। आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं के शब्द-समूह को बढ़ाने के लिए संस्कृत का शब्द-समूह एक अक्षय्य तथा स्वाभाविक भंडार है।

३. संस्कृत शब्दों के प्रयोग से शैली में प्रौढ़ता तथा गरिमा आ जाती है तथा भाषा में एक साहित्यिक वातावरण उत्पन्न हो जाता है। हिंदुस्तानी शैली में यह बात नहीं आती। साधारण संसारी आदमी इस की महत्ता को भले ही अनुभव न करे किंतु साहित्यिक पुरुष इस संबंध में उपेक्षा नहीं कर सकता।

४. उन्नीसवीं शताब्दी से हिंदी शैली के संबंध में संस्कृत-मिश्रित हिंदी और हिंदुस्तानी लिखने के प्रयोग होते आ रहे हैं। इस प्रतियोगिता में निश्चित रूप से संस्कृत-गर्भित शैली की ही जीत रही है। पिछले पचास-साठ वर्षों में

हिंदी शैली स्थिर सी हो गई है अब फिर नए सिरे से व्यर्थ को वही पुराने प्रयोग क्यों आरंभ किए जावें ?

५. अंत में भारतीय मूल साहित्यिक भाषा संस्कृत के निकट रहने से हमारा संबंध प्राचीन भारतीय संस्कृति से अधिक दृढ़ तथा अटूट बना रहता है।

ऊपर दिए हुए तर्कों में बहुत कुछ तथ्य है किंतु इस के विरुद्ध भी कुछ बातें ध्यान देने योग्य हैं।

यह बिल्कुल सत्य है कि शब्द-भंडार के लिए संस्कृत की ओर झुकने से हिंदी भारत की अन्य आधुनिक आर्य-भाषाओं के निकट रहती है, किंतु अंतर्प्रांतीय संबंध के अतिरिक्त हिंदी का एक प्रांतीय पहलू भी है, जो कम महत्वपूर्ण नहीं है। राष्ट्रभाषा के पहलू के सामने हिंदी के प्रांतीय भाषा के पहलू को प्रायः भुला दिया जाता है। खड़ी बोली हिंदी का घर संयुक्त-प्रांत है तथा संयुक्त-प्रांत, बिहार, राजस्थान, मध्यभारत और हिंदुस्तानी मध्यप्रांत के हिंदुओं की यह साहित्यिक भाषा है। इन प्रांतों के मुसल्मानों और पंजाब तथा दिल्ली के हिंदू और मुसल्मान दोनों की साहित्यिक भाषा खड़ी बोली हिंदी की बहिन उर्दू है, जो संस्कृत-गर्भित न होकर फ़ारसी-अरबी-मिश्रित है। अब प्रश्न यह हो जाता है कि हिंदी को संस्कृत-गर्भित कर के हिंदी-भाषी प्रदेश की जनता के एक बड़े समूह से तथा पड़ोस के पंजाब और दिल्ली प्रांतों की प्रायः समस्त पढ़ी लिखी जनता की भाषा से दूर कर के सुदूरवर्ती बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र की भाषाओं के अधिक निकट रखना अधिक हितकर होगा या हिंदुस्तानी शैली की ओर झुकाव कर के बँगला, गुजराती आदि भाषाओं से दूर हो कर अपने घर के लोगों की उर्दू भाषा के अधिक निकट रखना अधिक उचित होगा। यह न भुलाना चाहिए कि भारतीय मुसल्मानी संस्कृति का केंद्र हिंदी-भाषी प्रदेश ही है। दिल्ली, आगरा, लखनऊ, संयुक्त-प्रांत में ही हैं, यहाँ ही मुसल्मानी विशाल साम्राज्य बने बिगड़े हैं और उन के खंडहर अब तक विलुप्त नहीं हो पाए हैं। अतः हिंदी को जितना अधिक उर्दू से मिलने-जुलने का अवसर मिलता है उतना गुजराती, बँगला आदि को नहीं मिलता। इन

अन्य भारतीय आर्य-भाषाओं के आगे इस तरह की समस्या आती ही नही अतः हिंदी की इस समस्या को सुलझाने मे इन भाषाओं की परिस्थिति विशेष सहायक नहीं होती।

फिर हिंदी-उर्दू समस्या केवल प्रांतीय समस्या ही नहीं है। यह एक भारतीय पहलू भी रखती है। यदि राष्ट्र-भाषा हिंदी संस्कृत-गर्भित हुई तो यह सच है कि गुजराती, बंगाली, मराठी तथा मदरासी भाइयों को ऐसी हिंदी के समझने में सुभीता होगा, किंतु सात-आठ करोड़ मुसल्मान भाइयों के प्रतिनिधियों के लिए तो ऐसी हिंदी संस्कृत के बराबर हो जायगी। उन की उर्दू के निकट तो हिंदुस्तानी हिंदी ही रह सकेगी। फिर यह वर्ग ऐसा नहीं है जिसे संस्कृत शब्द-समूह को सिखला सकना आसान हो। उर्दू धीरे-धीरे समस्त भारतीय मुसल्मानों की साहित्यिक भाषा होती जा रही है। बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र आदि सुदूरवर्ती प्रांतों की मुसल्मान जनता, धर्म मे इस्लाम धर्म को मानते हुए भी, भाषा की दृष्टि से अपने-अपने प्रांतों की भाषा पढ़ती लिखती थी किंतु अब प्रायः हर एक प्रांत के मुसल्मानों की प्रवृत्ति अपनी प्रांतीय भाषा को छोड़ कर उर्दू को अपनाने की ओर हो रही है। इस प्रवृत्ति से हिंदी, बँगला, गुजराती आदि और उर्दू के बीच में भेद की भीति और भी अधिक ऊंची तथा दृढ़ होती जा रही है।

यह हिंदी-उर्दू को द्विभाषा-समस्या हिंदी-भाषी प्रदेशों, विशेषतया संयुक्त-प्रांत, के लिए बड़ी विकट समस्या है। निकट भविष्य में जब भारत की प्रांतीय भाषाओं मे प्राइमरी स्कूलों से लेकर यूनीवर्सिटी तक की पढ़ाई होगी उस समय यूनीवर्सिटी के अध्यापक किस भाषा मे अपने मुसल्मान और हिंदू विद्यार्थियों को इतिहास, तर्कशास्त्र, वनस्पति-शास्त्र आदि विषयों पर व्याख्यान दिया करेंगे ? हमारे प्रांत में हिंदू और मुसल्मानों की समस्त शिक्षा-संबंधी संस्थाएँ बिल्कुल अलग हो, यह भी तो बड़ी विचित्र बात होगी। प्रांतीय सरकार अपना कारबार भले ही हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं मे करती रहे किंतु प्रांतीय काउंसिल में किस भाषा में प्रस्ताव रक्खे जाया करेंगे और किस भाषा में उन पर वाद-विवाद होगा ? किस लिपि और भाषा मे समस्त सरकारी

और ग़ैर-सरकारी दफ़्तरों में लिखा पढ़ी हुआ करेगी ? वास्तव में परिस्थिति बड़ी उलझन की होगी।

मुसल्मानी दौर-दौरे के कारण कुछ दिनों पहले उर्दू राजभाषा थी। राजकाज से संबंध रखने वाले हिंदू भी उर्दू सीखते थे। उस समय संस्कृत पंडितों की और नागरी स्त्रियों तथा तिजारत पेशावालों की भाषा समझी जाती थी। राजनीतिक परिवर्तनों के साथ-साथ उर्दू का यह विशेष पद नष्ट हो गया तथा पढ़े-लिखे हिंदुओं की नई पीढ़ियों में खड़ी बोली हिंदी का पठन-पाठन बढ़ने लगा। इस समय पश्चिमी संयुक्त-प्रांत के कुछ हिस्सों तथा लखनऊ के इर्द-गिर्द कुछ खानदानों को छोड़ कर संयुक्त-प्रांत की शेष समस्त पढ़ी-लिखी हिंदू जनता की तथा पड़ोस के प्रांतों की हिंदू जनता की भी साहित्यिक भाषा हिंदी हो गई है। यद्यपि इस भूमि-भाग में समस्त पढ़े-लिखे मुसल्मान भाइयों तथा बहुत तेज़ी से घटते हुए पुराने प्रभावों से प्रभावित कुछ हिंदू घरानों की साहित्यिक भाषा अब भी उर्दू बनी हुई है। ऐसी परिस्थिति में भाषा-संबंधी कठिनाई का होना स्वाभाविक है।

अपने प्रांत के मुसल्मान भाइयों की साहित्यिक भाषा—उर्दू—के निकट रहने के अतिरिक्त हिंदी को हिंदुस्तानी की ओर झुकाए रखने के पक्ष में एक तर्क यह भी दिया जा सकता है कि ऐसा करने से हिंदी सर्वसाधारण की पहुँच के अंदर रहेगी। संयुक्त-प्रांत के गाँवों, क़स्बों तथा शहरों की साधारण जनता संस्कृत-गर्भित भाषा को उतनी आसानी से नहीं समझ सकती जितनी आसानी से वह प्रचलित तद्भव तथा विदेशी शब्दों से युक्त सरल हिंदी को समझ सकती है। साधारण जनता फ़ारसी-मिश्रित उर्दू को भी नहीं समझ सकती। हिंदी और उर्दू में से जो भाषा भी जनता तक अपनी पहुँच चाहती है उसे अपने को सरल बनाए रखना चाहिए। इस तर्क में बहुत कुछ तथ्य है किंतु यह बात केवल समाचार-पत्रों, उपन्यासों तथा साधारण नाटकों आदि की भाषा के संबंध में लागू हो सकती है। जब कभी गंभीर विषयों पर क़लम उठाना पड़ेगा तभी फ़ारसी या संस्कृत का सहारा लेना अनिवार्य हो जायगा। जनता के हित की दृष्टि से इस में विशेष अड़चन भी नहीं पड़ती क्यों कि यह

ग्रंथ-समूह सर्वसाधारण के लिए नहीं होता है और न साधारण जनता तक इस की पहुँच कराने की आवश्यकता ही पड़ती है। हिंदी को जनता की पहुँच के अंदर रखने में हिंदी का ही हित है। किंतु इस से हिंदी-उर्दू समस्या हल नहीं होती।

बहुत दिनों तक गंभीरता-पूर्वक विचार करने के बाद मैं इस निश्चित निर्णय पर पहुँचा हूँ कि हिंदी और उर्दू साहित्यिक भाषाओं को भविष्य में मिला कर अब एक भाषा नहीं किया जा सकता। जैसा मैं ऊपर कह चुका हूँ, बोल-चाल या साधारण साहित्य की हिंदी-उर्दू को जनता की पहुँच की दृष्टि से सरल बनाए रखने में इन्हीं भाषाओं का हित है। ऐसी सरल हिंदी और उर्दू का एक दूसरे के अधिक निकट रहना स्वाभाविक है किंतु भविष्य में हिंदी और उर्दू में दिन-दिन ऊँची से ऊँची श्रेणी का कार्य होना है, अतः ऐसे ऊँचे पाये की साहित्यिक हिंदी और उर्दू का एक दूसरे से, आज की अपेक्षा भी अधिक दूर हो जाना बिल्कुल स्वाभाविक है।

मुसल्मान भाइयों से यह आशा करना कि वे प्रांत की अधिकांश पढ़ी लिखी जनता की भाषा—हिंदी—को सीख सकेंगे दुराशा मात्र है। हिंदी-उर्दू की मिडिल परीक्षाओं से ले कर एम्० ए० की परीक्षाओं तक हिंदी मिडिल और हिंदी एम्० ए० में मुसल्मान विद्यार्थियों की संख्या देख कर भविष्य की प्रवृत्ति का पता स्पष्ट चल सकता है। रहीम और जायसी आदि के नाम ले कर मौखिक सहानुभूति दिखलाना दूसरी बात है। यह सच है कि उर्दू पढ़नेवाले हिंदू विद्यार्थियों की संख्या अभी भी पर्याप्त है किंतु यह दिन दिन घट रही है। वर्तमान काल की परिवर्तित परिस्थिति में हिंदुओं से भी यह आशा नहीं की जा सकती कि ये पहले की तरह बहुत दिनों तक उर्दू को अपनाए रहेंगे। नीचे की कक्षाओं में नागरी और उर्दू लिपि तथा एक दो दूसरी भाषा की किताबें प्रत्येक हिंदी या उर्दू जाननेवाले को पढ़ा देने से भी साहित्यिक हिंदी और उर्दू के भेद की समस्या हल नहीं होती।

मेरी अपनी दृढ़ धारणा तो यह हो गई है कि देवनागरी लिपि तथा हिंदी भाषा भारतीय लिपि तथा भाषा हैं, अतः संयुक्त-प्रांत आदि भूभागों में

रहनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह हिंदू हो या मुसलमान, अंग्रेज हो या यहूदी, पारसी हो या मदरासी देवनागरी लिपि और हिंदी भाषा को अपनी राष्ट्रीय लिपि और भाषा समझ कर सीखना चाहिए। मुसलमान भाई यदि चाहें तो अपनी संस्कृति और धर्म को सुरक्षित रखने के लिए फारसी लिपि और भाषा को भी अपने बच्चों को सिखा सकते हैं। इस की उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। जब तक वे इस के लिए राज़ी न हों तब तक यही एक उपाय है कि हिंदी-भाषी प्रदेशों के ८५ फ़ी सदी हिंदू, हिंदी और देवनागरी लिपि को अपनावें और १५ फ़ी सदी मुसलमान भाई उर्दू को अपनाए रहें। भविष्य आप ही इस संबंध मे फैसला कर देगा। जो हो मैं प्रत्येक पढ़े लिखे हिंदू बालक को उर्दू भाषा और फारसी लिपि का अनिवार्य रूप से सिखलाया जाना या उर्दू के निकट जाने के उद्देश्य से साहित्यिक हिंदी की प्रौढ़ शैली को नष्ट कर उसे हिंदुस्तानी बनाना अस्वाभाविक तथा अनावश्यक समझता हूँ। विशेष-तया जब इस से साहित्यिक हिंदी और उर्दू के भेद को दूर करने में कोई भी सहायता नहीं मिलती।

जायसी और प्रेमतत्व

[लेखक—पंडित परशुराम चतुर्वेदी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०]

[१]

जायसी की रचना 'पद्मावत' की प्रेम-गाथा द्वारा अथवा उन के ग्रंथ 'अखरावट' में वर्णन किए गए सिद्धांतों द्वारा जिस प्रेमतत्त्व का परिचय मिलता है वह वास्तव में बहुत ही उच्च व गंभीर है और उस के महत्त्व का पता हमे पहले-पहल उस समय चलता है जब कि, हीरामन तोता द्वारा पद्मावती के रूप व गुण का संक्षिप्तमात्र समाचार पाते ही, राजा रतनसेन उस के प्रेम मे पड़ कर कह उठता है—

तीनि लोक चौदह खंड, सबै परै मोहिं सूझि।
प्रेम छाँडि नहिं लोन किछु, जो देखा मन बूझि ॥[1]

अर्थात् अब मुझे तीनों लोक और चौदहों भुवन प्रत्यक्ष हो गए और मैं ने अपने मन मे समझ बूझ कर देख लिया कि वास्तव में प्रेम के समान कोई भी वस्तु सुंदर नहीं हो सकती। अभिप्राय यह है कि संसार की किसी भी वस्तु में ऐसी सुंदरता नहीं मिल सकती जो प्रत्येक स्थिति अथवा दशा मे भी एक समान हो कर वर्त्तमान रहे। यह प्रेम की ही विशेषता है कि,

मुहमद बाजी प्रेम कै, ज्यों भावै त्यों खेल।
तिल फूलहि के संग ज्यों, होइ फुलायल तेल ॥[2]

अर्थात् प्रेम की बाजी किसी प्रकार भी खेली जाय उस में लाभ ही लाभ है जैसे तिल के दाने, फूलों के सहवास के उपलक्ष मे यदि पेरे भी जाते

---

[1] 'जायसी-ग्रंथावली' (काशी नागरी प्रचारिणी सभा), पृ० ४२।

[2] वही, पृ० २८।

है तो अंत में उन का रूप सुगंधित तेल बन कर ही प्रकट होता है प्रेम के कारण अथवा प्रेम का परिणाम-स्वरूप दुख हो ही नहीं सकता इस का तो नियम ही है कि—

प्रेम के आगि जरै जौं कोई।
दुख तेहि कर न अँबिरथा होई॥[1]

अर्थात् प्रेम की ज्वाला में अपने को भस्मसात् कर देने वाले का दुःख कभी व्यर्थ नहीं जाता। उस के दुःखों के साथ ही साथ सुख भी लगा ही रहता है जिस कारण उस के आनंद में बाधा नहीं पड़ पाती और—

दुख भीतर जो प्रेम-मधु राखा।
जग नहिं मरन सहै जो चाखा॥[2]

अर्थात् प्रेम की पीर के साथ ही जो माधुर्य अनुभव में आता है उस का स्वाद इतना तीव्र होता है कि उस के सामने संसार में मरण तक का कष्ट हँसते-खेलते सह लेना कोई असंभव बात नहीं। इस कारण प्रेम नितांत रूप से सदा एक-सम समझा जाता है और इस की एकरसता ही इस के वास्तविक सौंदर्य का कारण है। इस अनुपम गुण के ही संयोग से—

मानुप प्रेम भएउ बैकुंठी।
नाहित काह छार भर मूठी॥[3]

अर्थात् इस प्रेम के ही कारण मनुष्य अमरत्व तक प्राप्त कर लेता है, नहीं तो इस 'मूठी' भर छार मात्र से बने हुए मिट्टी के पुतले से हो ही क्या सकता था? अतएव कवि को इस बात पर पूर्ण विश्वास है कि—

प्रेम-पंथ जौं पहुँचे पारा।
बहुरि न मिलै आइ एहि छारा॥[4]

---

[1] 'जायसी-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० स०), पृ० ६९।

[2] वही, पृ० ४२।

[3] वही, पृ० ७६।

[4] वही, पृ० ६६।

अर्थात् जो मनुष्य प्रेममार्ग का पथिक होकर पार पहुँच गया वह फिर मिट्टी में ही मिलने के लिए इस क्षणभंगुर शरीर को धारण कर नहीं सकता। वह अमर हो जाता है।

परतु प्रेम जितना ही सुंदर और मनोहर है उतना ही उस का मार्ग भी विकट और दुर्गम है क्योंकि इस पर चलने वाले के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने साधन की सरलता अथवा कठिनता को अपने विचार से एक दम निकाल दे और ऐसा करने के कारण प्रायः देखा गया है कि उस के मार्ग का ढंग ही विचित्र हो जाता है। वह जितना ही उलटे रास्ते से चले और जितना ही कष्ट झेले उतना ही अपने को, उद्देश्य की पूर्त्ति करता हुआ, पाता है। इसी लिए कवि का कहना भी है कि—

उलटा पंथ प्रेम के बारा।
चढ़ै सरग जो परै पतारा॥[1]

अर्थात् प्रेम का मार्ग ही विपरीत है क्योंकि इस के द्वारा स्वर्ग पर जाने के अधिकारी वही बन सकते हैं जिन्हों ने पहले अपने को पाताल में डाल दिया हो। इस का अनुसरण करने के प्रथम ही यह समझ लेना आवश्यक है कि अब हमें अपने दुःख-सुख की कोई परवा नहीं करना है। सिंहल-द्वीप जाते समय मार्ग में पड़ने वाले विस्तृत समुद्र को पार करने की कठिनाइयों का ब्यौरा, केवट द्वारा, सुन कर, प्रेमी राजा रतनसेन इसी लिए सहसा कह उठता है कि—

राजै कहा कीन्ह मैं प्रेमा।
जहाँ प्रेम कहँ कूसल खेमा॥[2]

अर्थात् जब मैंने प्रेम का मार्ग ग्रहण कर लिया तो अब कुशल क्षेम के लिए किसी प्रकार की आशा करना ही व्यर्थ है क्योंकि नियमानुसार प्रेम के रहते कुशल क्षेम का होना असंभव सी बात है। प्रेम करनेवाले को दुख झेलना

---

[1] 'जायसी-ग्रंथावली', (का० ना० प्र० सभा), पृ० १०६।

[2] वही, पृ० ६७।

हो पड़ेगा कवि ने इस बात को स्पष्ट करते हुए कई स्थलों पर बहुत से उदाहरण भी दिए हैं। जैसे—

प्रेम-फाँद जो परा न छूटा।
जीउ दीन्ह पै फाँद न टूटा॥
गिरगिट छंद धरै दुख तेता।
खन खन पीत रात खन सेता॥
जान पुछार जो भा बनबासी।
रोंव रोंव परे फँद नगबासी॥
पाँखन्ह फिरि फिरि परा सो फाँदू।
उड़ि न सकै अरुझा भा बाँदू॥
'मुयों मुयों' अहनिसि चिल्लाई।
ओही रोस नागन्ह धै खाई॥
पंडुक, सुआ, कक वह चीन्हा।
जेहि गिउ परा चाहि जिउ दीन्हा॥

तीतिर-गिउ जो फाँद है, नित्ति पुकारै दोख।
सो कित हँकारि फाँद गिउ (मेलै) कित मारे होइ सोख॥[1]

जानहिं भौंर जो तेहि पथ लूटे।
जीउ दीन्ह औ दिएहु न छूटे।

अथवा,

ओहि पथ जाइ जो होइ उदासी।
जोगी, जती, तपा सन्यासी॥
भोग किए जौं पावत भोगू।
तजि सो भोग कोइ करत न जोगू॥

---

[1] 'जायसी-ग्रंथावली', (का० ना० प्र० स०), पृ० ४३।

साधन्ह सिद्धि न पाइये, जौ लगि सधै न तप्प।
सोपै जाने बापुरा, करै जो सीस कलप्प॥

का भा जोग-कथनि के कथे।
निकसै घिउ न बिना दधि मथे॥
जौ लहि आप हेराइ न कोई।
तौ लहि हेरत पाव न सोई॥
प्रेम पहार कठिन विधि गढ़ा।
सो पै चढै जो सिर सौं चढा॥
पंथ सूरि कर उठा अँकूरू।
चोर चढै की चढ मंसूरू॥[1]

और—

ना जेइ भएउ भौर कर रंगू।
ना जेइ दीपक भएउ पतंगू॥
ना जेइ करा भृंग कै होई।
ना जेइ आपु मरै जिउ खोई॥
ना जेइ प्रेम औटि एक भएऊ।
ना जेहि हिये माँझ डर गएऊ॥
तेहि का कहिय रहब जिउ, रहै जो पीतम लागि।
जौं वह सुनै लेइ धँसि, का पानी का आगि॥[2]

अर्थात् प्रेम के फंदे में जो पड़ गया वह कभी नहीं छूटता। प्राण दे देने पर भी उस के फंदे का टूट जाना कठिन है। गिरगिट को अनेक कष्ट झेल कर भी क्षण-क्षण पर पीले, लाल अथवा श्वेत रंग का होना पड़ता है। मोर को वन में रहकर अपना रोम-रोम नागपाश में डालना पड़ता है, जिस के कारण उस के पंख पर फंदे के चिह्न तक पड़ जाते हैं और वह वंदी हो कर उड़ने में असमर्थ हो जाता है, वह रात-दिन "मुयों" "मुयों" कहकर चिल्लाया

---

[1] 'जायसी-ग्रंथावली', (का० ना० प्र० स०), पृ० ५५।

[2] वही, पृ० १०७।

करता है और क्रोध में आ कर दौड़-दौड़ कर साँपों को खाता फिरता है। इस फंदे का चिह्न, इसी प्रकार, पंडुक तोते और नीलकंठ पक्षियों के भी गले में पड़ा दीखता है जिस के कारण उन्हें प्राण तक निछावर करने पड़ते हैं और तीतर के गले पर दीखने वाला चिह्न इतना अशुभ-सूचक है कि या तो उस के द्वारा इसे बंधन स्वीकार करना पड़ता है अथवा मुक्त होने पर भी लड़कर मरना पड़ता है अर्थात् इसे कहीं भी शांति नहीं मिलती। फिर भ्रमर तो इस मार्ग का पथिक हो कर एक दम लुट ही जाता है, उसे प्राणों की आहुति देने पर भी छुटकारा नहीं मिलता। इसी लिए इस मार्ग का अनुसरण भरसक उसी को करना चाहिए जो उदासी, योगी, यती, तपस्वी अथवा संन्यासी हो, क्योंकि भोग-विलास में पड़े हुए को ही यदि यहाँ सफलता मिल सकती तो ये लोग भोगों का त्याग कर कठिन व्रत की साधना करने पर आरूढ़ नहीं होते। प्रेम-प्राप्ति की सिद्धि केवल साध करने मात्र से नहीं हो सकती इस के साथ-साथ तप की साधना भी आवश्यक है। इसे वही अनुभव कर पाता है जो अपने शीश को पहले धड़ से अलग कर डालता है। केवल कथनी कथने से कुछ नहीं होता। घी के निकालने के लिए दही को पहले भली भाँति मथने की आवश्यकता पड़ती है। जब तक अपने आप को भी, ढूँढते-ढूँढते कोई न खो दे तब तक उसे पा ही नहीं सकता। प्रेम के पहाड़ की रचना ही कुछ ऐसी अनोखी है कि उस पर चढ़नेवाले को पैरों द्वारा न चलकर सिर के बल जाना पड़ता है। यह वास्तव में, सूली का मार्ग है जिस पर या तो चोर चढ़ाया जाता है अथवा मंसूर ऐसे मनुष्य का बलिदान होता है। बात यह है कि जिस ने भ्रमर का रंग धारण नहीं किया, जो दीपक देख कर पतंग नहीं बन गया, जिस पर भृंग का प्रभाव नहीं पड़ा अथवा जिस ने अपने प्राणों का उत्सर्ग नहीं कर दिया और न जो प्रेम के कारण तपाया जा कर एक हो गया अथवा जिस के हृदय से भय का लोप न हुआ उसे प्रियतम के प्रति सच्चा अनुराग हो ही नहीं सकता और न वह उस के लिए आग या पानी में पड़ सकता है।

प्रेमी की अवस्था ही विचित्र हो जाती है। प्रेम के प्रभाव द्वारा अभि-

भूत होकर उस की मनोवृत्ति इस प्रकार बदल जाती है कि उसे हित-अनहित की बातों की पहचान तक नहीं रह जाती और वह—

उपजी प्रेम-पीर जेहि आई,
परबोधत होइ अधिक सो आई।
अमृत बात कहत विष जाना,
प्रेमक बचन मीठ कै माना।[1]

अर्थात् जिस के हृदय में प्रेम की कसक बैठ गई उसे यदि समझाया बुझाया जाय तो उस पर प्रभाव उलटा ही पड़ा करता है और पीड़ा कम होने की जगह बढ़ने लगती है। प्रेम के आवेश में उसे भली से भली बात बुरी जान पड़ती है और वह केवल प्रेमसंबंधी वार्त्तालाप को ही अपने अनुकूल समझा करता है। वह अपने शरीर तक की रक्षा के विचार से इस प्रकार उदासीन हो जाता है कि उसे किसी बात की परवा ही नहीं रहती। क्योंकि—

जेहि के हिये प्रेम-रंग जामा।
का तेहि भूख नींद बिसरामा॥[2]

अर्थात् जिस के हृदय में प्रेम ने रंग जमा लिया उस के लिए भूख, निद्रा अथवा विश्राम का आना असंभव है। उसे शांति मिल ही नहीं सकती। उस की मानसिक स्थिति का वर्णन करता हुआ स्वयं राजा रतनसेन पद्मावती से कहता है कि—

सुनु, धनि! प्रेम-सुरा के पिए।
मरन जियन डर रहै न हिए॥
जेहि मद तेहि कहाँ संसारा।
की सो घूमि रह की मतवारा॥
सो पै जान पियै जो कोई।
पी न अघाइ जाइ परि सोई॥

---

[1] 'जायसी-ग्रंथावली', (का० ना० प्र० सभा), पृ० ५६।

[2] वही, (का० ना० प्र० सभा), पृ० ६२।

जा कँह होइ बार एक लाहा ।
रहै न आहि बिनु आही चाहा ॥
अरथ दरब सों देइ बहाई ।
की सब जाहु, न जाइ पियाई ॥
रातिहु दिवस रहै रस-भीजा ।
लाभ न देख न देखै छीजा ॥[1]

अर्थात् हे प्यारी, प्रेम वास्तव मे, मदिरा के समान है जिस का पान करते ही जीवन मरण तक का भय एक दम जाता रहता है, जिस ने एक बार भी इसे पी लिया उस के लिए यह संसार कुछ भी नहीं है और वह मद के कारण मतवाला होकर डोलता फिरता है। इस की मादकता का प्रभाव वही जानता है जो इसे पीता है और पीकर तृप्त होना नहीं जानता बल्कि पीते पीते निद्रा में मग्न हो जाता है। जिसे एक बार भी इस की प्राप्ति हो गई वह इस के बिना रह ही नहीं सकता और सदा इस के लिए अधीर हुआ फिरता है। अपनी सारी संपत्ति को तिलांजलि देकर मानो वह मन मे ठान लेता है कि चाहे सब कुछ चला जाय किंतु मैं इस रस का आस्वादन नहीं छोड़ सकता। अतएव रात दिन वह इसी रस मे अपने को भिगोये रहा करता है और अपने लाभ अथवा हानि की ओर कुछ भी ध्यान नहीं देता। प्रेमी अपने को, एक प्रकार से एक दम खोकर, अपना अस्तित्व ही नष्ट कर देता है जिसे स्पष्ट करते हुए जायसी ने राजा रतनसेन की अवस्था का चित्र इस प्रकार खींचा है—

बूँद समुद्र जैस होइ मेरा ।
गा हेराइ अस मिलै न हेरा ॥
रंगहि पान मिला जस होई ।
आपहि खोइ रहा होइ सोई ॥[2]

---

[1] 'जायसी-ग्रंथावली,' (का० ना० प्र० स०), पृ० १५४ ।

[2] वही, पृ० १०८ ।

अर्थात् जिस प्रकार बूंद का समुद्र में मिलन हो जाय और वह ढूंढने पर भी न मिल सके अथवा जिस प्रकार पान का पत्ता रंगों में मिल कर अपना अस्तित्व खो बैठे उसी भाँति राजा ने अपने को खोकर प्रेम में मिला दिया और प्रेमी एवं प्रेमपात्र मानो दो से एक हो गए। प्रेम के प्रभाव का इस से उत्कृष्ट उदाहरण और क्या हो सकता है ?

[२]

जायसी के अनुसार, इस प्रकार, प्रेम एक नित्य, सुंदर, एक-रस एवं एकांतिक आनंदप्रदायक पदार्थ है जिस के उपलक्ष में प्रेमी को भाँति-भाँति के कष्ट झेलने पड़ते हैं और, यदि अवसर आ जाय तो, इस के लिए अपने प्राणों तक की आहुति देना अनिवार्य हो जाता है। प्रेम की मनोवृत्ति इतनी प्रबल है कि वह सदा एक-भाव बनी रहने के लिए प्रेमी को बाध्य किए रहती है, जिस से उस का सारा जीवन ही एकोन्मुख एवं एकनिष्ठ हो जाता है और वह दूसरे किसी काम का नहीं रह जाता है। वह अपने को अपने प्रेमपात्र के हाथ सदा के लिए बेच-सा देता है, जिस कारण उस के छोटे-बड़े सभी काम इस एक ही निमित्त से किए गए जान पड़ते हैं और वह प्रेम से भिन्न किसी दूसरी बात की ओर जा ही नहीं सकता। वह रात दिन प्रेम के नशे में चूर अथवा प्रेम के आनंद में विभोर हुआ रहता है और उसे अपनी सुध तक नहीं रह जाती। प्रेम का प्याला एक बार होठों लगते ही प्रेमी का मानो कायापलट सा हो जाता है और वह यकायक अपनी वर्त्तमान अवस्था का परित्याग कर एक विचित्र जगत में प्रवेश करता है, जहाँ की सारी वस्तुएं उस के मानसिक रंग में ही रंजित होने के कारण, अपने अभीष्ट मनोराज्य का स्थापित करना उस के लिए सुलभ प्रतीत होने लगता है और वह अपने उद्देश्य की पूर्ति के साधन में सहसा आत्म-समर्पण कर बैठता है। अतएव उस के सभी कार्य, श्वास-प्रश्वास अथवा जीवन-मरण तक इसी के हेतु निश्चित हो जाते हैं और इस के प्रभाव द्वारा पूर्णतः अभिभूत होने के कारण वह इस के मार्ग की बाधाओं को एकदम तुच्छ गिनने लगता है।

प्रेम के मनोवृत्ति के अंतर्गत, जायसी के अनुसार, किसी पदार्थ के आत्मसात् करने की अभिलाषा अथवा चाह का होना परमावश्यक है और इस बात को उन्हों ने हीरामन तोता द्वारा पद्मावती का रूप-वर्णन कराकर राजा रतनसेन के हृदय में तथा राजा रतनसेन के प्रेम एवं प्रयत्न की कथा कहला कर पद्मावती के मन में एक दूसरे को देखने के लिए तीव्र उत्कंठा की उत्पत्ति द्वारा स्पष्ट किया है। यह दर्शन की लालसा, उसी प्रकार, राघव चेतन द्वारा पद्मावती की प्रशंसा सुनने के उपरांत बादशाह अलाउद्दीन के हृदय में उत्पन्न हुई चाह के समान नहीं है। क्योंकि जिस वस्तु को अपनाने के लिए राजा रतनसेन उत्सुक होता है वह उस के लिए वास्तव में एक अपनी ही चीज़ है जो दुर्भाग्यवश 'सात समुंदर पार' पड़ गई है और जिस की सूचना उस के लिए, एक बार फिर से स्मरण करा देने का ही काम करती है, उस का कोई नवीन परिचय नहीं देती। परंतु अलाउद्दीन की अभीष्ट वस्तु एक दूसरे राजा की अपनी विवाहिता पत्नी है, जिस का वर्णन सुनकर वह एक प्रकार की कामवासना की तृप्ति के निमित्त यकायक अधीर हो जाता है। अलाउद्दीन की चाह उस की भोगलिप्सा से रंजित होने के कारण वास्तविक प्रेम के महत्व को नहीं पहुँचती, किंतु राजा रतनसेन की अभिलाषा का आधार, कोई रहस्यपूर्ण पूर्व-संबंध होने के कारण, उस की दर्शनोत्कंठा का रूप आरंभ से ही विरह-रंजित सा दीख पड़ता है, जिस के कारण हम राजा रतनसेन के पूर्वानुराग को ही पूर्ण वियोग में परिणत पाते हैं।

उक्त रहस्यपूर्ण पूर्व-संबंध का परिचय जायसी ने स्पष्ट शब्दों में कहीं नहीं किया है, जिस कारण, सच्चे एकनिष्ठ प्रेम के लिए पहले किसी एक निर्दिष्ट भावना का होना परमावश्यक मानकर, उस के अभाव में, राजा रतनसेन का केवल रूपवर्णन सुनते ही विरह के वशीभूत हो जाना अनुपयुक्त एवं नक़ली तक समझा गया है।[१] परंतु, वास्तव में, ऐसा समझना ठीक नहीं जान पड़ता क्योंकि पहले तो जायसी ने अपनी प्रेमगाथा की रचना प्रधानतः भार-

---

[१] 'जायसी-ग्रंथावली', (का० ना० प्र० सभा), भूमिका-भाग, पृ० २८-२९।

तीय पद्धति के ही अनुसार की है और प्रायः सारी सामग्री तक भारतीय भांडार से ही लिया है, जिस कारण उन के मुस्लिमधर्मावलंबी होते हुए भी इस रचना मे हिंदुओं के जन्मांतरवाद की छाया का पड़ना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। दूसरे जिस प्रेमतत्त्व को स्पष्ट करने के लिए उन्हों ने इस रचना का आरंभ किया था वह मूलतः ईश्वरोन्मुख प्रेम है जो कि सारे ब्रह्मांड के मूलाधार जगन्नियंता परमेश्वर के प्रति उद्दिष्ट होने के कारण 'धरम क प्रीति' बनकर सब के हृदय में एक समान ही आविर्भूत हो सकता है और जिस मे, सूफी-संप्रदायवालों के सिद्धांतानुसार, परमात्मा से बिछुड़ी हुई जीवात्मा की विरह-व्यथा का आरंभ से ही वर्त्तमान रहना अनिवार्य-सा है। जायसी ने इन दोनों कारणों के संकेत अपने ग्रंथ 'पद्मावत' में दिए हैं किंतु, उन के उद्देश्यानुसार, प्रधानता दूसरे को ही मिली है। अतएव प्रेमतत्त्वविषयक जायसी की विशिष्ट भावना को ध्यान में रखते हुए उन के कथा-वर्णन के किसी अंश को सहसा अस्वाभाविक बतला देना भ्रम-रहित नहीं कहा जा सकता।

उक्त पूर्व-संबंध की ओर संकेत करते समय जायसी ने राजा रतनसेन के निमित्त पद्मावती का पूर्वनिश्चित संबंध तथा पद्मावती के लिए राजा रतन-सेन का पूर्वनिश्चित संबंध, इन दोनों बातों, के विषय मे उल्लेख किया है। राजा रतनसेन के बचपन में ही उस की सामुद्रिक रेखाओं को देखकर पंडित कह देता है कि—

> रतनसेन यह कुल निरमरा।
> रतनजोति मनि माथे परा॥
> पदुम पदारथ लिखी सो जोरी।
> चाँद सुरुज जस होइ अँजोरी॥[1]

अर्थात् यह रतनसेन अपने कुल को उच्च बनानेवाला है, इस के मस्तक पर एक विशेष ज्योतिस्वरूप चिह्न दिखलाई देता है। इस कारण इस की जोड़ी के लिए पद्मपदार्थ (पद्मावती) निश्चित है और इन दोनों का संयोग सूर्य-चंद्रमा

---

[1] 'जायसी-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० ३२।

के संयोग के समान उजियाला कर देगा इसी प्रकार पद्मावती का 'सपन बिचारू' बतलाती हुई उस की सखी कहती है कि—

पच्छिउं खंड कर राजा कोई।
सो आवा बर तुम्ह कहँ होई॥

. . .

चाँद सुरुज सौं होइ बियाहू।
बारि बिधंसब बेधब राहू॥
जस ऊषा कहँ अनिरुध मिला।
मेटि न जाइ लिखा पुरबिला॥[1]

अर्थात् तुम्हारे स्वप्न का हाल जानकर यह प्रतीत होता है कि पश्चिम देश का कोई राजा आया है, वही तुम्हारा वर होनेवाला है। तभी सूर्य और चंद्रमा का मिलन होगा और सारी विघ्न बाधाएँ नष्ट हो जायँगी। यह संयोग भी उसी प्रकार पूर्वलिखित और अवश्यंभावी है जिस प्रकार प्रसिद्ध ऊषा और अनिरुद्ध का समागम था। यह किसी भी प्रकार मिटाए मिट नहीं सकता। इन बातों से स्पष्ट जान पड़ता है कि कवि, यहां पर राजा रतनसेन एवं पद्मावती के पारस्परिक प्रेम का कारण उन के पूर्व-विधानविहित नियमों अथवा पूर्व-संस्कारों के ही अंतर्गत निर्दिष्ट करने का प्रयत्न कर रहा है।

इसी प्रकार, प्रेमद्वारा अभिभूत राजा रतनसेन के हृदय मे ढाढ़स उत्पन्न कर के, उसे विचलित होने से बचाने के लिए, जो बातें सिंहलद्वीप के देव-मंडप में 'सबद अकूत' अथवा आकाशवाणी द्वारा, कहलाई गई हैं उन से भी पता चल जाता है कि कवि के विरहसंबंधी क्या विचार हैं तथा प्रेम और विरह के वास्तविक रहस्य का उद्घाटन वह किस प्रकार करता है। जैसे—

प्रेमहिं माँह विरह रसरसा।
मैन के घर मधु अमृत बसा॥[2]

---

[1] 'जायसी-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृष्ठ ९२।

[2] वही, पृ० ७६।

अर्थात् जिस प्रकार मोम के घर अथवा मधुकोश में अमृतरूपी मधु संचित रहा करता है उसी प्रकार प्रेम के अंतर्गत विरह भी निवास करता है। विरह को सदा सच्चे प्रेम के भीतर निहित समझना चाहिए, क्योंकि, कवि के अनुसार, वास्तव में विरह ही वह मूल पदार्थ है जिस में अमरत्व का गुण वर्त्तमान है और जिस के लिए प्रेम का आविर्भाव हुआ करता है। दूसरे शब्दों में प्रेम का अस्तित्व यदि है तो वह विरह के ही कारण है क्योंकि वही प्रेम का सार है। अतएव, 'धरम क प्रीति' अर्थात् सच्चे प्रेम की उत्पत्ति के साथ ही विरह का भी जाग्रत होना कोई आश्चर्य की बात नहीं और न, इसी लिए, "रूप वर्णन सुनते ही रतनसेन के प्रेम का जो प्रबल और अदम्य स्वरूप दिखाया गया है"[1] वह अनुपयुक्त ठहराया जा सकता है। कवि का उद्देश्य 'पद्मावत' में राजा रतनसेन अथवा पद्मावती को, वस्तुतः, साहित्यिक नायक अथवा नायिका के रूप में चित्रित करने का नहीं था इस लिए पूर्वानुराग में भी पूर्ण विरह के लक्षणों का अनुभव कर दोषारोपण करना ठीक नहीं।

जायसी ने अपने निर्दिष्ट प्रेममार्ग को इस विरह के ही कारण अत्यंत विकट एवं दुर्गम भी बतलाया है क्योंकि विरह, इन के अनुसार, संसार की सभी कठोर वस्तुओं से भी कठोर एवं क्रूरतापूर्ण है। विरह को वे एक प्रकार की प्रचंड ज्वाला के समान बतलाते हैं और कहते हैं कि—

जग महँ कठिन खड़ग कै धारा।
तेहि तें अधिक विरह कै झारा॥[2]

अर्थात् संसार में सब से कठिन वस्तु तलवार की धार हुआ करती है किंतु विरह की ज्वाला उस से भी कहीं अधिक प्रबल और कष्टदायक सिद्ध होती है। इन दोनों में कोई समानता ही नहीं।

बिरहा कठिन काल कै कला।
विरह न सहै काल बरु भला॥

---

[1] 'जायसी-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० स०), पृष्ठ ३९ (भूमिका भाग)।

[2] वही, पृष्ठ ६९।

काल काढि जिउ लेइ सिधारा
बिरह-काल मारे पर मारा ॥
बिरह आगि पर मेलै आगी ।
बिरह घाव पर घाव बजागी ॥
बिरह बान पर बान पसारा ।
बिरह रोग पर रोग सँचारा ॥
बिरह साल पर साल नवेला ।
बिरह काल पर काल दुहेला ॥[1]

अर्थात् विरह क्रूर काल का ही रूप है तब भी काल का आक्रमण सहा जा सकता है, परंतु विरह नहीं सहा जाता। इस का कारण यह है कि काल तो केवल प्राणों को ही लेकर चला जाता है, किंतु विरह मरे हुए को भी मारने पर उद्यत रहा करता है। यह आग पर अधिक आग डाल देता है, घावों पर घाव पैदा करता है, वाण पर वाणों की बौछार किया करता है, रोग पर नए रोग बढ़ाता है, कसक के अंदर कसक चुभाता रहता है, जिस कारण इस का प्रभाव काल के भी ऊपर काल के आक्रमण के समान है। विरह के बराबर, मनुष्य के लिए, कोई भी वस्तु असह्य नहीं।

परंतु, जायसी के अनुसार, उपरोक्त विरहतत्व की व्यापकता केवल मानवजाति तक ही सीमित नहीं समझी जा सकती। यह विरह ब्रह्माण्ड के अन्य अंशों तक भी अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रहता। यह एक वज्राग्नि है और—

बिरह के आगि सूर जरि काँपा ।
रातिहि दिवस जरै ओहि तापा ॥
खिनहि सरग खिन जाइ पतारा ।
थिर न रहै एहि आगि अपारा ॥[2]

---

[1] 'जायसी-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० ११५ ।

[2] वही, पृ० ८४ ।

अर्थात् विरहाग्नि की ज्वाला के ही प्रभाव में आकर स्वयं सूर्य तक रात दिन जलता और काँपता रहता है। एक क्षण के लिए भी वह स्थिर नहीं रहता बल्कि कभी स्वर्ग और कभी पाताल की ओर उस का आना-जाना लगा रहा करता है। जायसी ने कहीं कहीं प्राकृतिक वस्तुओं को विरही रतनसेन के व्यथित हृदय, नागमती के अश्रुबिंदु अथवा विरहयन्त्रादि के द्वारा भी प्रभावित होना दिखलाया है, जिस कारण किसी किसी ने केवल इतना ही समझा है कि उन का अभिप्राय इस "हृदयहारिणी और व्यापकत्व-विधायिनी पद्धति" द्वारा "बाह्य प्रकृति को मूल आभ्यतर जगत् का प्रतिबिंब सा[1]" दिखाना मात्र था। किंतु ऐसा समझना उचित नहीं जान पड़ता क्योंकि उपरोक्त अवतरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कवि को ब्रह्मांड की वस्तुएं, वास्तव में, अपने मूल-कारण परमात्मा से बिछुड़ी हुई होने के कारण, स्वयं भी विरह-व्यथित सी समझ पड़ रही हैं। जायसी की इस समझ का स्पष्टीकरण गोस्वामी तुलसीदास की निम्नलिखित पंक्तियों से भी किया जा सकता है। जैसे—

> बिछुरे ससि रवि, मन ! नयननि तें पावत दुख बहुतेरो।
> भ्रमत स्रमित निसि दिवस गगन महँ तहँ रिपुराहु बड़ेरो॥
> जद्यपि अति पुनीत सुरसरिता तिहुँ पुर सुजस घनेरो।
> तजे चरन अजहूँ न मिटत नित बहिबो ताहू केरो॥[2]

अर्थात् ऐ मन ! स्वयं चंद्रमा एवं सूर्य तक उन (विराट्-स्वरूप परमात्मा की) आँखों से विमुक्त होने के कारण ही अनेक दुःख झेलते रहते हैं; वे आकाश में घूम-घूम कर रात दिन थकते रहते हैं और अपने प्रबल शत्रु राहु का भय भी उन्हें सदा बना रहता है। इसी प्रकार यद्यपि गंगा नदी अत्यंत पवित्र है और उस का यश भी चारों ओर फैला हुआ है, किंतु उक्त भगवान् के चरणों से अलग हो जाने के ही कारण उस का भी व्यग्र होकर निरंतर बहते रहना आज तक नहीं छूट पाया है।

---

[1] 'जायसी-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० स०) (भूमिका भाग), पृ० ४७।

[2] 'तुलसी-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), खंड २, पृ० ५०९।

[२]

अतएव जायसी-द्वारा निर्दिष्ट प्रेमतत्त्व की विशेषता उस के मूलतः विरहगर्भित होने में ही अत्यक्त होती है और उक्त विरह के महत्त्व को लक्ष्य कर के ही उन्हों ने प्रेम के मार्ग को इतना कठिन और दुस्तर बतलाया है। इस प्रेम का आधार स्वयं परमात्मा एवं सारे ब्रह्माण्ड की एकता में सन्निहित है जिस को भूल जाने के कारण सारी सृष्टि आरंभ से ही पूर्ण विरही की भाँति निरंतर बेचैन बनी डोलती चली आ रही है। मूल-संबंध पर आश्रित रहने के कारण प्रेम इतना उच्च, आकर्षक और चिरस्थायी है और विरह का आदि-स्रोत आदिसृष्टि के मूलविच्छेद में ही वर्तमान रहने के कारण वह इतना व्यापक, महत्वपूर्ण अथवा अनिवार्य सिद्ध होता है। अपनी वास्तविक स्थिति का पता लगते ही मनुष्य को पुरानी बातें स्मरण में आ जाती हैं और वह सोचता है—

हुता जो एकहि संग, हौं तुम काहे बीछुरा ?
अब जिउ उठै तरंग, मुहमद कहा न जाइ किछु ॥[1]

अर्थात् सदा एक ही साथ रहने वालों में किस प्रकार वियोग हो गया जिस से आज हृदय में भाँति-भाँति के भाव पैदा हो रहे हैं और अपनी विचित्र स्थिति का हाल कहते नहीं बनता ! जायसी ने जीवात्मा एवं परमात्मा के आरंभिक विच्छेद अथवा जीवात्मा द्वारा परमात्मा की मूलविस्मृति का कारण किसी काल्पनिक नारद को बतलाया है, जो देखने में इस्लामी मज़हब के ग्रंथों मे वर्णित शैतान के समान जान पड़ता है, किंतु उस के विघ्नोत्पादक ढंगों पर विचार करते हुए, हम उसे हिंदू योगशास्त्रादि ग्रंथों में बतलाए गए, साधकों के मार्ग में आने वाले, विविध अंतरायों का समष्टिरूप ही कह सकते हैं।

जायसी-द्वारा निश्चित सिद्धांतों के अनुसार, इसी कारण, प्रेम मार्ग की वास्तविक सफलता का रहस्य आत्मदर्शन अथवा अपने आप की पहचान के

---

[1] 'जायसी-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० ३३६ ।

भीतर छिपा हुआ है, जिस के लिए प्रेमी को अपने अंतर्जगत के साधने की आवश्यकता हुआ करती है। अतएव जायसी के प्रेमतत्व में मानसिक पक्ष प्रधान है और शारीरिक गौण है, तथा इसी कारण, कथावस्तु का निर्वाह करते समय भी कवि ने नायक के लोककर्तव्य से अधिक उस के ऐकांतिक शुद्ध आदर्श की ही ओर ध्यान देना उचित समझा है। जायसी का 'पद्मावत' एक प्रकार का द्व्यर्थक काव्य है जिस में राजा रतनसेन और पद्मावती की प्रेम-कथा के वर्णन-द्वारा कवि ने अपने प्रेमतत्व के सिद्धांत को समझाने का प्रयत्न किया है और इस बात का उन्हों ने उक्त ग्रंथ के उपसंहार भाग मे स्पष्ट-रूप से उल्लेख भी कर दिया है[1], किंतु ध्यानपूर्वक देखने से पता चल जाता है कि अपने उच्च आदर्शों की ओर ही विशेष-रूप से उन्मुख रहने के कारण, वे बहुत कुछ घटाने-बढ़ाने पर भी, प्रेम-कहानी को उचित ढंग से निबाहने मे भलीभाँति कृतकार्य नहीं हो सके हैं। प्रेम-कहानी में आए हुए ऐतिहासिक अंश तथा कवि के मनोगत सांप्रदायिक भावों ने भी इस की सफलता मे, कदाचित्, बहुत कुछ बाधा पहुँचाई है। प्रथम के कारण, उद्देश्यानुसार जोड़ी गई नवीन बातों का बेमेल होना खटकता है तो द्वितीय के कारण, भावावेश मे आकर कविद्वारा वर्णित योग-संबंधी बातों का यथास्थल प्रकट होता रहना अरुचिकर प्रतीत होने लगता है।

'पद्मावत' ग्रंथ मे, अपनी प्रियतमा पद्मावती से भेंट करने के उद्देश्य से, विकट सिंहलगढ़ पर विजय प्राप्त करने के इच्छुक, राजा रतनसेन को महादेव ने जो जो उपाय बतलाए हैं वे ठीक ठीक वही हैं जिन्हें एक योगी अपने शिष्य को समझाने के लिए रूपक का साधारण रंग देकर, बतला सकता था। वास्तव में कवि ने इसी स्थल पर आत्मदर्शनाभिलाषियों के लिए आत्मसाधन का उपदेश भी दे दिया है जो इसीलिए उन के प्रेमतत्व-साधना-संबंधी सिद्धांतों का सार-स्वरूप है। महादेव ने राजा रतनसेन से इस प्रकार कहा है—

---

[1] 'जायसी-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृष्ठ ३३२।

गढ़ तस बाँक जैसि तोरि काया ।
पुरुष देखु ओही कै छाया ॥
पाइय नाहिं जूझ हठि कीन्हे ।
जेइ पावा तेइ आपुहिं चीन्हे ॥
नौ पौरी तेहि गढ़ मझियारा ।
औ तहँ फिरहिं पाँच कोटवारा ॥
दसवँ दुवार गुपुत एक ताका ।
अगम चढ़ाव बाट सुठि बाँका ॥
भेदै जाइ कोइ ओह घाटी ।
जो लह भेद चढ़ै होइ चाँटी ॥
गढ़ तर कुंड सुरँग तेहि माहाँ ।
तहँ वह पंथ कहौं तेहि पाहाँ ॥
चोर बैठ जस सेंधि सँवारी ।
जुआ पैंत जस लाव जुआरी ॥
जस मरजिया समुद्र धँस, हाथ आव तब सीप ।
ढूँढ़ि लेइ जो सरग-दुआरी, चढ़ै सो सिंघलदीप ॥
दसवँ दुवार ताल कै लेखा ।
उलटि दिस्टि जो लाव सो देखा ॥
जाइ सो तहाँ साँस मन बंधी ।
जस धँसि लीन्ह कान्ह कालिंदी ॥
तू मन नाथु मारि कै साँसा ।
जो पै मरहि आपु करि नासा ॥
परगट लोकचार कहु बाता ।
गुपुत लाउ मन जासौं राता ॥
हौं हौं कहत सबै मति खोई ।
जौं तू नाहिं आहि सब कोई ॥
जियतहि जुरै मरै एक बारा ।

पुनि का मीचु को मारै पारा ?
आपुहि गुरु सो आपहि चला।
आपुहि सब औ आपु अकेला॥

आपुहि मीच जियन पुनि, आपुहि तन मन सोइ।
आपुहि आपु करै जो चाहै, कहाँ सो दूसर कोइ॥[1]

अर्थात् हे राजा रतनसेन, यह सिंहलगढ़ उसी प्रकार दुर्गम है जिस प्रकार तुम्हारा शरीर है और यदि सच पूछो तो, यह उसी की एक छाया-मात्र है। अतएव केवल हठ-पूर्वक युद्ध करने से ही इस पर विजय नहीं मिल सकती। इसे वही पा सकता है जिसे अपने आपकी पहचान हो जाय। इस गढ़ में नव दर्वाजे हैं जिन पर पाँच दुर्गरक्षकों का सदा पहरा पड़ता रहता है और इस में एक दसवाँ गुप्तद्वार भी है जिस पर चढ़ना अत्यंत कठिन है क्योंकि उस तक जानेवाला रास्ता बहुत ही टेढ़ा-मेढ़ा है। इस मार्ग को पार करने वाला केवल वही हो सकता है जो गढ़ के सारे भेदों का जानकार हो तथा जिसे चीटियों की चाल से चलना भी आता हो। गढ़ के ही नीचे एक कुंड से होकर उस द्वार तक एक सुरंग लगी हुई है; वही रास्ता है। इस लिए, चोर जिस प्रकार सेंध ठीक कर के अंदर घुसा करता है, जुआ खेलनेवाला दाँव लगाकर बाजी मारता है और समुद्र में डूबकर 'मरजिया' सीप निकालता है, उसी प्रकार जो उक्त स्वर्गद्वार का पता पा लेगा वही सिंहलगढ़ पर चढ़ सकेगा। दशम द्वार, वास्तव में, ताड़ के समान ऊचाई पर है इस लिए उलटी दृष्टि लगाने वाले ही उसे देख भी सकते हैं। वहाँ पर पहुँचनेवाला अपने मन एवं प्राणों को वश में करने पर ही जा सकता है। जिस प्रकार कृष्ण ने जमुना में कूदकर नाग नाथ लिया था उसी प्रकार तुम भी अपने प्राणों को रोक कर मन को जीत लो और अपने आप को सिद्ध कर लो। प्रकट में तो लोकाचार की बातें करते जाओ, किंतु गुप्तरूप से अपनी प्रियतमा पर सदा ध्यान लगाए रहा करो। "मैं मैं" कहते

[1] 'जायसी-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० १०० ।

कहते तुम ने अपनी सारी बुद्धि खा दी है इस लिए तुम्हारे ममत्व छोडने पर ही सब कुछ हो सकेगा जीते नी जुट कर एक बार यदि अहकार का नष्ट कर दोगे तो फिर मृत्यु अथवा मारने वाले की आवश्यकता ही न रह जायगी। तुम स्वयं गुरु और स्वय शिष्य भी हो, स्वयं तुम अकेले सब कुछ हो। मृत्यु जीवन, शरीर अथवा मन सब तुम्हारे ही अंतर्गत हैं। अपने आप को जान लेने वाले के लिए कोई वस्तु बाहरी नहीं।

कहना न होगा कि उपरोक्त अवतरण में आत्मदर्शन के उद्देश्य से की जाने वाली योगसाधना का उपदेश स्पष्ट दीख पड़ रहा है। कहने को तो जायसी यहां पर सिंहलगढ़ की दुर्जयता एवं उस पर विजय प्राप्त करने के लिए साधनों का उल्लेख करते जा रहे हैं, किंतु वास्तविक उद्देश्य कुछ और ही रहने के कारण इन के वर्णन में वह स्वाभाविकता नहीं दीखती और इन के सिद्धांतों का ज्ञान रखनेवाले को शीघ्र पता चल जाता है कि 'आपुहि चीन्हे' से यहाँ कवि का अभिप्राय आत्मज्ञान से, 'नौ पौरी' द्वारा नव ज्ञानेंद्रियों से, 'पाँच कोटवारा' द्वारा काम, क्रोध, लोभ, मद व मोह से, 'दसवँ दुवार' द्वारा ब्रह्मरंध्र से, 'कुंड' द्वारा कुंडलिनी से, 'सुरंग' द्वारा सुषुम्ना नाड़ी से, 'साँस मन बँधो' द्वारा प्राणायाम और मनो निग्रह से, "हौ हौं" कहत द्वारा अहंकार से तथा 'जियतहि जुरै मरै एक वारा' द्वारा जीवन्मुक्ति प्राप्त करने से है। इसी प्रकार 'चढ़ै होइ चाँटो' से यहाँ तात्पर्य साधकों के पिपीलिका-मार्ग से जान पड़ता है तथा यह भी विदित हो जाता है कि कवि ने कुंड को 'गढ़तर' कह कर कुंडलिनी की स्थिति मूलाधार के निकट बतलायी है 'दसँव दुवार' को 'ताल कै लेखा' कह कर ब्रह्मरंध्र के स्थान का संकेत मानव शरीर के सर्वोच्च प्रदेश अर्थात् शिरोभाग के भी ऊपर किया है तथा 'आपुहि गुरु सो आपुहि चेला' इत्यादि से लेकर 'कहाँ सो दूसर होइ' तक के उस के कथन का उद्देश्य 'एकमेकाद्वितीय ब्रह्म' एवं 'अहंब्रह्मास्मि' अथवा 'तत्त्वमसि' का प्रतिपादन मात्र है। वास्तव में 'पद्मावत' की प्रेम-कहानी और प्रेमतत्त्व का रहस्य ही कुछ ऐसा है। जायसी ने 'अखरावट' में कहा भी है—

कहा मुहम्मद प्रेम-कहानी ।
सुनि सो ज्ञानी भये धियानी ॥[1]

अर्थात् जायसी द्वारा कथित प्रेम-कहानी को सुन कर तत्वज्ञानी लोग योगी हो जाते हैं ।

---

[1] 'जायसी-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० ३६६ ।

धर्मतत्व पर आर्ष विचार

[लेखक—रावराजा पंडित श्यामबिहारी मिश्र
तथा रायबहादुर पंडित शुकदेवबिहारी मिश्र]

विषयारंभ

धर्म के विषय पर कोई कथन करना प्रायः मतभेद से खाली नहीं होता। हमारी इच्छा आज यह है कि धार्मिक तत्व पर हमारे ऋषियो ने कैसे कैसे विचार उपस्थित कर रक्खे हैं, इस बात का कुछ संकेत पाठकों के लाभार्थ किया जावे। धर्म का मूल सांसारिक प्रेम पर आधारित है। धर्मी मनुष्य को स्वार्थ से कुछ दूर रहना चाहिए, तथा परोपकार की ओर साधारण पुरुषों से कुछ अधिक अग्रसर होना उचित है। यही आशय धार्मिक पुरुष अपने विषय मे प्रायः समझते हैं तथा अन्य लोग भी उन से ऐसी आशा रखते हैं। फिर भी देखा गया है कि धर्म के कारण ससार में प्रायः मार-काट होती आई है, और धार्मिक विचारो से ही प्रभावित हो कर सैकड़ों लोगों ने इतरों पर अत्याचार किए हैं। ये बातें अब तक नहीं रुकी हैं। समझा जाता है कि धार्मिक झगड़े धर्मतत्व-अज्ञानजन्य हैं। इसी लिए इस विषय पर प्राचीन ऋषियो के विचार प्रकट करना उचित समझ पड़ता है। लोग धार्मिक विचार कई आधारों पर दृढ़ करते हैं। ईश्वरीय पुस्तकों, आर्ष कथन, गुरुओं, विद्वानों, पैग़म्बरों, वृद्धों, शिष्टों, ज्ञानियों, संतों, फ़क़ीरों आदि के कथनों या विचारों पर संसार मे धार्मिक आदेश निश्चित किए गए हैं। संसार में बहुत अधिक सख्या मे लोग इसी प्रकार अपने धार्मिक विचार स्थिर करते हैं। उन विचारों की दृढ़ता कभी कभी इस आधिक्य को पहुँचती है कि लोग अपने माने हुए सिद्धांतों से विपरीत मत-वादियों पर प्रहार तक करते आए हैं। हम समझते हैं कि जब अमुक सिद्धांत दृढ़ता-पूर्वक वेद, उपनिषत्, त्रिपिटक, पुराण, बाइबुल, ज़ेंदावस्ता,

तौरीत, कुरान आदि में लिखित है, तब उस में संदेह किया ही कैसे जा सकता है? यदि इन पुनीत ग्रंथों में एक दूसरे से विपरीत सिद्धांत भी अंकित न होते, तो संसार बहुत बड़े झगड़ों से बच गया होता। फिर भी इन में विपरीत सिद्धांतों के कारण झगड़ा पड़ ही जाता है, और जो लोग अपनी बुद्धि से काम लेने की धर्म में आवश्यकता नहीं समझते, उन्हें भी विवश हो कर बुद्धि का सहारा लेना ही पड़ता है। हमारे भारत में वेद, उपनिषत्, त्रिपिटक, पुराण आदि के द्वारा समय समय पर विविध धार्मिक सिद्धांत सिखलाए गए हैं, तथा पश्चिमीय एशिया में उपरोक्त अन्य पुस्तकों द्वारा समय समय पर धार्मिक शिक्षा दी गई है। चीन में कानफ्यूशियस तथा बौद्ध सिद्धांत काम करते आए हैं, तथा जापान में अब तो बौद्धमत बहुत अधिक चलता है, किंतु पहले शिंतोमत का मान था जिस के अनुसार सदसद्विवेकिनी बुद्धि के ही द्वारा धार्मिक आचरण स्थिर होता था। ग्रंथों, गुरुओं, ऋषियों आदि के कथनों में एक तो अनुगामी की बुद्धि की अवहेलना है, क्योंकि उसे अपना विचार न कर के इतरों के सहारे चलना होता है, दूसरे मत-पार्थक्य से विविध सिद्धांतों की सत्यता में संदेह उठने लगता है। हम तो अवश्य समझते हैं कि जब कोई सिद्धांत स्वयं वेद भगवान या उपनिषदों मे प्रतिपादित है, तब उस में संदेह कैसा, किंतु उधर अन्य मतों के सद्धर्मी एवं पूर्ण-विश्वासी महाशयगण अपने अपने पूज्य सिद्धांत सामने लाते हैं, जिन की प्रतिकूलताओं से टंटे उठ खड़े होते हैं।

इन सब कारणों से आधारों को छोड़कर अपने विचारों का सहारा लेना पड़ता है। सब से पहिले सदसद्विवेकिनी शक्ति सामने आती है। प्रत्येक सज्जन स्वभावतः भलाई बुराई का भेद जान सकता है। कई साधारण बातों में तो यह बात चल जाती है, किंतु बहुतेरी ऐसी बातें आ उपस्थित होती हैं, जिन मे फिर टंटा उठ खड़ा होता है। हमारा स्वभावज विवेक गोभक्षण के प्रश्न पर बहुत ही उत्कृष्ट तिरस्कार करता है। इसी प्रकार मुसलमानी विवेक शूकरमांस-भक्षण का नाम लेते ही अपमानित हो जाता है, किंतु इतर लोगों का विवेक इन साधारण बातों के प्रतिकूल कोई संदेह नहीं उपस्थित करता। ऐसी ही ऐसी

अन्य अनेकानेक स्थितियाँ हैं, जिन में विविध सच्चे धार्मिकों का सहज विवेक खोता रहा जाता है। इन कारणों से प्रकट होता है कि जिसे सहज विवेक समझते हैं, वह भी वास्तव में इतरों के विचारों से प्रभावित होने से धर्म की ऐसी अचूक साक्षी नहीं उपस्थित कर पाता जो सर्वमान्य हो।

तर्क और विश्वास

अब आगे बढ़ने से हम अपनी तर्क-शक्ति के सहारे से धार्मिक सिद्धांत खोजने पर विवश होते हैं। बहुतों का विचार है कि बिना विश्वास का कुछ अंश लिए धर्म स्थापित नहीं हो सकता। हमारा यह कहना है कि धर्मतत्व पर केवल विचारशक्ति से काम लेना चाहिए, किंतु संसार के सामने मानवशक्ति पंगु है ही, सो जहाँ अपनी अशक्तता आ जावे, वहाँ से आगे बढ़ने में बुद्धि-द्वारा स्थिर किए हुए सिद्धांतों ने जैसा मार्ग दिखलाया हो, उस के थोड़ा आगे भी मनुष्य तर्काश्रित विश्वास के सहारे जा सकता है। फिर भी उस में इतनी दृढ़ता नहीं आ सकती कि उस के विपरीत निश्चयवाले मनुष्य को हम मूर्ख, अधर्मी या दुष्ट कहें। विश्वास के लिए यही सहज सीमा है कि उस से कोई मनुष्य भले ही लाभ उठावे, किंतु उस के सहारे दूसरे पर अत्याचार करना अनुचित है। फिर भी संसार में ऐसे अत्याचार बहुत होते आए हैं। हिंदू मुसलमानों के झगड़ों का मूल कारण यही है कि वे लोग हम को मुशरिक (ईश्वर का साझीदार माननेवाले) तथा बुतपरस्त (प्रतिमा-पूजक) मान कर निंद्य समझते हैं, यद्यपि वास्तव में हम मुशरिक हैं भी नहीं। इसी प्रकार हमारे 'छांदोग्य' तथा 'बृहदारण्यक' उपनिषदों में एकाध स्थान पर मतभेद अथवा अज्ञान के कारण शिर गिरने के वर्णन आए हैं। गोस्वामी तुलसीदास भी कहते हैं—

> सन्त शंभु श्रीपति अपवादा।
> सुनिय जहाँ तहँ असि मरजादा॥
> काटिय तासु जीह जु बसाई।
> श्रवण मूँदि नतु चलिय पराई॥

अपने विश्वासों के कारण किसी की जिह्वा काट लेने का विचार करना प्रकट ही अनुचित है किंतु धार्मिक विश्वास की अनुचित दृढ़ता से राह भूल कर स्वयं गोस्वामीजी ने ऐसा कथन कर डाला। याज्ञवल्क्य ने भी अज्ञान का दंड एक बार शिर कटवाने से दिया था। आजकल बीसवी शताब्दी की सभ्यता इतनी बढ़ चुकी है कि अब ऐसे प्राचीन कर्मों का कथन ही एक प्रकार से उन प्राचीनों का अपमान करना समझा जा सकता है। यहाँ इन बातों का कथन उदाहरणार्थ हुआ है। प्रयोजन केवल इतना है कि विश्वासों के अधिकारों की अनुचित वृद्धि पापपूर्ण है। फिर भी सब से अच्छी बात यह समझ पड़ती है, कि इस विषय पर विश्वासों के मूलाधार के कथन हो जावें, जिसमें कि विश्वासियों को स्वयं उन की सीमाओं का अनुचित विस्तार पसन्द न आवे।

ईश्वरवाद

धार्मिक विश्वासों में सबसे अधिक विवादग्रस्त विषय परमात्मा, जीवात्मा, प्रकृति आदि के संबंध में है। अवतारों, पैग़म्बरों, गुरुओं आदि के विषय में भी ऐसे ही झगड़े उठा करते हैं। अब हम इन्हीं विषयों पर तर्कपूर्ण ऐतिहासिक आर्ष विचार पाठकों के सामने रखते हैं। सब से पहले ईश्वर का विषय उठाया जाता है। इस पर 'न्यायकुसुमांजलि' का निम्न कथन सूत्र-रूप में कहा जाता है—

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात्प्रत्ययतः श्रुतेः।

इस सूत्र से परमात्मा-संबंधी तीन प्रमाणों का संकेत है। अर्थात्

कार्य

आयोजनधृत्यादेः

पदात्प्रत्ययः

पहला तर्क कार्यवाद है, अर्थात् जब कोई कार्य बिना कारण के नहीं हो सकता और संसार भी एक महत्कार्य है, तब इस का भी कारण होना चाहिए। वही कारण परमात्मा है। इस में यह झमेला बैठता है कि यदि परमात्मा को भी कार्य मानें तो उस का कारण क्या है? 'बृहदारण्यकोपनिषत्' में जब याज्ञवल्क्य ने परमात्मा को अंतिम कारण कहा और गार्गी देवी ने उस का भी

कारण पूछा, तब ऋषिवर कुछ अप्रसन्न हो कर बोले कि ऐसा प्रश्न करते जाने से तुम्हारा शिर गिर जावेगा, क्योंकि परमेश्वर तर्कसिद्ध नहीं है, वरन् शास्त्रों से जाना जाता है। इस प्रकार ऋषिवर ने परमेश्वर का विषय विश्वासमात्र पर रक्खा, और उसे तर्काश्रित न माना। 'कठोपनिषत्' में भी यमाचार्य ने इस विषय में तर्क की गति न मानी, किंतु तो भी इसे केवल विश्वास पर अवलंबित न करके शिष्टों के विचारगम्य बतलाया। उन्हों ने यह भी कहा कि प्राचीन विचारों पर (जिन में कार्यवाद भी था) लोग बहुत काल से संदेह प्रकट करते आए हैं। इस प्रकार कार्यवाद हमारे यहाँ 'बृहदारण्यकोपनिषत्' से ही अशक्त हो गया, और 'कठोपनिषत्' में साफ़-साफ़ संदिग्ध कहा गया।

आयोजनधृतिवाद

आयोजन तथा धृति आदि का वाद अब तक चल रहा है। पंडितों का विचार है कि यदि यह माना जावे कि ईश्वर ने किसी समय संसार बनाया, तो उसके चित्त में इच्छा का अस्तित्व मानना पड़ेगा, जो एक दरिद्रता-गर्भित विचार है, क्योंकि इच्छा उसी वस्तु की करनी होती है जिस की अपने को आवश्यकता अर्थात् कमी हो। बिना कमी के केवल इच्छा का अस्तित्व एक नितांत अनावश्यक मामला होगा, मानों कोई चौंक-सा पड़ा हो। ईश्वर में इच्छा स्थापित नहीं की जा सकती। उधर बिना इच्छा के किसी समय में संसार का बनाया जाना असंभव हो जाता है। 'बृहदारण्यकोपनिषत्' में इस विषय पर ऐसा कथन है, जो तर्कहीन हो गया है। 'छांदोग्योपनिषत्' में ईश्वरीय तप द्वारा संसारोत्पादन का कथन है। कुछ टीकाकार तप से हरकत, स्फुरण या संचरण का भाव निकालते हैं। यदि यह सचरण किसी एक समय में प्रारंभ हुआ माना जावे, तो इसके प्रतिकूल भी उपरोक्त तर्क का आरोप हो जाता है, किंतु यदि इसे आदि-रहित मानें, अर्थात् ऐसा समझें कि प्रकृति सदैव थी और उस में संचरण-शक्ति सदैव थी, तो कोई दोष नहीं आता।

परमाणु

संसार में हम दो प्रकार की प्रकृति देखते हैं, एक जड़ और दूसरी चैतन्य। 'गीता' (१३,१९) में आया भी है कि

प्रकृतिं पुरुषंचैव विद्ध्यनादी उभावपि

अर्थात् सजीव तथा निर्जीव दोनों प्रकार की प्रकृति अनादि है। जड़ शक्ति हमारे सामने तीन प्रकार से आती है। कुछ वस्तुएँ वायु के समान उड़ने वाली हैं, कुछ जल के समान सामने बहनेवाली और अन्य ठोस। उड़नेवाली वस्तुएँ हमें स्पर्शशक्ति द्वारा ज्ञात होती है, और द्रव पदार्थ देख भी पड़ते हैं। इन दोनों का कोई रूप नहीं है। वायु तो रूप से नितांत पृथक् है, और द्रव पदार्थ जिस बर्तन में भरे हों, उसी के अनुसार देख पड़ते हैं। ठोस वस्तुएँ रूपाश्रित हैं। हमारा जो कुछ ज्ञान है वह पंचेंद्रिय द्वारा प्राप्त होता है। हमने बहुत से ऐसे यंत्र बना रक्खे हैं जिन के द्वारा पंचेंद्रिय की शक्तियाँ बढ़ जाती हैं, किंतु इस प्रकार प्राप्त ज्ञान भी है अंत में पंचेंद्रिय-जन्य ही। इन तीन प्रकार की वस्तुओं के अतिरिक्त चौथा ईथर भी तर्क द्वारा वैज्ञानिकों ने माना है। संभवतः यही हम लोगों का आकाशतत्व हो। यह माना गया है कि ज्योति, बिजली आदि इसी के द्वारा चलती हैं। ठोस वस्तुओं का भी कोई एक रूप नहीं होता, वरन् एक समय वे हम को एक ही एक रूप में देख पड़ती है। सोना चाहे जिस अलंकार, मुद्रा आदि के रूप में हो, है अंत में सोना ही। उस का एक रूप हम नहीं दृढ़ कर सकते। उस का सोनापन रूपाश्रित न होकर गुणाश्रित है, अर्थात् उस में कुछ ऐसे गुण हैं, जिन के कारण हम उसे सोना कहते हैं। यदि सोने के किसी भाग को तोड़ते चले जावें, तो अंत में एक ऐसा छोटा भाग पावेंगे, जिस के खंड नहीं हो सकते। इसी सूक्ष्मतम भाग को परमाणु कहते हैं। अपने यहाँ पंचतत्वों का कथन था, किंतु विज्ञान ने अब प्रायः सत्तर तत्व निकाले हैं, और समय के साथ तत्व समझे जाने वाले कुछ पदार्थ अन्य तत्वों के मिश्रण भी कभी-कभी ज्ञात होने लगते हैं। संसार में जितने जड़ पदार्थ हैं, वे सब इन्हीं तत्वों से उत्पन्न हे। कुछ वस्तुएँ तत्व हैं और कुछ मिश्र।

घटक

इसी प्रकार जब हम छोटे से छोटा चैतन्य शरीर ढूँढने लगते हैं, तब अंत में घटक पर पहुँचते हैं। विज्ञान कहता है कि संसार का प्रत्येक

चैतन्य शरीर या तो घटक है या उस का समूह। उंगली के एक छोटे से खंड में भी लाखों घटक होते हैं। इसी प्रकार घास की एक दूब मे घटकों का हाल है। घास-पात से लेकर मनुष्य-पर्यंत जीवित शरीरों की एक धारा है जो घटकों से बनती है। जड़ पदार्थों के लिए जो परमाणु है, वही जीवितों के लिए घटक[1] है। विज्ञान यह बतला सकता है कि घटक में कौन-कौन से तत्व हैं, किंतु उन तत्वों से वह घटक बना नहीं सकता। निर्जीव तथा सजीव पदार्थों मे यही भेद है। निर्जीव पदार्थ विज्ञान के वश में बहुत कुछ है, किंतु सजीव की उत्पत्ति सजीव शरीर ही से हो सकती है। निर्जीव पदार्थ तथा विज्ञान जीवित शरीर का हनन कर सकते हैं, तथा उसे जीवन-वृद्धि में सहायता पहुँचा सकते हैं, किंतु विना सजीव की सहायता के उन को उत्पन्न नही कर सकते। निर्जीवता और सजीवता के इस गढ़े को विज्ञान अभी पार नहीं कर सका है। कुछ वैज्ञानिकों का विचार है कि किसी प्रकार के संपीड़नों से निर्जीव वस्तु सजीव हो जाती होगी। इस कथन में कोई निश्चय नही है। अतएव हम अब तक यही देखते हैं कि प्रकृति मे हमें परमाणु और घटक-मूलक निर्जीव और सजीव पदार्थों के दो समूह देख पड़ते हैं, जिन के एक दूसरे पर विविध प्रभाव पड़ते हैं, और जिन को एक दूसरा उत्पन्न नहीं कर सकता।

अज्ञेयवाद

अब यह प्रश्न उठता है कि ये दोनों परमाणु और घटक क्या हैं? इन दोनों का कोई एक रूप नहीं है, किंतु प्रत्येक परमाणु तथा घटक अनेक गुणों से युक्त है। किसी परमाणु या निर्जीव वस्तु का रूप, रंग, स्वाद, बोझ आदि हम कुछ नहीं जानते। एक दशा में वही वस्तु मीठी लगती है और दूसरी दशा में कड़ुई। बोखार आ जाने से अथवा अन्य दशाओं में स्वाद बदल जाता है। जो वस्तु एक को भाती है, दूसरा उसी से घृणा करता है। हमारी जिह्वा पर किसी वस्तु द्वारा जो रासायनिक प्रभाव पड़ता है, उसी को हम

[1] Cell.

स्वाद कहते हैं जिह्वा की विविध दशाओं में यह क्रिया बदलती रहती है अतएव स्वाद किसी वस्तु में नहीं है, वरन् उस के परमाणुओं का विविध जिह्वाओं पर जैसा रासायनिक प्रभाव पड़ता है, वैसा ही स्वाद उन जिह्वाओं द्वारा समझ पड़ता है। विविध जीवधारियों की जिह्वाओं की जैसी दशा होगी, वैसे ही विविध स्वाद उन्हें एक ही वस्तु के ज्ञात होंगे। तोल, समुद्रतट पर एक होगी, समुद्र के पेंदे पर दूसरी और पहाड़ पर तीसरी। फिर पहाड़ों की विविध ऊँचाइयों पर भी एक ही वस्तु की तोल विविध होगी। अतएव तोल उस वस्तु में नहीं है, वरन्, विविध दशाओं में गुरुत्वाकर्षण शक्ति पर वह वस्तु जैसा प्रभाव डालती है, वैसी ही तोल हम उस में समझते हैं। विविध प्रकार की ज्योतियों में एक ही वस्तु में अनेक रंग देख पड़ेंगे। इसी प्रकार विविध दूरियों पर एक ही वस्तु के अनेक रूप समझ पड़ेंगे। कोई लेखनी आधी पानी में डुबो देने से उसी स्थान से वह मुड़ी हुई समझ पड़ेगी। इन कारणों से दार्शनिकों ने वस्तुओं के विषय में अज्ञेयवाद का सिद्धांत चलाया है, अर्थात् किसी वस्तु को हम जान नहीं सकते, वरन् हमारा ज्ञान उस की विविध दशाओं में विविध शक्तियों पर सीमित है। प्रयोजन यह है कि हम केवल इतना जान सकते हैं कि अमुक दशाओं में हमें वह अमुकामुक प्रकार की समझ पड़ेगी। निदान निर्जीव प्रकृति को हम शक्ति-समूह के रूप में ही जानते हैं, अन्य प्रकार से नहीं। प्रत्येक वस्तु में कुछ कड़ाई, कुछ तोल, कुछ रूप, कुछ रंग आदि हैं। इन्हीं बातों से हम विविध वस्तुओं को निर्धारित करते हैं। वास्तव में वह क्या है, सो हमारे ज्ञान से बाहर है। हमारा ज्ञान प्रत्येक परमाणु को हमें शक्तिसमूह के रूप में दिखलाता है। वर्तमान वैज्ञानिकों तथा दार्शनिकों के ज्ञान की सीमा अब तक यहीं तक पहुँचती है कि प्रत्येक अणु विविध शक्तियों का केंद्र मात्र है। कुछ लोग इन्हीं को 'इअंस'[1] या 'इलेक्ट्रंस'[2] भी कहते हैं। सजीव प्रकृति भी इन्हीं परमाणुओं से बनी है,

---

[1] Ions.

[2] Electrons.

केवल उस में सजीवता विशेष है। घटक में कुछ परमाणुओं के अतिरिक्त सजीवता भी है जो उसे उन वस्तुओं से पृथक् करती है, जो जीव के अतिरिक्त उस में पाई जाती हैं। सजीवता भी एक शक्ति ही है, सो हम निर्जीव तथा सजीव दोनों प्रकार की प्रकृति को शक्ति-समुदाय के रूप में पाते हैं।

संसारोत्पादन

अब अपने आयोजनधृतिवाद की डोर हम फिर से उठाते हैं। हम ऊपर देख आए हैं कि इच्छा का मानना परमात्मा में अभावात्मक विचार लाकर उस में कमी स्थापित करता है। हम यह भी देखते हैं कि परमाणु और घटक हमारे सामने ऐसे हैं, जिन में गुरुताकर्षण, संसक्ति[1], केशाकर्षण[2], स्पंदन आदि की अनेक शक्तियाँ हैं। इन्ही के संमिश्रण से उन्नति करता हुआ यह संसार बना है। परमाणु पहले से थे और उन के प्रभाव से उन्नति करता हुआ संसार जब जीवधारण के योग्य हुआ, तब घटकों की उत्पत्ति हुई, जिन से इतर सजीव देहधारी बने। 'छांदोग्योपनिषत्' का विचार ऊपर लिखा जा चुका है कि परमात्मा के तप द्वारा यह संसार बना। प्रयोजन यह लिया जा सकता है कि परमाणुओं में जो विविध प्रकार की शक्तियाँ सदा से थीं, उस से जो घटनाएँ नियमानुसार घटीं, उन्हीं के कारण पृथिवी, सूर्य, चंद्र, नक्षत्र आदि असंख्य गोले पहले बने और वे ज्यों-ज्यों ठंडे होते गए और वायु आदि से परिवेष्टित होते गए त्यों त्यों उन में जीवधारियों के रहनेयोग्य स्थान निकलते आए। सूर्य मे अभी इतनी गर्मी है कि वहाँ कोई जीवधारी रह नहीं सकता। शनैश्चर और बृहस्पति की पूरी गर्मी अभी दूर नहीं हुई है। हमारे चंद्रमा मे वायु ही नही है, सो वहाँ न तो जल है और न जीवधारी हैं। वहाँ यदि कान के पास तोप दागी जावे, तो भी उस का शब्द न सुन पड़े,

---

[1] यदि ब्लाटिंग का एक अंश पानी में डुबावें, तो पानी सोखा जाकर ऊपर चढ़ेगा। यह संसक्ति का उदाहरण है।

[2] किसी वस्तु का चूर चूर होकर गिर न जाना वरन् एक रूप में सब अणुओं को साधे हुए रहना केशाकर्षण का उदाहरण है।

क्योंकि शब्द ले जाने वाली वायु वहा है ही नहीं। बिना आक्सीजन के जल नहीं हो सकता, जिस से जीवधारी भी नहीं पनप सकते। मंगल और शुक्र की ऐसी दशा है कि वहाँ जीवधारी रह सकते हैं। मंगल में नहरों तक का होना ख्याल जाता है। प्रयोजन यह है कि परमाणुओं की संचरणशक्ति से ही संसारोत्पत्ति की नींव पड़ी, सो यही शक्ति जगदुत्पत्ति की जननी मानी जा सकती है। परमाणुओं की विविध शक्तियों के क्रम-पूर्वक काम करने से ही समय पर यह संसार तैयार हो सका है। यदि उनमें अक्रम होता, तो इतनी उन्नति असंभव थी। विज्ञान हम को बतलाता है कि यह संसार आज भी उन्नति कर रहा है। अब यह प्रश्न उठता है कि इतने भारी संसार को कौन धारण कर के नियमानुकूल चलाता है?

संसार की महत्ता

पृथ्वी की दो चालें हैं, अर्थात् एक तो वह अपनी कील पर घूमती है और दूसरे सूर्य का चक्कर लगाती है। पृथ्वी की परिधि प्रायः २५,००० मील है। पृथ्वी दिन रात में एक बार अपना यह चक्कर पूरा करती है, सो एक घंटे मे प्रायः १००० मील इस प्रकार चलती है जिस से दिन रात होते हैं। इस चाल मे वह एक मिनट में प्रायः १६३ मील जाती है। पृथ्वी साल में एक बार सूर्य का चक्कर लगाती है, जिस से ऋतुपरिवर्तन होता है। इस चाल मे वह एक सिकंड में कई मील जाती है। हमारे सौर-परिवार में केवल नव ग्रह हैं। उन में सूर्य पृथ्वी से कई हज़ार गुना बड़े हैं, बृहस्पति प्रायः १३०० गुना और शनैश्चर इस से भी अधिक। ये सब सूर्य की प्रदक्षिणा करते हैं। इन सब को लिए हुए सूर्य एक सिकंड में कई सौ मील चलते हुए अरबों-खरबों वर्षों से न जाने कहाँ जा रहे है? इस का किसी को पता ही नहीं है। संभवतः वे भी सपरिवार किसी अन्य सूर्य की प्रदक्षिणा करते हों। हम को जो कुछ कहने-सुनने का ज्ञान है, वह सौर-परिवार ही का। यह परिवार केवल नवग्रहों से ही संबद्ध है। उधर व्योम में लाखों नक्षत्र हैं। वे सब नक्षत्र अपने अपने लोक में सूर्य हैं, और उनके भी हमारे जैसे सौर-परिवार हैं। ये सब आकाश में सुखपूर्वक नियमानुसार विचरण करते हैं और टकरा नहीं जाते। ज्योति एक सिकंड में लाखों

मील चलती है। ऐसे भी नक्षत्र हैं, जिनकी ज्योति हमारी पृथ्वी तक २,००० वर्षों से भी अधिक समय में पहुँचती है। संसार के सब लोकों को देखते हुए सैकड़ां मन अनाज मे पृथ्वी एक मटर के समान है। इधर देखिए, कि पृथ्वी ही पर असंख्य पदार्थ प्रस्तुत हैं जिन के विषय मे हमारी बुद्धि पगु है। एक एक कान, हाथ, नाक, आँख, हृदय आदि में इतनी भारी कारीगरी है कि समझ मे नहीं आती। प्रकृति कभी पुनरुक्ति नही करती। अरबों-खरबों घास के दलो को भी लीजिए तो कोई दो दल पूर्णतया समान नहीं मिलेंगे। इतना बड़ा संसार ऐसे दृढ़ नियमों के साथ अरबों-खरबो सालो से उन्नति करता चला जा रहा है, किंतु कोई गड़बड़ नहीं पड़ता। भूचाल, ज्वालामुखी आदि के जो छोटे-मोटे मामले हमें गड़बड़ समझ पड़ें, वे भी न तो वास्तविक अक्रम हैं, न गड़बड़। इतना भारी क्रम स्थापन न तो आप ही आप हो सकता है न किसी अंध शक्ति के द्वारा। संसार हमारे सामने एक महती सेना के रूप में दिखाई पड़ता है। केवल सेना को नियम-पूर्वक क़वायद करते देख कर ही हम किसी नियंता सेनापति का दृढ़ अनुमान कर सकते हैं, क्योंकि बिना नियंता के नियम नहीं हो सकते। आप से आप अंध-शक्ति के द्वारा इतना भारी कार-बार नहीं चल सकता। इसे धारण करनेवाला तथा नियम पर चलानेवाला कोई नियंता अवश्य है। इसी को धृत्यायोजनवाद[1] कहते है, जो हमारे यहाँ 'कठोपनिषत्' में साफ़ साफ मंत्र नं० ११४ तक कथित है। 'गीता' (१५, १३) मे भी यह तर्क आया है, यथा,

नाभाविश्यच भूतानि धारयाम्यहमोजसा।

अर्थात् मैं पृथ्वी में प्रवेश करके सामर्थ्य से समस्त भूतों को धारण करता हूँ।

परमात्मा की सत्ता का इस से बढ़कर प्रमाण आज तक नहीं दिया गया है।

---

[1]Design.

तीसरा वाद

तीसरा प्रमाण[1] जो हमारे ऋषियों ने दिया है, वह पदात्मत्ययवाद कहा जाता है, अर्थात् यदि हमें थोड़े का अनुभव हो तो उस से पूर्णता का विचार आता है। हमारा सांसारिक अनुभव अपूर्णता का है, सो प्रकट है कि हमारे अपूर्ण अनुभव के आगे कोई पूर्ण नियंता संसार का है। वही परमात्मा कहा गया है। यह एक दार्शनिक विवेचन है, जिस के विषय में पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं। कुछ अधिक कथन की आवश्यकता नहीं है। अनंतता के दो प्रत्यक्ष उदाहरण काल और स्थल हैं।

परमात्मा

ईश्वर या परमेश्वर-सबधी इतने विचार अपने यहाँ भगवान गौतम बुद्ध से पूर्व स्थिर हो चुके थे। परमात्मा की सिद्धि इस प्रकार प्रमाणित करके हमारे ऋषियों ने उस के विषय मे विचार भी किए हैं। सब से पहले हमारे सामने वैदिक विचार आते हैं। वहाँ इंद्रादि ३३ देवताओं से प्रार्थनाएँ पाई जाती हैं, जिन में सांसारिक सुखों की याचना, यज्ञादि के सहारे से की गई है। फिर भी इतना कहा गया है कि इन देवताओं में ईश्वरीय शक्ति से बाहर कोई वैभव नहीं है। वह ईश्वर कैसा है, यह 'ऋग्वेद' में विशेषतया नहीं कथित है, किंतु 'यजुर्वेद' में वह शिव के रूप में कल्याणकर माना गया है। आगे चल कर उपनिषदों में उस का वर्णन अन्वय-वाची कथनों से न होकर व्यतिरेक-वाची विचारों से हुआ है, अर्थात् वह अस्पृश्य, अपरतंत्र, अचल ('बृहदारण्यक'), अकाय, अव्रण, अस्नाविर (नस नाड़ियों के परे) ('ईशोपनिषत्') अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, अनादि, अनंत ('कठोपनिषत्'), अच्छाय (छाया रहित क्योंकि वह स्वयं सब जगह है), अशरीर, अलोहित (रंग-रहित) ('प्रश्नोपनिषत्'), अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण, अचक्षु, अश्रोत्र, अपाणिपाद, अमूर्त, अज, अप्राण, विरज, निष्कल, अमन, अक्षर

---

[1] Ontological

('मुंडकोपनिषत्') आदि है। यहाँ तक ऐसे कथन हुए हैं कि वह क्या या कैसा नहो है। अब यह भी कहा जाता है कि उन ऋषियों ने उसे कैसा बतलाया है। 'छांदोग्य उपनिषत्' का कथन है कि प्रारंभ में ईश्वर केवल एक था। उस ने अग्नि उत्पन्न की जिस से जल हुआ और जल से पृथ्वी बनी। 'श्वेताश्वतरोपनिषत्' में आया है कि जिस समय न दिन था न ज्योति, न सत्ता, न अभाव, बस अन्धकार मात्र था, उस काल केवल शिव विद्यमान था। वह न तो पुरुष है, न स्त्री, न लिंगहीन व्यक्ति। प्रकृति माया है और महेश्वर मायी। यजुर्वेद में शिव ईश्वर एवं कल्याणकर है। परमात्मा है शुद्ध, आँख की आँख, कान का कान, मन का मन आदि ('ईशोपनिषत्'), नित्य, विभु, सर्वगत, सूक्ष्म, भूतयोनि, शुभ्र, रुक्मवर्ण, अचिंत्यरूप, सूक्ष्मात्-सूक्ष्मतर, ज्योतिषांज्योति, तमसः पर, परतः पर ('मुण्डकोपनिषत्'), अयमात्माब्रह्म, चतुष्पात्, सप्तांग, और एकोनविंशतिमुख ('माण्डूक्योपनिषत्')। चार भागों में वैश्वानर, तैजस, प्रज्ञा, तथा शिवमद्वैत का कथन है, सप्तांग में अग्नि घर, चंद्रसूर्य नेत्र, वायु प्राण, वेद वाणी, दिशा श्रोत्र, आकाश नाभि, पृथिवी पाँव, एवं एकोनविंशति मुख में पंच ज्ञानेंद्रिय, पंच कर्मेंद्रिय, पंच प्राण, तथा (अन्तःकरण चतुष्टय) मन बुद्धि चित्त और अहंकार का। प्रकट है कि अभावात्मक वर्णन बहुत श्रेष्ठ तर्कयुक्त है, किंतु समझाने वाले विचारों में मत-भेद असंभव नहीं। अंगों आदि के कथन पूर्णतया तर्कात्मक न होकर कुछ कुछ विश्वासात्मक भी हैं। यहाँ तक निर्गुण ब्रह्म का कथन हुआ है। इस के आगे परमात्मासंबंधी विचार यथास्थान लिखे जावेंगे।

प्रकृति

प्रकृति अर्थात् वस्तु या द्रव्य क्या है, इस के विषय में उपनिषदों में कथन तो आए हैं, किंतु बहुत प्रकट-रूप से यह नहीं कहा गया है कि वह क्या है? छानबीन करने से ऐसे बहुतेरे मंत्र मिल सकते हैं, जिन से द्रव्य शक्ति का केंद्र मात्र है, ऐसे विचार पुष्ट हो सकें। फिर भी बहुत प्रकट-रूप से इस विषय पर कथन अभी तक नहीं देख पड़े हैं। अपने यहाँ 'छांदोग्य उपनिषत्' में

पृथ्वी जल-संभूत मानी गई है। आजकल का विचार यह है कि परमाणुओं के भिड़ने से अग्नि उत्पन्न हुई और धीरे धीरे परमाणुओं के आपस में मिलते मिलते बहुत से गोले बने, जो जलते रहे। सूर्य अब भी इसी दशा में है। बृहस्पति और शनैश्चर भी आधे ही बुझे हैं। पृथ्वी के भीतर अग्नि भरी है। जो गोले बुझते बुझते वायु से परिवेष्टित हो गए, और जल उत्पन्न कर सके, उन में जीवधारियों की उत्पत्ति हुई। पृथ्वी पर ऐसा ही होना सिद्ध समझा जाता है, तथा मंगल में भी जीवधारी हैं, ऐसा दृढ़ अनुमान किया जाता है। जगदुत्पत्ति हमारे शास्त्रों में प्रकट-रूप से इस प्रकार वर्णित हम को अब तक नहीं मिली। संभवतः किन्हीं मंत्रों में निकल आवे। अब तक यही समझ पड़ता है कि द्रव्य शक्ति का केंद्र है, संसार शक्ति-स्वरूप है, और परमात्मा को तो हम जान नहीं सकते, किंतु उस का जितना अस्तित्व अपनी समझ में आता है, वह शक्तिप्रकाशन के ही द्वारा। अतएव यद्यपि ईश्वरीय शक्तियाँ सांसारिक शक्तियों से बहुत बढ़कर हैं, तथापि है ईश्वर भी प्रधानतया शक्ति-स्वरूप। अब यह प्रश्न उठता है कि सांसारिक शक्तियाँ ईश्वरीय शक्तियों के बाहर हैं या अंदर ? इस का प्रकट उत्तर यही मिलता है कि सभी शक्तियाँ ईश्वरीय शक्तियों के अंतर्गत हैं और शक्तिमात्र को धारण किए हुए वह स्थित है। 'केनोपनिषत्' में यह कहा भी गया है कि सामर्थ्य ईश्वर के अतिरिक्त किसी में भी नहीं है। समझ भी यही पड़ता है। सुतराम् हमारे उपनिषदों में द्रव्य और शक्ति की एकता का कथन माना जा सकता है, क्योंकि वे जगदुत्पत्ति ईश्वर से ही मानते हैं और सांसारिक सत्ता उसी पर अवलंबित समझते हैं। द्रव्य का गुण समुदाय होना जैन-ग्रंथों में साफ साफ कथित भी है, क्योंकि "गुण समुदायो द्रव्यं" का कथन उन के शास्त्रों में आता है। यह कोई नया सिद्धांत नहीं है, वरन्, औपनिषत्-ज्ञान से ही उपलब्ध हुआ है। श्रीभगवद्गीता अ० १०, श्लो० २० में इस प्रकार है—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

भूत शब्द में सजीव और निर्जीव सभी वस्तुएँ आ जाती हैं, सो यहाँ भगवान

का सजीव तथा निर्जीव प्रकृति से अभेदत्व कथित है, और यह प्रकट हुआ है कि उन की आत्मा अर्थात् मुख्यांश भगवान ही है।

शरीरवाद

अब जीवात्मा का विचार शेष रहता है। यह प्रश्न है, कि जीवात्मा है या नहीं और यदि है तो उस की सत्ता ईश्वरीय सत्ता के संबंध में कैसी है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अपने यहाँ सब से पुराने शरीरवादी पृथु के पिता राजा वेन थे जो स्वायंभुव मनु के वंशधर थे। स्वायंभुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष और वैवस्वत नामक सात मन्वंतर अपने यहाँ हुए हैं। वेदों के ऋषि चाक्षुष मन्वंतर से चलते हैं। पहले पाँच मन्वंतर वैदिक समय से पूर्व के हैं। उन में भी स्वायंभुव सब से पहला है। उन की २९ पीढ़ियों ने भारत में शासन किया था। उन्हीं में से वेन थे जो प्रथम शरीरवादी कहे गए हैं। उन के विचार लोगों को इतने बुरे लगे कि उन्हीं की प्रजा ने उन का वध कर डाला। वेन से पूर्व केवल ऋषभदेव के संबंध में धार्मिक कथन आते हैं। जैन लोग उन्हें अपना पहला तीर्थंकर समझते हैं। उस काल हिंदूमत स्वयं नहीं बना था सो उस से विरुद्धवादी जैनमत का इतना पुराना होना समझ में कम आता है। उस काल के विचारों के आधार भी अप्राप्त हैं, केवल पौराणिक कथन इतना मिलता है कि ऋषभदेव पहले तो ठीक थे किंतु बुढ़ापे में अनर्गल बकने लगे। इस से उन के किसी विरुद्ध मत प्रकट करने की ध्वनि प्राप्त होती है। पीछे से चाक्षुष मन्वंतर में प्रसिद्ध राजा हिरण्य-कशिपु शरीरवादी हुए। उन के पौत्र विरोचन (प्रह्लाद के पुत्र) शरीरवादी थे, ऐसा 'छांदोग्य उपनिषत्' में लिखा है। हयग्रीव भी वेद-विरोधी शरीरवादी कहे गए हैं। चार्वाक् ने पहले-पहल पूर्ण बल के साथ शरीरवाद कहा और वेद भगवान् की निंदा की। यथा—

> यावज्जीवेत्सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत।
> दह्यमानेषु देहेषु पुनरागमनं कुतः॥

फिर भी चार्वाक् का मत किसी दर्शन-शास्त्र पर अवलंबित न होने, वरन्

कारणहीन कथन मात्र होने से संसार पर कोई कहने योग्य प्रभाव न डाल सका। जीवात्मा के प्रतिकूल कोई विशेष तर्क न हुआ और लोग प्राय उस का अस्तित्व स्वयंसिद्ध-सा मानते रहे। 'छांदोग्य उपनिषत्' में आया है कि विरोचन ने दैत्यों मे शरीरवाद चलाया। उस में यह भी कथन है कि इंद्र तथा विरोचन दोनों ने साथ ही साथ कई वर्ष तपस्या कर के प्रजापति से शरीरवाद की शिक्षा पाई। अनंतर विरोचन तो संतुष्ट होकर चले गए और इस का प्रचार करने लगे, किंतु इंद्र को इस मे संदेह हुआ और उन्हों ने और भी अधिक तप कर के उन्हीं प्रजापति से वास्तविक शिक्षा प्राप्त की, जो शरीर-वाद के प्रतिकूल थी। इसी उपनिषत् में 'तत्त्वमसि' (वह तू है) का वचन आया है। इसकी व्याख्या वहाँ कई भागो मे की गई है, जिस से प्रकट-रूप से दिखलाया गया है कि शरीर का मुख्यांश जीवात्मा है। यह बात कई उदाहरणों द्वारा समझाई गई है। स्वामी शंकराचार्य का मत है कि इस ऋचा से यह भी प्रयोजन निकलता है कि जीवात्मा वास्तव मे परमात्मा से अभिन्न है। किसी किसी का इस अभिन्नतावाले मत से विरोध भी है और ऊपरी विचार से इस विरोध में कुछ सार भी समझ पड़ता है, यद्यपि शंकराचार्य ही का विचार ठीक होगा, ऐसा मानना चाहिए। जीवात्मा इस मंत्र से चाहे परमात्मा से अभिन्न न माना जावे, तो भी इस अभिन्नता मे कोई संदेह नहीं उठ सकता, क्योंकि 'बृहदारण्यक' में यही अभिन्नता बहुत ही प्रकट-रूप से 'अयमस्मि' (यह मैं हूँ) के वचन द्वारा कथित है। अतएव 'तत्त्वमसि' का शंकरवाला अर्थ यदि अग्राह्य हो, तो भी यह अभिन्नता औपनिषत् मत से निकल ही आती है। 'बृहदारण्यक' में महर्षि याज्ञवल्क्य ने कृतनाश और अकृताभ्यागम के तर्कों से जीवात्मा की सत्ता प्रमाणित की है। इस का प्रयोजन यह है कि यदि मृत्यु के पीछे जीवात्मा को किसी रूप में इस जन्म के भले बुरे कर्मों का फल न मिले, तो कृतनाश का दोष लगता है, क्योंकि ऐसी दशा में कर्मों का फलाफल नष्ट हो जावेगा। इसी प्रकार जब इस जन्म में सभी मनुष्यों को बिना किसी इस जन्म वाले प्रयत्न के महत्ता या लघुता के अनेकानेक साधन मिलते हैं, तब यदि इस बात का कोई पौर्वजन्म-भव कारण न सोचें, तो न्यायी परमात्मा

के राज्य में अकृताभ्यास का दोष लगता है, अर्थात् यह सिद्ध होता है कि यहाँ बिना कुछ भला बुरा किए ही व्यक्ति अच्छे अथवा बुरे फल पाता है।

जीवात्मा की सत्ता

जीवात्मा की सत्ता का 'न्यायकुसुमांजलि' में 'संघात् परार्थत्वात्' का और तर्क दिया गया है। प्रयोजन यह है कि प्रत्येक द्रव्यमय संघ अपने ही लिए न होकर किसी दूसरे के लिए होता है। ऐसी दशा में शरीर को जीवात्मा से हीन मानने से वह इस नियम के प्रतिकूल हो जावेगा। जीवात्मा-संबंधी तर्क आगे दिए जावेंगे। अभी हम प्राचीन ऋषियों के विचार मात्र यहाँ लिखते हैं। 'कठोपनिषत्' कहता है कि जीवात्मा न पैदा होता, न मरता है, वरन् अज, नित्य, शाश्वत और पुराण है, जो न मारता न मरता है। शरीर रथ है, आत्मा रथी। विज्ञानवान्, मनस्क तथा शुचि पुरुष वह पद पाता है, जहाँ से फिर उत्पन्न नहीं होता। आत्मा के भीतर नाना (एक से अधिकपन) नहीं है। मोक्ष न होनेवाले जीवात्मा ज्ञान-कर्मानुसार दूसरा शरीर पाते हैं। 'प्रश्नोपनिषत्' का कथन है कि आदित्य प्राण (भोक्ता) है, और चंद्रमा तथा जगत रयि (भोग्य) है। यही दोनों अमूर्त एवं मूर्त है। मूर्त भोग्य है। पुरुष से छाया की भाँति आत्मा से प्राण उत्पन्न होता है। आत्मा प्राण में व्यापक है तथा शरीर में भी। मन के शुभाशुभ कर्म से वह शरीर मे आता है। जैसा चित्त होता है, वैसा शरीर मिलता है। षोडश-कल पुरुष जीवात्मा है। 'मुंडकोपनिषत्' में निम्न मंत्र आया है—

> द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
> तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्य नश्नन्नन्योऽभि चाकशीति॥ (नं० ४४)

अर्थात् जीवात्मा परमात्मा सखा हैं जो कभी पृथक् नहीं होते। वे शरीर रूपी वृक्ष में व्यापक हैं। उन में से एक पिप्पल के फल को खाता है, और दूसरा उस का निरीक्षणमात्र करता है। परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करने वाला अविद्या की गाँठ से छूट कर मोक्ष पा जाता है। 'मांडूक्योपनिषत्' में 'अयमात्मा ब्रह्म' (यह आत्मा ब्रह्म है) का वचन आया है। 'मुंडकोपनिषत्' द्वितीय

खंड के नवें मंत्र में आया है कि बुरे मनुष्य नीच योनियों में गिरते हैं, अर्थात् किसी पशु आदि योनि में उत्पन्न होते हैं।

जीवाणु

इस विषय पर वर्तमान समय ने भी बड़े गंभीर विचार उपस्थित किए हैं। ऊपर कहा गया है कि जीवित प्रकृति का आदिम-रूप घटक है। जैसे मनुष्य में मानसिक तथा दैहिक क्रियाएँ होती हैं, उसी प्रकार छोटे से घटक में भी ये दोनों बातें मूल-रूप में पाई जाती हैं। घटकों का केवल इतना कार्य है कि अनुकूल परिस्थिति में बढ़कर वे एक नया तथा अपने से भिन्न शरीर बना सकते हैं। स्वतंत्र घटक एक जीवधारी है, और मिश्र दूसरे प्रकार का। प्रत्येक घटक एक प्राणी है। बड़े शरीरों के एक-एक अंग में अरबों-खरबों घटक होते हैं। यदि किसी की उँगली या ऐसा ही कोई दूसरा अंग काटकर फेंक दीजिए, तो वह शरीर से पृथक् होकर भी कुछ काल तक उछले कूदेगा, अर्थात् जीवित रहेगा। इन घटकों में हम जीवाणु मान सकते हैं। ये जीवाणु शरीर से पृथक् हो कर भी कुछ काल जीवित रहते हैं, सो मानना पड़ेगा, कि बड़े शरीर में असंख्य जीवाणु रहते हैं। मनुष्य का वीर्य-कीट अनुकूल परिस्थिति में २४ घंटों तक जीवित रह सकता है। ऐसी दशा में उस में भी जीवाणुओं का अस्तित्व मानना पड़ेगा। अतएव प्रकट है कि शरीरों के अवयवों में ही जीव नहीं है, वरन् प्राकृतिक नियमों से उस से बाहर जाने वाले शरीरों में भी जीव है। अब तक हम ने प्रत्येक भारी शरीर में असंख्य-प्राय जीवाणु पाए हैं। हमारे चलने-फिरने, खाने-पीने, खेलने-कूदने, आदि में सहस्रों जीवाणुओं का निधन होता रहता है, तथा भोजन आदि के द्वारा शरीरवृद्धि से ऐसे ही नवीन जीवाणुओं का जन्म होता रहता है। बीमार हो कर जब कोई दुर्बल हो जाता है, तब उस में से असंख्य जीवाणु-गर्भित घटक मर चुकते हैं, तथा उस के फिर हृष्टपुष्ट होते होते असंख्य नवीन जीवाणु-गर्भित घटक उत्पन्न हो चुकते हैं। अतएव यद्यपि मनुष्य एक-सा जीवित रहता है, तथापि हर समय में, हर दशा में, उसके शरीर में जीवन-मरण का बाजार खूब गर्म रहता है।

जीवात्मा

अब यह प्रश्न उठता है कि हमारे शरीरों में असंख्य जीवाणुओं के अतिरिक्त कोई एक जीवात्मा भी है या नहीं? असंख्य जीवाणुओं की उपस्थिति तो विज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाणित करता है, किंतु एक जीवात्मा के संबंध में मौनावलम्बी हो जाता है। मनुष्य अपने एकत्व का सहज ज्ञान रखता है। यह तो हम बहुत समझाने बुझाने से जान पाते हैं कि हमारे शरीर में असंख्य जीवाणु हैं, किंतु एक जीव का ज्ञान हमें सहज है। इस के प्रतिकूल जीवाणुवादियों का यह कथन है कि हमारे लिए ऐसा अनुभव स्वाभाविक है। हमारे सब अवयव एक दूसरे को सहायता देते हुए पूरा एक शरीर बनाते है, जिस से हमे एकत्व का अनुभव स्वाभाविकमात्र है। उन का कहना है कि इस अनुभव मात्र से जीवात्मा का अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता। हमारे जितने कर्म हैं, वे अनेकानेक अवयवों द्वारा मस्तिष्क की आज्ञा से होते रहते हैं। शरीर एक घड़ी के समान है, तथा जीवन उस की चाल है। हमारा जीवन प्रधानतया मस्तिष्क, हृदय, फुफ्फुस, तथा गुर्दों के सहारे पर चल रहा है। इन में से किसी एक के नष्ट होने पर यह चल नहीं सकता। भोजन से रुधिर, मज्जा, मांस, वीर्य-कीट आदि धीरे-धीरे अनेकानेक क्रियाओं द्वारा बनते चले जाते है। वह कौन अवसर आता है, जब वीर्यकीट में जीवात्मा प्रवेश करता है? मानवशरीर से एक बार इतने वीर्यकीट बाहर निकलते हैं, जिन से संसार भर की सारी युवतियाँ गुर्विणी हो सकती हैं। यदि उन सब कीटों में जीवात्मा है तो आत्माओं की संख्या का पता ही न लगेगा। इस का उत्तर यही समझ मे आता है कि ऐसे असंख्य शरीरांशों में जीवात्मा न मानकर हम जीवाणु मात्र मानते है। हमारे शास्त्रों ने भी शरीरांशो में जीवात्मा नहीं माना है। जिस शरीर में स्वतंत्र जीवन चलाने की शक्ति हो, उसी में जीवात्मा माना जा सकता है, वीर्यकीट आदि शरीरांशों मे नहीं। एक यह भी प्रश्न उठता है कि गाय, घोड़े, हाथी आदि में जीवात्मा है या नहीं, क्योंकि यदि उन का काम बिना जीवात्मा के चल जाता है, तो हमारा क्यों नहीं चलता? इसी प्रकार वृक्ष, साग, घास आदि में भी जीवात्मा का प्रश्न उठता है। हमारे

शास्त्रकारों ने उन में न केवल जीवात्मा माना है, वरन् यहाँ तक कहा है कि बुरे काम करने से मानुष-जीवात्मा भी उन में जा सकता है अतएव हमारे विचारों के प्रतिकूल उपरोक्त तर्क कोई आपत्ति नहीं उपस्थित करता। इस बात के मान लेने से इतना झंझट अवश्य पड़ता है कि वर्षा के आरंभ होते ही अरबों-खरबों घास के पौधे, मच्छड़ आदि के द्वारा असंख्य जीवात्माओं के मानने से उन के अस्तित्व कुछ उपहासास्पद लगने लगते हैं। फिर भी तार्किक दृष्टि से कोई दोष नहीं आता, क्योंकि जीवात्माओं की गणना में संकुचन मानने की कोई आवश्यकता नहीं समझ पड़ती। अपने यहाँ कहा ही गया है कि—

लख चौरासी योनि भ्रमाये।
बड़े भाग मानुष तन पाये॥

आपत्तियाँ

एक यह भी आपत्ति उठाई गई है कि जब गन्ने बाँस आदि में एक एक पोढ़ की गाँठ से नए पेड़ होते हैं, तो क्या प्रत्येक गाँठ में जीवात्मा है? इस का उत्तर यह है कि गाँठों की दशा बीजों के समान है, जो पृथ्वीगर्भ आदि में पहुँच कर अन्य वस्तुओं से मिल कर अनुकूल परिस्थिति मे जीवात्मा-युक्त शरीर उत्पन्न करते हैं। एक यह भी गड़बड़ पड़ता है कि यदि कोई केंचुवा उचित स्थान पर काटा जावे, तो दो शरीर हो जाते हैं और वे दोनों अलग अलग केंचुवे हो कर जीते हैं। इस घटना से यह आपत्ति निकलती है कि क्या केंचुवे में दो जीवात्मा थे जो काटने पर एक एक खण्ड में चले गए। एक जीवात्मा के प्रतिकूल यह सब से बड़ा तर्क समझ पड़ता है, किंतु यह भी जीवात्मवाद का घातक नहीं है। जीवाणुवाद तो ठीक माना ही जा सकता है, किंतु वह जीवात्मवाद का सहायक है, प्रतिद्वन्दी नहीं। हम ऊपर देख आए हैं कि घटक भी एक से दो होता है और उस की संख्या-वृद्धि का यही एक नियम है। इधर केंचुवे की संख्या-वृद्धि के दो नियम देख पड़ते हैं, एक तो साधारण प्रकार से और दूसरा काटने से। एक या दो शरीरों से अन्य शरीर

उत्पन्न हुआ ही करते हैं। यदि किसी शरीर में जीवात्मा है तो सब में है। पसीने, जंतुओं के सड़ने आदि अनेक प्रकार से नवीन शरीर बना करते हैं। उन सब में जीवात्मा कैसे और कब प्रवेश करता है, इस बात का जानना या न जानना उस की सत्ता के प्रतिकूल नहीं है। यदि हम शरीर में जीवात्मा पाते हैं, तो उस के प्रवेश का प्रकार या समय एक अनावश्यक प्रश्न है। यदि बतलाना ही पड़े, तो कहा जा सकता है कि जिस काल कोई नवीन स्वच्छन्द शरीर बनता है, उस काल उस मे जीवात्मा का प्रवेश माना जा सकता है।

अन्तःकरण चतुष्टय

इस प्रकार जीवात्मा के प्रतिकूल जितनी आपत्तियाँ उठाई जा सकती थी गई है, उन में कोई सार नहीं समझ पड़ता। अब इतना प्रश्न अवश्य रह जाता है कि उस का अस्तित्व माना ही क्यों जावे? जीवात्मा के अनुकूल अन्तःकरण चतुष्टय का सब से बड़ा प्रमाण है। यह चतुष्टय है मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। यद्यपि इस का कथन थोड़ा बहुत अन्य शरीरों के विषय मे भी हो सकता है, तथापि मनुष्य के सबंध में इस का सर्वोत्कृष्ट प्रकाश होने से हम यह विवरण मनुष्य ही को लेकर उठावेंगे। घड़ी में चाल अवश्य है, किंतु वह अहकार नहीं रखती। उस को अपनी सत्ता का बोध नहीं है। मानव-अंग भी अहंकार नहीं रखते, वरन् पूरा मनुष्य आत्माभिमानी होता है। मृत शरीर आत्माभिमानी नहीं होता, किंतु उस के कितने ही अंग कट जावें, जब तक वह जीवित है, तब तक अहंकार (अपने सब से पृथक एक होने का विचार) बना ही रहेगा। सब अंगों के भिन्न होने पर भी एकत्व का यह भाव क्या है, सो विचारने योग्य है। अपने को एक कौन समझता है? जीवात्मवादियों का कथन है कि आत्मा ही अहंकारी है। उन के प्रतिकूल विचार वाले कहेंगे कि यह काम मस्तिष्क का है। उन का कहना है कि अभ्यास के कारण मनुष्य अपने को एक मानता है, क्योंकि वास्तव मे वह एक है भी। केवल इतना कहना जीवात्मवाद का खंडन नहीं है। मस्तिष्क शरीर का स्वामी अवश्य है, क्योंकि सारे अंग-प्रत्यंग उसी की आज्ञा से काम करते हैं। यदि किसी अंग से संबद्ध मस्तिष्क का अंश अशक्त हो जावे, तो वह

अंग भी अशक्त हो जावेगा फिर पूरी आत्मीयता का बोध मस्तिष्क क्योंकर करता है ? वह भी तो एक अंगमात्र है। सोचने की शक्ति उस के बाहर है। इस अंतिम वाक्य का पूरा समर्थन चतुष्टय के इतर अंगों से होगा।

स्मरण शक्ति ऐसी है, जिस का समर्थन केवल शरीरवाद नहीं कर सकता। 'गीता' (१५-१५) में 'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च' का वचन आया है, अर्थात् स्मृति, ज्ञान और तर्क की स्थिति पुरुष से है, केवल शरीर से नहीं। कहा जाता है कि घटनाओं से मस्तिष्क पर रेखाएँ बनती जाती हैं। उन की जितनी बार पुनरावृत्ति होती है, वैसे ही तत्सम्बंधी रेखाएँ गहरी होती जाती हैं, और उसी गहराई से स्मरणशक्ति को बल मिलता है। यहाँ तक हम भी मानते है, किंतु इस वाद से विदित यह होता है कि मस्तिष्क पर की रेखाएँ एक प्रकार की पुस्तक-सी तैयार करती हैं। प्रश्न यह उठता है कि कोई पुस्तक तो अपने को पढ़ नहीं सकती, वरन् उस का पढ़ने वाला चाहिए। ऐसी दशा में घटनाओं का स्मरण करना केवल मस्तिष्क का काम नहीं है, क्योंकि वह तो एक पुस्तक के समान है। बिना उस के पढ़ने वाले जीवात्मा के स्मरण-शक्ति का आधार नहीं मिलता। ऐसा भी देखने में आया है कि लोगों ने अपने विगत जीवन की घटनाओं को बतला दिया है और उन के पुराने घरों आदि के भेद, जिन्हें उन्हों ने इस जन्म में नहीं देखा था, उन के कहे के अनुसार ठीक उतरे हैं। भूत-प्रेतादि के सम्बंध में अनेक दृढ़ घटनाएँ भी सामने आती हैं। इन बातो से जीवात्मा का अस्तित्व निकलता ही है, किंतु इन्हें न मानने से भी केवल स्मरण-शक्ति जीवात्मा की सत्ता प्रमाणित करती है। इसी प्रकार बुद्धि तथा चैतन्यता के कार्य केवल मस्तिष्कवाद से दृढ़ नहीं होते। हम लोग इन्द्रियों से थोड़ा-सा ज्ञान प्राप्त कर के विचार-बल से बड़े बड़े निष्कर्ष निकालते हैं। यह बल केवल एक मांसपिंड अर्थात् मस्तिष्क मे नहीं हो सकता। इस के लिए जीवात्मा की आवश्यकता है। शेष शरीर का स्वामी मस्तिष्क है और उस का स्वामी जीवात्मा। स्मरण, बुद्धि, चैतन्यता, अहंकार, मनश्चांचल्य आदि की शक्ति केवल मस्तिष्क पर आधारित नहीं हो सकती। 'माण्डूक्योपनिषत्' में आत्मा १९ मुखों वाला माना गया है। इन में से ५ ज्ञानेंद्रिय, और ५ कर्मेंद्रिय मस्तिष्क की सहा-

यक हैं, पंच प्राण सारे शरीर के और अन्तःकरण चतुष्टय मस्तिष्क के द्वारा जीवात्मा के। 'बृहदारण्यकोपनिषत्' मे याज्ञवल्क्य ने कृतनाश तथा अकृताभ्यागम से भी जीवात्मा का समर्थन किया है, अर्थात् यदि मरण के पीछे और जन्म के पूर्व जीवात्मा न हो, तो किए हुए कर्मों का फल नष्ट होता है, तथा बिना कुछ किए ही इस जन्म मे मनुष्य को भली या बुरी स्थिति मिलती है, जिन बातों से संसार मे अन्याय का दोष स्थापित होता है। हमारे शास्त्रों से जीवात्मा के समर्थन में जितने प्रमाण मिलते हैं, वही सब अब तक दिए गए हैं। केवल घटकों आदि के कथन हम ने उपनिषदों मे नहीं पाए हैं।

निर्गुणवाद में शंकाएँ

निर्गुणवाद का यहाँ तक वर्णन महात्मा गौतमबुद्ध के पूर्व अपने यहाँ हो चुका था। संहिता-भाग में यज्ञों आदि के सहारे इंद्रादि ३३ देवताओं से सांसारिक सुखों की वृद्धि माँगी गई, किंतु वैभव एक ईश्वर में माना गया। इसी प्रकार के भाव पारसियों के प्राचीन ग्रंथ जेंदावस्ता मे भी थे। इस से संहिता का बहुत कुछ विचारसाम्य है। पीछे हमारे औपनिषत्काल में यज्ञादि तो होते रहे, किंतु ज्ञानवृद्धि से ऐसा समझ पड़ने लगा कि जब शक्ति केवल परमात्मा मे है, तब अशक्त इंद्रादि देवताओं मे क्या महत्ता है? इस प्रकार उन की महिमा घटने लगी। 'केनोपनिषत्' में अग्नि, मरुत् और इंद्र की हेयता और शक्ति-शून्यता प्रकट हुई है, तथा उमा देवि के सामने वे अज्ञानी थे। संहिता में ३३ देवताओं की ऐसी निंदा नहीं है। 'छांदोग्योपनिषत्' में विरोचन इंद्र के शत्रु थे। उन दोनों ने शत्रुता छोड़कर ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रजापति के आसन पर तपस्या की और इंद्र ने उन से अधिक तप कर के पूरा ज्ञान प्राप्त किया। पहले इंद्र में यह ज्ञान न था। इस प्रकार के कथन संहिता-भाग मे नहीं मिलते। अतएव प्रकट है कि संहिता-काल का मत औपनिषत्काल में बदलने लगा। ज्ञानवृद्धि से यह जान पड़ा कि परमात्मा संसार का नियंता है, जिस का मुख्य रहस्य हम नहीं जान सकते। अब लोगों को समझ पड़ने लगा कि जो परमात्मा केवल नियम-स्वरूप है और हम से कोई विशिष्ट निजी संबंध नहीं रखता, उस की भक्ति ही क्या की जावे? माना कि उस के

वैभव से सारा संसार स्थिर है और बिना उस के जगत क्षण भर चल नहीं सकता, फिर भी किस ने अपनी उत्पत्ति की प्रार्थना की थी ? यदि सारा संसार न रहेगा तो हम भी न रहेंगे। स्थितिमात्र से भक्ति का स्रोत नहीं उमड़ता। इस के लिए विशेष प्रेम आदि की आवश्यकता है। मानव-प्रकृति अंत में मानवमात्र है, दैवी नहीं।

अनीश्वरवाद

ऐसे विचारों के उठने से समय पर नवीन दर्शनों की स्थापना होने लगी। महर्षि कपिल ने सांख्यशास्त्र की रचना करके केवल २५ तत्वों के सहारे संसार की सृष्टि बतलाई। आपने परमात्मा को ही असिद्ध माना। 'ईश्वरासिद्धे प्रमाणाभावात्' (प्रमाण के न होने से ईश्वर असिद्ध है) के से वचन चलने लगे। पूर्वमीमांसावादी महर्षि जैमिनि भी अनीश्वरवादी थे। इन दोनों के कारण हमारे शास्त्रों में दार्शनिक-रूप से अनीश्वरता का प्रादुर्भाव हुआ। ये दोनों ऋषि ईसा से पूर्व की आठवी शताब्दी वाले यास्क के पूर्ववर्ती थे। बृहस्पति सब से पुराने अनीश्वरवादी कहे गए हैं। इस बात से पंडित समाज में बड़ी खलबली मची। तब महर्षि गौतम और कणाद ने न्याय और वैशेषिक रच कर ईश्वरवाद के पक्ष को दृढ़ किया, तथा बादरायण व्यास और पतंजलि ने उत्तरमीमांसा तथा योगशास्त्र बनाए। ये व्यास पांचवीं शताब्दी बी० सी० के निकट हुए थे और पतंजलि दूसरी शताब्दी बी० सी० में। मैकडानल का मत है कि आदि में न्याय और वैशेपिक अनीश्वरवादी थे और पीछे से ईश्वरवादी हुए। सांख्य, योग तथा वेदांत के सिद्धांत 'श्वेताश्वतरोपनिषत्' मे मिलते हैं। पूर्वमीमांसा अनीश्वरवादी हो कर भी वेदों की महत्ता मानता हुआ उन पर पांडित्य-पूर्ण विचार करता है तथा शरीरवाद के खंडन मे भी प्रवृत्त है, किंतु वेदों का अनादित्व नहीं मानता। उधर गौतम ईश्वर को मानते हुए उन की सृष्टि-शक्ति को नहीं मानते। पूर्वमीमांसा कर्मकांडी है और उत्तरमीमांसा ज्ञानकांडी।

गौतमबुद्ध

ऐसे विचारों के बीच महात्मा गौतमबुद्ध तथा महावीर तीर्थंकर के

जन्म हुए। इन दोनों महात्माओं ने प्राचीन विचारों का तीव्रता से खंडन किया तथा वेदों की महत्ता को न माना। बुद्ध भगवान ने ईश्वर को भी न मानकर केवल कर्म की प्रधानता रक्खी, और अपने बौद्धमत में पहले-पहल बुद्ध, धर्म और संघ नामक त्रयी को स्थापित किया। इन के मत में 'बुद्धं शरणं गच्छामि', 'धर्मं शरणं गच्छामि', 'संघं शरणं गच्छामि' का महामंत्र चला। महावीर तीर्थंकर ने भी अपने जैनमत में ईश्वर को तो न माना, किंतु तीर्थंकरों को ईश्वर के ही समान समझा। उत्तरी भारत में बौद्धमत का प्रचार अच्छा हुआ तथा जैनमत उतना नहीं चला, किंतु दक्षिणी भारत में उस का कुछ-कुछ चलन हुआ और अन्यत्र और भी कम। अतएव देखा जाता है कि निर्गुण ब्रह्मवाद पूर्णतया तार्किक हो कर भी साधारण लोगों की कौन कहे, स्वयं कपिल, जैमिनि और गौतमबुद्ध से महात्माओं तक को संतुष्ट न कर सका। इन महात्माओं में विचारशैथिल्य अथवा स्वार्थपरता के दोष स्थापित नहीं हो सकते। तो भी इन्हों ने निर्गुण ब्रह्मवाद से ऊब कर अपने शास्त्रों में उस का स्थापन ही अनावश्यक समझा। फिर भी जब यह नहीं कहा जा सकता कि ईश्वरवाद का तर्क निर्बल है या इन महानुभावों में बुद्धिबल की कमी थी, तब यही मानना पड़ेगा कि इन्हों ने इस निर्गुणवाद की संसार में चलने की संभावना कम देखी होगी, इसी से अन्य प्रकार के मत चलाए। उसी समय जापान में शिंतो मत चलता था और चीन में महात्मा कान्फ्यूशियस ने अपना मत चलाया। आप वास्तव में धार्मिक गुरु न हो कर समाजशास्त्री थे, किंतु समय पर धार्मिक गुरु माने गए, और इन का मत बौद्धधर्म के साथ अब तक चीन में चल रहा है।

सगुणवाद

जब हिंदुओं ने देखा कि शुद्ध तर्कवाद के कारण हमारा ईश्वरवाद ही संसार से जाता है, तब उन्हों ने उस के साथ सगुणवाद का प्रचार किया। सूरदास ने लिखा है कि

> रूपरेखरसरंग जुगुति बिनु निरालंब मन चकित धावै।
> सब बिधि अगम बिचारहि ताते सूर सगुन लीला पद गावै॥

श्रीभगवद्गीता में पहले-पहल पूर्ण बल के साथ सगुणवाद का प्रादुर्भाव हुआ। उस में मूर्तिपूजन का कथन तो न आया, तथा गंगा, जमुना एवं तीर्थ-स्थानों का भी वर्णन न हुआ, किंतु ईश्वर में प्रतीकत्व मिला कर 'गीता' ने उसे सर्वसाधारण की भक्ति के योग्य बनाया। गंगाजी की महत्ता तो 'गीता' में मान्य है, किंतु उन मे स्नान से पुण्य आदि का कथन नहीं है। बल तो 'गीता' सगुणवाद पर देती है, किंतु कहती निर्गुणवाद भी है। अंत में इतना कह देती है कि सगुण और निर्गुण दोनों वाद श्रेष्ठ हैं, किंतु सगुणवाद सुगम होने से मनुष्यों के लिए शीघ्रता से फलप्रद है। अतएव 'गीता' में बादरायण व्यास ने निर्गुण का मान रख कर संसार के विचारानुकूल सगुणवाद का स्थापन किया। अब पौराणिक आचार्यों के नाम अधिकता से आने लगे और उपनिषदों के आचार्य पिप्पलाद, यम, सत्यकाम, जाबाल आदि के कथन लुप्तप्राय हो गए। इस का यह प्रयोजन नहीं है कि 'गीता' ने इन आचार्यों का तिरस्कार किया। जहाँ तक उन के मत लोक में चल सके, वहाँ तक 'गीता' ने उन्हें चलाया, किंतु सगुणत्व से ही ईश्वर का मान संभव देख कर उसे अधिकता से अपनाया। औपनिषत् ऋषियों के नाम छोड़ने का यह कारण हुआ होगा कि वे खुले-खुले सगुणवाद को अशुद्ध कहते थे, अतएव उन के अधिक वर्णन करने से उन के शुद्ध मतों की समीक्षा भी करनी पड़ती। इसी से गीता ने उन के नाम छोड़ कर कुछ सिद्धांतों मात्र को लिया। संभवतः अन्य प्रकार से लोक में ईश्वरवाद संभव न था। 'गीता' उन्हीं आचार्यों के पक्ष की थी, किंतु सब धन जाता देख कर उस ने आधा तो रख ही लिया। फिर भी लोक का बल सगुणवाद पर विशेष था। अतएव समय के साथ हमारे धर्म में सगुणत्व बढ़ता और निर्गुणत्व कम होता गया। औपनिषत्काल-पर्यंत अपने यहाँ त्रिमूर्ति या अवतारों के विचार न थे। शिव तो 'यजुर्वेद' ही में परमात्मा कहे गए और 'श्वेताश्वतरोपनिषत्' में भी उन का ऐसा ही कथन हुआ, किंतु ब्रह्मा केवल देवताओं में पहले उत्पन्न माने गए (ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव, विश्वस्यकर्ता, भुवनस्य गोप्ता—मुंडक) स्वयं ईश्वर नहीं। इसी प्रकार विष्णु वेदों के तैंतीस देवताओं में एक तथा उपेंद्र इन्द्र से कम) माने गए, और उपनिषदों में वे देवताओं में सर्वश्रेष्ठ ता हुए

किंतु प्रायः ईश्वर नहीं। अब बौद्धों की त्रयी का मान देख कर हिंदुओं ने भी ब्रह्मा, विष्णु, महेश को त्रिदेव कह कर ईश्वर के तीन भाव माने, अर्थात् उत्पादक, पालक और विनाशक। धीरे-धीरे भावों से ये व्यक्ति हो गए और पुराणों में विष्णु के शिव से युद्ध भी हुए। अवतारों का भी कथन बौद्धकाल-पर्यंत न आया। औपनिषत्साहित्य का इन देवताओं के विषय में पौराणिक से कितना भेद है, यह इन दोनों के मुख्य विचार मिलाने से प्रकट होगा।

परिवर्तन

औपनिषत्काल चलता है सूत्रकाल के पूर्व तक, तथा सूत्रकाल प्रायः आठवीं दशवीं शताब्दी बी० सी० से पाँचवीं शताब्दी बी० सी० तक रहता है। वास्तव में बौद्धकाल से पूर्व का साहित्य औपनिषत-विचारों पर चला है और पीछे का पौराणिक सिद्धांतों पर। यद्यपि बौद्धमत अशोक के समय तीसरी शताब्दी बी० सी० से धर्म के रूप में चलने लगा और इस के पूर्व केवल संप्रदाय था, तथापि इस का समाज पर प्रभाव भगवान बुद्धदेव के समय से ही बड़ी महत्ता के साथ पड़ा। इसी से हिंदुओं को बुद्धदेव के समय से ही अपने औपनिषत्-विचारों मे ऊँची से ऊँची शुद्धता होते हुए भी परिवर्तन आवश्यक समझ पड़ा। जैसे महाभारत-काल के द्वैपायन व्यास ने एक से चार वेद करके तथा इन का एवं इतिहास का मुख्य-मुख्य शिष्यों मे विभाजन करके वैदिक साहित्य में एक नया युग सा उपस्थित कर दिया था, उसी प्रकार पाँचवीं शताब्दी बी० सी० में बादरायण व्यास ने हिंदूधर्म की नौका डूबती देख कर उत्तरमीमांसा तथा गीता रचकर प्राचीन हिंदूधर्म का एक नवीन सर्वमान्य संस्करण उपस्थित कर दिया। हमारा पौराणिक समय इसी काल से शंकराचार्य-पर्यंत (आठवीं शताब्दी ईसवी) चलता है, और तब तर्कवाद का आरंभ होता है। बौद्धकाल इसी बीच में धर्मरूप में स्थापित हो कर बैठ जाता है, किंतु बादरायण व्यास द्वारा स्थापित पौराणिक मत समय के साथ बल पकड़ता जाता है। इस बल में अद्य-पर्यंत अणुमात्र भी त्रुटि नहीं आई है। अब त्रिदेव आदि के संबंध में औपनिषत् एवं पौराणिक साहित्य का अंतर दिखलाया जाता है।

प्रजापति

संहिता मे ईश्वर को प्रजापति, विश्वकर्मन्, हिरण्यगर्भ, स्कम्भ आदि नामों से पुकारा गया है। रुद्र शिव के ८ नाम थे, ४ कल्याणकर तथा ४ भयानक। 'शतपथब्राह्मण' और 'कौशीतकी उपनिषत्' में लिखा है कि रुद्र को ये आठों नाम प्रजापति ने दिए। 'यजुर्वेद' एवं 'अथर्ववेद' के समय से शिव ईश्वर हो गए तथा प्रजापति का वर्णन कम होने लगा। 'छांदोग्य उपनिषत्' मे हम प्रजापति को केवल आचार्य के रूप में पाते है। वे इंद्र और विरोचन को ब्रह्मविद्या सिखलाते हैं। अन्य उपनिषदों में भी इन के कथन हैं, किंतु ईश्वरता के संबंध में नहीं। 'शतपथब्राह्मण' में प्रजापति ही मत्स्य, कच्छ और वाराह थे। 'विष्णुपुराण' में भी ये तीन अवतार प्रजापति ही के हैं। 'दुर्गासप्तशती' में "सनाभि कमले विष्णोर्स्थितो ब्रह्मा प्रजापतिः" का कथन है, जहाँ प्रजापति ब्रह्मा माने गए हैं। धीरे-धीरे प्रजापति लुप्त होते गए यहाँ तक कि पुराणों में एक मनुष्य (दक्ष) ने प्रजापति का पद पाया। उन के अभिमान से रुष्ट होकर महादेव ने उन का विनाश कर डाला और उसी के साथ प्रजापति भी लुप्त हो गए।

ब्रह्मा

चारों वेदों (संहिता) में ब्रह्मा नहीं हैं। 'शतपथब्राह्मण' और मनु मे कहा गया है कि ब्रह्मा उस सोने के अंडे से हुए जिसे ईश्वर ने बनाया था। जल में विचरण करने के कारण वे नारायण कहलाए। अतएव यद्यपि नारायण पीछे से विष्णु का नाम हुआ, तथापि यहाँ ब्रह्मा ही नारायण हैं। वाल्मीकीय 'रामायण' मे जल में पृथिवी बनी और उसी में स्वयं सत्तात्मक ब्रह्मा हुए। उन्हों ने वाराह बन कर पृथ्वी को ऊँचा किया। 'लिंगपुराण' में भी यही वाराह हैं। 'मुंडकोपनिषत्' ब्रह्मा को देवताओं में पहले होने वाला कहता है, और 'श्वेताश्वतरोपनिषत्' इन्हे आदिपुरुष बतलाता है। अतएव अभी तक ब्रह्मा परमात्मा नहीं है। यह बुद्धपूर्व का साहित्य है। पीछेवाले पौराणिक साहित्य में के तीन भावों में सृष्टिकर्ता ब्रह्मा हैं जब

आदि की आवश्यकता होती थी, तब देवता पहले इन्हीं की शरण जाते थे। तपस्वियों को वरदान भी प्रायः यही देते थे, और इन के मतानुसार काम किए जाने या कहने से विष्णु या शिव प्रसन्न होते थे। पितामह के रूप में ये अब तक हमारी मुख्य ब्रह्मत्रयी मे प्रतिष्ठित हैं, किंतु पूजन इन का मुख्य-रूप में नहीं होता, जैसा कि शैव तथा वैष्णव संप्रदायों के प्रभाव से उन दोनों देवताओं का होता है। ब्रह्मा के मंदिर भी बहुत कम हैं। जहाँ तक ज्ञात है, इन का केवल एक मंदिर पुष्कर (अजमेर) मे है।

वेदों का कुछ वर्णन

अब आगे चलने के पूर्व वेदों का कुछ वर्णन किए देते हैं, जिस से पाठक हमारे विचारों को सुगमतापूर्वक समझ सकें। 'ऋग्वेद' हमारा प्राचीनतम साहित्य है। 'सामवेद' मे प्रायः अष्टमांश नवीन है, और शेष 'ऋग्वेद' से आया है। 'यजुर्वेद' ऋक् से चौथाई होगा, और उस से हजार पाँच सौ वर्ष पीछे प्रारंभ होकर उस के पीछे 'यजुर्वेद' के प्रायः ५०० वर्ष पीछे तक बनता भी रहा। 'अथर्ववेद' ऋक् से बहुत थोड़ा पीछे प्रारंभ होकर उस के पीछे 'यजुर्वेद' के प्रायः समान ही समय तक चलता रहा। आकार में यह 'ऋग्वेद' से थोड़ा ही छोटा होगा तथा 'सामवेद' उस का प्रायः आधा होगा। हमारे पास चारों वेदों के जो अनुवाद हैं, वे प्रायः २८५० पृष्ठों के हैं। तिलक महाशय 'ऋग्वेद' का प्रारंभ-काल ४००० बी० सी० के निकट से मानते हैं, विल्सन ३५०० बी० सी० से, हाग २५०० बी० सी० से तथा मैक्स मुलर १५०० बी० सी० से। जो प्रकार यहाँ कहा गया है, वह ऐतिहासिक माना जाता है। बहुतेरे प्राचीन प्रथानुयायी पंडित ऐसे कथनों से वेदों का अपमान समझते हैं और मानते हैं कि वेद भगवान् अनादि हैं। कुछ वेदर्षियों ने यहाँ तक लिखा है कि मैं बड़े परिश्रम से ये नवीन ऋचाएँ बना रहा हूँ। मेरे बाप वैद्यक करते हैं, माता पत्थर पर गेहूँ पीसती है और मैं ऋचाएँ बनाता हूँ। हम लोगों से पहले के लोग उषस् का सौंदर्य देखते थे, हम लोग आज देखते हैं और अन्य लोग आगे देखेंगे वेदों में सहस्रों घटनाएं अंकित हैं,

जिन का किसी समय होना अनिवार्य है। इन तर्कों के उत्तर में अनादित्व माननेवालों का कथन है कि वेदर्षि अवश्य थे, किंतु वे रचयिता न होकर ऋचाओं के जाननेवाले मात्र थे, अथच ईश्वरीय अनुकंपा से उन की पात्रता के कारण उन्हें ऋचाएँ भासित भर हुईं।

इसी प्रकार के विचार पारसी, यहूदी, ईसाई, मुसल्मानी आदि ग्रंथों के विषय में भी कहे जाते हैं, और इसी ईश्वरीय संबंध पर उन की महत्ता एवं अकाट्यता आधारित है। हम ऐसे विचारों को विश्वासमात्र पर अवलंबित समझकर उन के विषय में कोई मत प्रकाश नहीं करते, वरन् इतना ही कहते हैं कि ईश्वर की न्यायप्रियता को न छोड़ते हुए हमें यही मानना पड़ेगा कि सब देशों और समयों के सुकर्मियों पर उस की समान कृपा है। हम यह भी नहीं कह सकते कि अन्य देशों के लोग या कम से कम उन के पैग़म्बर सुकर्मी न थे। ऐसी दशा में यह नहीं कहा जा सकता कि हमारा प्रत्येक वैदिक ऋषि प्रत्येक मुख्य पैग़म्बर से श्रेष्ठतर था। ऐसी दशा में विदेशी पुनीत ग्रंथ एक दम छोड़े नहीं जा सकते, न यही कहा जा सकता है कि उन के जितने कथन वैदिक विचारों के प्रतिकूल हैं, वे त्याज्य हैं। हमारी इच्छा ऐसा कहने की अवश्य होगी, किंतु उन की भी इच्छा वैसा ही कहने की होगी। ईश्वर सब के लिए एक है और किसी देश अथवा समय का उस पर अकेला अधिकार नहीं है। धर्म सब के लिए एक है। अच्छाई सब के लिए अच्छी और बुराई बुरी है। केवल बौद्ध-धर्म ऐसा था जो बुद्धि पर चलता था, बाह्य आधारों पर नहीं। पुराने बौद्ध-धर्म को हीनयान कहते थे। फिर भी स्वयं बुद्ध भगवान ने मरते समय कह दिया कि यदि कोई नवीन धार्मिक तत्व बतलावे, तो मेरे विचारों से उसे मिलाकर अनुकूल होने पर मानना, तथा प्रतिकूल होने पर त्याज्य समझना। अतएव उस में भी ईश्वरावलंबी पुस्तकों का-सा मामला आ गया। भेद केवल इतना रहा कि महात्मा बुद्ध ने अपने वचनों का आधार ईश्वर पर न रखकर बुद्धि पर माना, जो अंत में उन्हीं की बुद्धि पर सीमित हो गया। ऐसी स्थिति में यदि हम सभी महापुरुषों के वचनों का आदर करना चाहें, तो प्रतिकूलता सामने उपस्थित हो जाती है अतएव

अन्य सांसारिक विषयों की भाँति धर्म में भी बुद्धि का व्यवहार करना पड़ेगा, अथच आँख मूंदकर चलने से काम न चलेगा।

यदि इन सब विचारों को भी छोड़कर कहें कि हमारे तो वेद भगवान हैं, और हम उन्हीं को मानेंगे, तो इतिहास हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। हम देखते है कि वेद भगवान ने वैभव केवल ईश्वर मे मानकर प्रधानता ३३ या ३३३९ देवी देवताओ की रक्खी, किंतु औपनिषत्साहित्य ने परावलंबी देवताओं को छोड़कर विशुद्ध निर्गुण गुणातीत परमात्मा मे मन लगाया। संसार ऐसे निजी संबंधहीन परमेश्वर से संतुष्ट न रह सका, और कपिल, जैमिनि, बुद्ध आदि महात्माओं द्वारा इन विशुद्ध विचारों से विद्रोह होकर संसार में अनीश्वरवाद चलने लगा। तब बेचारे ऋषियों को अपना विशुद्ध औपनिषत-निर्गुणवाद छोड़कर महात्मा बादरायण व्यास द्वारा 'गीता' के सगुणवाद पर आना पड़ा, जिस से संसार मे फिर से ईश्वरवाद का मान हुआ। समय पर गुर्जर, सीदियन, शक, तूरानियन, हूण आदि के प्रचुर संख्या में आगमन से सनातनधर्मियों, बौद्धों, जैनों तथा इन सभों के नवीन विचारों में कई शताब्दियों तक भारी संघट्ट हुआ, जिस में धार्मिक युद्ध तो न हुए किंतु वादों की परम प्रचुरता रही। फल यह हुआ कि हम लोगों ने सब के राजीनामे का एक नवीन धर्म स्थापित पाया, एवं इन सब जातियों तथा वादियों को एक सुगठित जाति तथा विचारगृहीत समाज में परिणत देखा। यह दशा शंकराचार्य के समय आठवीं शताब्दी मे थी और दक्षिण मे यह सुधार बारहवीं शताब्दी में रामानुजाचार्य के समय तक स्थापित हुआ। यह पौराणिक मत न केवल वैदिक विचारों से दूर था, वरन् जितनी स्थूलता 'गीता' ने सर्वमान्यता के विचार से ग्रहण की थी, उस से भी यह बहुत आगे बढ़कर बहुत स्थूल हो गया, यहाँ तक कि स्वामी शंकराचार्य को इस भद्देपन के परिशोधन की आवश्यकता समझ पड़ी।

अतएव आजकल हमारे सामने जो धार्मिक प्रश्न उपस्थित है वह वैदिक मत के मानने या न मानने का नहीं है, वरन् इस मोटिया मत के मानने या न मानने का है। प्रश्न यह है कि हम लोग अपने पौराणिक

समय वाले राजीनामे के सामने भगवान व्यास तथा स्वामी शंकराचार्य तक को मानने को तैयार हैं या नहीं। इतना अवश्य है कि यह पौराणिक समय की बड़ी ही भारी महत्ता थी, कि उसने इतनी अनमिल जातियों को सुगठित करके एक भारी सभ्यतापूर्ण ऐसी महती जाति उत्पन्न की, जिस ने आठ सौ वर्षों से अनेकानेक अत्याचार, विचार तथा आविष्कारों के धक्कों को सफलतापूर्वक सहकर अपना रूप प्रायः पूरा का पूरा बीसवीं शताब्दी-पर्यंत स्थापित रक्खा है। जिन प्रयत्नों ने हमको इतनी भारी सहायता दी, उन्हें तुच्छ, हेय या थोड़ी महिमा का मानना अनुचित है। हम उन को बहुत ही ऊँचा समझते हैं। फिर भी मनुष्य का सहज स्वभाव है कि वह उन्नतिशील है। हम देखते हैं कि पौराणिक धर्म को समाज-संगठन के राजनीतिक एवं सामाजिक विचार से अपने धर्म का रूप समय समय पर बदलना पड़ा है। यह बात अब भी बड़ी तेज़ी से चल रही है। इसीलिए इन प्रश्नों पर विचार करना परमावश्यक है। हमारे धर्मशास्त्र का वचन है कि बिना वैदिक साहित्य का नित्यप्रति अध्ययन किए हम ऋषि-ऋण से मुक्त नहीं हो सकते। यह विचार हमें बहुत सारगर्भित समझ पड़ता है। बिना ऐसा किए अपनी सभ्यता उन्नत न होकर समय के साथ गिरती ही जावेगी। अतएव वेद भगवान को ऋषियों ने अपनी बुद्धि से बनाया या ईश्वरीय प्रेरणा से देखा, इस प्रश्न में कोई सार नहीं है। मान लिया कि उन में ईश्वर का विशेषांश है। वेदज्ञ त्रिकालज्ञ सही। प्रश्न केवल इतना है कि वेदों की शिक्षा को उपनिषदों, पुराणों, तर्कवाद, भक्तिवाद आदि से प्रभावित करते-करते आज हम कितना मान रहे हैं, और हमारे वर्तमान धार्मिक आचार-विचार कहाँ तक वेदानुकूल हैं। स्वयं 'गीता' मे लिखा है कि—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्योभवार्जुन।

इसी वचन से समझ पड़ता है कि 'गीता' के ही समय में वेदविरुद्ध न केवल विचार थे, वरन् शिक्षा तक दी जाती थी। अब हम अपने पौराणिक मत के विचारों के　　　　विवरण पर फिर से आते हैं　　प्रजापति एवं

ब्रह्मा का वर्णन ऊपर हो चुका है। प्रजापति वैदिक ईश्वर थे जो औपनिषत् ऋषि हो कर पुराणों में त्यक्तप्राय हो गए। ब्रह्मा वेदों में न थे, उपनिषदों में ब्रह्म से निकले तथा वाल्मीकीय 'रामायण' में स्वयं सत्तात्मक उत्पत्तियुक्त माने गए। पौराणिक समय में वे कर्त्ता के भावयुक्त परमात्मा के अंश हुए। अब शिव का विवरण उठाया जाता है।

शिव

'ऋग्वेद' में रुद्रशिव तैंतीस देवताओं में से थे जो स्वयं वैभवहीन और केवल ईश्वरीय शक्ति से शक्तिमान थे। वे पशुपति और वैद्यराज कहे गए और हानिकारक अधिक थे। प्रार्थना करने से लाभ भी पहुँचाते थे। 'यजुर्वेद' की शतरुद्री मे वे शिव के रूप मे ईश्वर हो गए। अथर्व में भी ईश्वर रहे, जहाँ भव और सर्व दो देवता थे। 'शतपथब्राह्मण' तथा 'कौशीतकी उपनिषत्' मे रुद्र उषस् के पुत्र हैं। इन के चार हानिकर नाम है और चार लाभकर। ये आठों नाम इन्हें प्रजापति देते है। 'केनोपनिषत्' में उमा देवि इंद्र को ईश्वरी भाव बतलाती हैं। वे शिव की स्त्री हैं, किंतु ऐसा वहाँ लिखा नहीं है। 'श्वेताश्वतरोपनिषत्' में शिव पूर्ण परमेश्वर हैं। इस उपनिषत् के ये विचार ऊपर पूर्णतया आ चुके हैं। अतएव 'यजुर्वेद' के समय से औपनिषत्काल-पर्यंत अकेले वे ईश्वर हैं। 'गीता' (पाँचवीं शताब्दी बी० सी०) में वे पहले-पहल विष्णु के पीछे गिर जाते हैं। दूसरी शताब्दी बी० सी० मे लकुलिन अथवा नकुलीश नामक महात्मा ने पाशुपत मत चलाया, ऐसा भंडारकर महाशय का कथन है। इस में इन की पूजन-विधि में नाचना, गाना, हुड़कार आदि संमिलित हैं। देवी के संबंध में कुछ शृंगारपूर्ण अनुचित भाव भी हैं। पशु जीवात्मा है और पशुपति महादेव। दूसरी शताब्दी बी० सी० के पतंजलि ऋषि कहते हैं कि उस काल में शिव, स्कंध और विशाख की मूर्तियाँ पुजती थीं। महाराजा कनिष्क के पिता वेम कड़फ़ाइजेज़ के सिक्कों पर शिव की मानुषी मूर्ति है, लिंग की नहीं। ये सिक्के हम ने भी लखनऊ के में देखे हैं पहली शताब्दी ईसवी में महा

यान तथा शैव मतों की विशेष वृद्धि हुई। सब पुरानी शैवलिंग की मूर्तियाँ इसी समय की मिलती हैं। ऐसी एक मूर्ति लखनऊ में भी है। छठी शताब्दी के वराहमिहिर लिखते हैं कि शैवमूर्ति की स्थापना ब्राह्मण से करावे। कालिदास (पाँचवीं शताब्दी के), भवभूति (छठी के), श्रीहर्ष (बारहवीं के) आदि महाकवि ग्रंथारंभ में शिव की प्रार्थना करते हैं। भवभूति ने 'मालती-माधव' मे शैव-मंदिर का वर्णन किया है।

सातवीं शताब्दी के महाराष्ट्र में कापालिकों का कथन है। आठवी शताब्दी के स्वामी शंकराचार्य पाशुपत मतावलंबी नीलकंठ को शास्त्रार्थ मे हराते हैं, यद्यपि वे स्वयं थे शैव ही। जान पड़ता है कि उन्हो ने पाशुपत मत के अनुचित विचारों का खंडन किया होगा। 'महाभारत' है तो पुराना ग्रंथ, किंतु उस में क्षेपक बहुत मिलते रहे हैं, अतएव उस का प्रत्येक भाग शंकर के पहले का नहीं माना जाता। इस ग्रंथ मे उपमन्यु ऋषि द्वारा लिंग-पूजन का कथन है। अनुशासन पर्व मे शिव व्रात्यों के भी देवता कहे गए हैं। कश्मीर मे कल्लट (सन् ८५४) तथा सोमानंद (दशवीं शताब्दी) ने परमोच्च भावपूर्ण शैवपूजन चलाया। ११६० में दाक्षिणात्य वासव ने लिंगायत संप्रदाय को स्थापित या उच्च किया। इलोरा के गुफामंदिर तीसरी से नवीं शताब्दी तक के माने जाते हैं। उस मे शिव की महत्ता के कई मंदिर हैं, तथा रावण की भी मूर्तियाँ हैं। यही हाल आठवीं से बारहवीं शताब्दी वाले खजराहो के मंदिरों का है। मदुरा, कांची आदि में भी ऐसे ही प्राचीन समयों के शैवमंदिर है। बारहवीं शताब्दी के चोल-नरेश (मद्रास प्रांत के) ने शैवमत को बड़े हठ के साथ माना। दक्षिण तथा ठेठ दक्षिण में ६३ शैव भक्तों के कथन है। वहाँ प्राचीन काल से शैव महिमा बहुत बड़ी है। चौदहवीं शताब्दी के गोरखनाथ महात्मा ने युक्तप्रांत मे शैवमत-गर्भित गोरखपंत चलाया। शैव द्वादश ज्योतिर्लिंग सारे भारत में फैले हुए होकर इस महामत की व्यापकता प्रकट करते हैं। शैवमत का बौद्ध महायान से बहुत आदान-प्रदान हुआ। भारत से बौद्ध विचारों के हटाने में शैवमत का बहुत बड़ा हाथ है। आज भी देश मे वैष्णव, शैव और   चल रहे हैं, तथा   जनसमुदाय पर वैष्णव और

शैव विचारों के मिश्रण का मुख्य प्रभाव है। यद्यपि हमारा शैवमत उठा भय के आधार पर था, और बहुत काल-पर्यंत अनुचित शाक्त विचारों का भी इस पर बहुत प्रभाव रहा, तथापि समय के साथ नीचे विचार शैवमत से हटते रहे है, और भयवाला दूर होकर प्रेम का आधार बढ़ता रहा है, यहाँ तक कि सर्वसाधारण के विचार में यह मत आज-दिन पूर्णतया प्रेमावलंबी है, और शिवलिंग का विशेषांग से कोई संबंध नहीं समझा जाता। आज तो लिंग ब्रह्मांड का रूप समझा जाता है तथा शिव आशुतोष होने के कारण सर्व-साधारण में प्रिय हैं, न कि किसी समय में भयानक होने के कारण। वे आज शिवशंकर, योगी, भोलानाथ हैं, जो आक धतूरे से ही संतुष्ट होकर सभी कुछ दे डालते हैं। 'ऋग्वेद' में आप तैंतीस देवताओं में से एक रहे, सो भी साधारण, और 'यजुर्वेद' से तथा 'अथर्ववेद' से ईश्वर हो गए, जो पद औपनिषत्काल तक चला। पीछे ईश्वरता के गिरने से यह भी गिर गए और 'गीता' में विष्णु इन से आगे निकल गए। फिर भी १८ पुराणों में छः वैष्णव हैं और छः शैव, यद्यपि गंभीरता में वैष्णव पुराण शैव से श्रेष्ठतर हैं। कुल मिलाकर पौराणिक साहित्य में आप दैत्यों, दानवों, निशाचरों आदि के भी हितू, कृपालु, आशुतोष, संहारक और ईश्वरीय त्रयी के एक मुख्य सदस्य हैं।

बौद्धधर्म

महात्मा गौतमबुद्ध का प्रादुर्भाव ५६४ बी० सी० में राजकुल में हुआ। आपने सब कुछ छोड़कर वैराग्य पसंद किया और पूरा विद्यालाभ एवं तपस्या तथा विचार विस्तीर्ण करके बौद्धसिद्धांत ३५ वर्ष की अवस्था में चलाना आरंभ किया, तथा ४५ साल उन का प्रचार करके ८१ वें वर्ष निर्वाण प्राप्त किया। अपने धर्म के सात रत्नों को आपने सप्तत्रिंशच्छिद्त्यमाण धर्म कहा। इन का वर्णन हम अपने ग्रंथों में विस्तारपूर्वक दे चुके है। मुख्यता इन की आचार पर है। अनंतर भगवान बुद्धदेव ने चार आर्य सत्यों तथा पंचोपादान स्कंध दुःख का कथन किया है। इन के विवरण भी अन्यत्र दिए जा चुके हैं। बौद्धमत संसार को दुःख-मूलक समझ कर शुद्ध कर्मों द्वारा निर्वाण-प्राप्ति को

मनुष्य जाति का उद्देश्य बतलाता है। यह धर्म कर्म-प्रधान और ईश्वर, वेद आदि से असंबद्ध है। इस काल-पर्यंत हमारे ऋषियों ने पुराने विचारों का उचित से कुछ अधिक मान करके नए विचार यथासाध्य उन से मिलाकर चलाये थे, किंतु बुद्धदेव ने प्राचीनता का यह मान छोड़ कर केवल बुद्धि को मान्य ठहराया। अब तक धार्मिक विचार संस्कृत भाषा में लिखे गए थे, किंतु आपने सर्वसाधारण से सीधा संयोग प्राप्त करने के लिए अपने उपदेश तत्काल प्रचलित देशभाषा पाली में दिए। भगवान बुद्धदेव संसारी जीवन को दुःखमय समझ कर निर्वाण को उच्चतम पद मानते हैं। संसार में वृद्धों, बीमारों तथा मृत्यु के अस्तित्व ने आप के कोमल चित्त पर भारी प्रभाव डाला और संसारत्यागी भिक्षु-वर्ग का जीवन आपको अच्छा जँचा। यज्ञों द्वारा पशुबलि तथा ऋत्विज आदि के अनुचित मान ने आप को यज्ञ का विरोधी बनाया, तथा जाति एवं यज्ञ का महत्व ईश्वर और वेदों पर भी अवलंबित देख कर आप ने इन दोनों का भी आदर न किया, तथा शुद्ध कर्म को मुख्यता दी। इन के निर्वाण के थोड़े ही पीछे शिष्यों ने ये उपदेश पाली में लिपिबद्ध किए। यह महत्कार्य एक महती धर्मसभा द्वारा किया गया। प्रायः एक शताब्दी के पीछे ऐसी ही दूसरी धर्म-सभा हुई। जो ग्रंथ-समुदाय इस प्रकार तैयार हुआ, उसे 'त्रिपिटक' कहते हैं। 'त्रिपिटक' में सैकड़ों ग्रंथ संमिलित हैं। उस में कहानियों के ग्रंथ तथा जातकों से लेकर 'गीता' तक के समान 'धम्मपद' आदि तक परमोत्कृष्ट ग्रंथ हैं। प्रायः २६४ बी० सी० तक बौद्धधर्म एक संप्रदाय मात्र रहा, जिस में केवल गृहत्यागी भिक्षु थे। स्त्रियों के विषय में अदर्शन, अनालाप तथा अत्यंत सावधानी की आज्ञाएँ थीं। वे पहले भिक्षुवर्ग में ली भी न गईं। आनंद के आग्रह से भगवान ने उन्हें भी भिक्षुणी बनाया, किंतु उन का पद पुरुषों के समान न हुआ। बौद्धमत में जीवदया पर विशेष बल था और गुरु, माता, पिता आदि का असीमप्राय मान था, जो आगे चलकर न्यायालयों द्वारा तक प्रचारित हुआ। उपरोक्त समय के निकट बौद्ध होकर महाराज अशोक ने इसे गृहस्थों में भी चलाया। उन्हों ने बौद्ध और जैन धर्मों से छाँटकर गृहस्थों के योग्य व्यावहारिक धर्म निकाला, और उसी का नम्र भाव से राजाज्ञा द्वारा प्रचार किया

जब बौद्धधर्म गृहस्थों में आया, तब हिंदू और बौद्ध लोगों में विचारों का आदान-प्रदान होने लगा, जिस से दोनों धर्म विकसित होकर समय पर समप्राय हो गए, और उन में थोड़ी ही बातों में भेद रह गया। बौद्ध लोग अन्य प्रदेशों मे धर्म-प्रचार के बड़े उत्साही थे, जिस से इन के प्रयत्नों से समय पर लंका, बर्मा, इंडोचीन, चीन, जापान आदि में बौद्धधर्म फैला तथा बैबिलोन में भी बौद्धसंघ स्थापित हुआ। महात्मा बुद्ध ने पहले-पहल सर्वसाधारण का मान बढ़ाकर संघ को भी त्रिरत्न में से एक माना। शेष दोनों रत्न बुद्ध और धर्म थे। बुद्धदेव के भारी प्रभाव से भारत में आर्यों तक में इन की प्रतिमाएँ पुजने लगीं, जिस से हिंदुओं में प्रतिमा-पूजन का मान बढ़ा। इन्हीं के कारण व्यक्तित्व का भारी मान बढ़कर अवतार का विचार चला। हिंदुओं ने इसे अतिशीघ्र माना। हम 'गीता' मे अनेकानेक व्यक्तियो, नदियों, पहाड़ों आदि में ईश्वरीय विशेषांश का कथन पाते हैं। श्रीकृष्ण स्वयं अपने को भी ईश्वर कहते हैं, और कई विभूतियों मे एक विभूति भी बतलाते हैं, तथा महायोगेश्वर भी कहे गए हैं। समय पर हिंदूमत के प्रभाव से बौद्धमत बहुत बदल गया, और महायान कहलाने लगा, तथा पुराना मत हीनयान कहलाया। महाराजा कनिष्क पहली शताब्दी के तुर्क सम्राट् थे, जिन की राजधानी पेशावर में थी, तथा जिन का साम्राज्य बनारस से पश्चिमी एशिया तक फैला हुआ था। इस तुरुष्क वंश के प्रभाव से भारत में प्रतिमा-पूजन का विस्तार बहुत हुआ। आप भी बौद्ध हुए तथा भगवान को देव-भाव से पूजने लगे। इन के समय में बौद्धों की तीसरी भारी धर्म-सभा हुई, जिस के अनुसार महायानीय 'त्रिपिटक' संस्कृत भाषा में बना। उत्तरी भारत से महाराष्ट्र तथा गुजरात प्रांतो पर्यंत बौद्धधर्म का अच्छा प्रचार हुआ। प्रायः एक तिहाई जनता बौद्ध थी और शेष हिंदू। फिर भी थे ये लोग हिदू तथा आर्यसमाजियों की भाँति एक ही, अर्थात् किसी के हिंदू अथवा बौद्ध होने से रोटी-बेटी आदि का कोई सामाजिक बहिष्कार नहीं होता था, वरन् लोग सुख से यथारुचि किसी भी मत में आ जा सकते थे। जब राजमान बढ़ता था, तब बौद्धों की संख्या बढ़ जाती थी, और इसी प्रकार की कमी से घट भी जाती थी अंत

मे मांसाशन के कठिन निषेध तथा गुरु, माता, पिता आदि की अनुचित महिमा-वृद्धि से व्यक्तिगत स्वतंत्रता मे बाधा पड़ने लगी, और हिंदुओं मे कोई ऐसा बंधन न होने से जनता धीरे-धीरे बौद्धमत छोड़ बैठी। बौद्ध पंडित फिर भी वादरत रहे, जिन्हें कुमारिल्ल भट्ट और शंकराचार्य ने पराजित कर के हिंदूमत की वृद्धि की जिस से वह मत मगध, वायव्य सीमाप्रांत एवं अफग़ानिस्तान भर में रह गया। इन तीनों प्रांतों से ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों में मुसल्मानी अत्याचार ने इसे निर्मूल प्राय कर दिया। अब बर्मा के अतिरिक्त भारत मे प्राय: ३१८००० बौद्ध हैं। बौद्धों का दर्शनशास्त्र भी पृथक् है, किंतु उस के यहाँ कथन की आवश्यकता नहीं है।

जैनमत

जैनमत के चलाने वाले महावीर तीर्थंकर ने ५९९ बी० सी० में राजकुल में उत्पन्न हो कर ७२ वर्ष की अवस्था में निर्वाण प्राप्त किया। आप ने ४२ वर्ष की अवस्था में ज्ञान प्राप्त कर के उस का ३० वर्ष प्रचार किया। जैनियों के तीन सिद्धांत हैं, अर्थात् सम्यक् दृष्टि, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् कर्म। इस अंतिम के पाँच उपदेश हैं, अर्थात् सत्यभाषण, अस्तेय, इच्छाध्यान, पवित्रता और अहिंसा। ये लोग ईश्वर को न मानकर तीर्थंकर को ईश्वर मानते हैं। जीव को ये लोग चैतन्य प्रकाशरूप एवं ससीम कहते हैं, तथा स्याद्वाद की प्रधानता रखते हैं। जीव की ससीमता पर ही शंकर स्वामी ने जैन पंडितों को वाद में पराजित किया। यह मत बौद्धमत सा देशव्यापक नहीं हुआ। इस का प्रचार गुजरात, मारवाड़, तथा तामिल प्रांतों में अच्छा हुआ। उत्तरी भारत में शंकर स्वामी तथा ठेठ दक्षिण में स्वामी रामानुजाचार्य द्वारा इस का पतन हुआ।

शाक्तमत

शक्ति का वर्णन वेदों में नहीं है, न उपनिषदों में, केवल 'केनोपनिषत्' मे उमा का नाम आचार्यता के संबंध में आया है। 'महाभारत' में अर्जुन द्वारा इन का पूजन लिखा है। शाक्तमत में अश्लील पूजन अधिकता से है। इस मत की ७२ शाखाओं में केवल ९ दक्षिण हैं, तथा शेष ६३

पूर्ण। इस पूजन में अभी बहुत कुछ उन्नति शेष है। लोगों का विचार है कि शुद्ध वैष्णव मत में राधा का मान शक्ति-पूजन के वाम-विचारों से आया है।

गाणपत्य संप्रदाय

'ऋग्वेद' के ब्रह्मणस्पति सूक्त में गणपति तथा बृहस्पति दोनों ब्रह्मणस्पति कहे गए हैं। 'अथर्व शिरस्' उपनिषत् में यही विनायक भी हैं। 'महाभारत' के अनुशासन पर्व में कई गणेश्वर और विनायक हैं। वे देवता हैं, सर्वत्र प्रस्तुत रहते हैं और मानुषी कर्मों के साक्षी हैं। यही काम मुसलमानों में याजूज माजूज का है। ईसा से पूर्व के ग्रंथ 'मानवगृह्यसूत्र' मे चार विनायक विघ्नकारक हैं। 'याज्ञवल्क्य-स्मृति' में रुद्र ने षट्नामधारी विनायक को गणपति बनाकर उन्हें मनुष्यों के कार्यों में विघ्न डालने का काम सौंपा। इन की माता अंबिका हैं। विघ्न-कारक हो कर भी उपासना करने से ये विघ्न मेटने वाले हो सकते हैं। इसी से शुभ कार्यों के आदि में इन का स्मरण होता है, जिस में कोई विघ्न-बाधा न पड़े। गुप्त-साम्राज्य तथा पीछे का राज्य चौथी से छठी शताब्दी तक चला है। यही समय हमारे यहाँ सत्ययुग सा हो गया है। उस काल के लेखों में इन का वर्णन नहीं है, किंतु एलोरा के मंदिरों में आप प्रस्तुत हैं। ८६२ के एक शिला-लेख में आप को दंडवत् लिखी है। 'महाभारत' में आप व्यास भगवान के लेखक हैं, किंतु यह बात प्रक्षिप्त समझ पड़ती है और इस का समय अनिश्चित है। जान पड़ता है कि छठीं से नवीं शताब्दी के बीच में आप का पूजन-विधान उठा है, यद्यपि नाम 'ऋग्वेद' तथा ईसा से पूर्व वाले 'मानवगृह्यसूत्र' में भी है। छठी शताब्दी के भवभूति इन को गजशिर कहते हैं। इलोरा में भी यह शिर प्रस्तुत है। अनंतानंद गिरि छः गाणपत्य संप्रदाय बतलाते हैं। हेरंबसुत उच्छिष्ट गणपति के उपासक हैं। अब इन का पूजन विघ्नेश के रूप में न हो कर विघ्न-विनाशक विद्वान देवता के विचार से होता है।

विष्णु भगवान

विष्णु का नाम तो 'ऋग्वेद' में भी है, किंतु आप की महिमा इस नाम के अतिरिक्त , वासुदेव, कृष्ण, भगवत् आदि नामों तथा अन्य अव-

तारों के संबंध में अधिक हुई है, और अपने नाम से कम। 'ऋग्वेद' में आप ३३ मुख्य देवताओं मे एक हैं, जहाँ इंद्र के नीचे इन का उपेंद्र पद है। इन के तीन डगों का भी वर्णन है, जिस से पौराणिक वामन की कथा निकली समझ पड़ती है। 'ऋग्वेद' में आप का परमपद है। वहाँ इंद्र से तो ये कम हैं, किंतु रुद्र शिव से बड़े हैं। फिर भी अन्य वेदों में शिव का पद बढ़ा, किंतु विष्णु का नहीं। 'ऐतरेयब्राह्मण' मे अग्नि का सब से नीचा, तथा विष्णु का सब से ऊँचा पद है। 'शतपथब्राह्मण' तथा 'तैत्तिरीय अरण्यक' मे विष्णु देव-मंडली में सर्वश्रेष्ठ हैं। 'शतपथब्राह्मण' में वामन पृथ्वी डगों द्वारा न जीत कर लेटे-लेटे सारे जगत पर फैल जाते हैं और वह देवतों को मिलती है। 'मैत्रेय उपनिषत्' मे भोजन विष्णु का रूप है, तथा 'कठ' में मानुषी उन्नति का चरमोत्कर्ष वैष्णव परमपद की प्राप्ति है। 'महाभारत' विष्णु को परमात्मा कहकर नारायण, कृष्ण और वासुदेव का वर्णन करता है। वैष्णव-मंदिर कम देखे जाते हैं, वाराह, नृसिंह, कृष्ण, राम आदि के बहुत। शेषशायी विष्णु भुवनेश्वर, जगन्नाथपुरी के मंदिर, खजराहो में एवं अन्यत्र भी हैं। युधिष्ठिर के समय वाले नारायण ने 'ऋग्वेद' का पुरुषसूक्त कहा तथा 'यजुर्वेद' का भाग भी बनाया। 'शतपथब्राह्मण' में नारायण परमात्मा से उत्पन्न हैं। ईसा मसीह के ईश्वरीय पितृत्व का विचार कदाचित् यहीं से निकला हो। नारायण ने पंचरात्र का विचार निकाला। ब्रह्मा के वर्णन में आ चुका है कि पहले वे भी नारायण कहलाए। इन का संबंध आदिम जल से है। 'तैत्तिरीय अरण्यक' मे नारायण परमात्मा है। 'महाभारत' उद्योगपर्व मे अर्जुन-कृष्ण नरनारायण हैं। 'महाभारत' के नारायणीय खंड में (जिस का कथन शंकर स्वामी ने भी किया है) नारायण श्वेतद्वीप में नारद को वासुदेव की महिमा सुनाते हैं। यह धर्म पंचरात्र, एकांत, अथवा एकांतिक भी कहलाता है। मरीचि, अत्रि, अंगिरस, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वशिष्ठ (सातों चित्रशिखंडियों) तथा स्वायंभुव ने यह मत सुरक्षित रक्खा। इस में नर नारायण, कृष्ण और हरि, धर्म तथा अहिंसा के पुत्र, एवं परमात्मा के चार रूप माने गए हैं, तथा यह सात्वतों का मत कहा गया है।

अवतारों का वर्णन बौद्धकाल के पहले वाले हिंदू साहित्य में नहीं है

प्रजापति और ब्रह्मा के वर्णनों में उस साहित्य में उन के द्वारा मत्स्य, कच्छ, और वाराह रूपों में कार्य-विशेष का होना मात्र लिखा है। वाल्मीकीय 'रामायण' राम का विवरण देते हुए भी उन्हें अवतार नहीं कहता, किंतु उस ग्रंथ के नवीन भागों में अवतार तथा व्यूह, इन दोनों विश्वासों के कथन हैं। इस से वे नवीन भाग चौथी शताब्दी बी० सी० के पीछे जुड़े समझ पड़ते हैं। 'महाभारत' के नारायणीय खंड में मत्स्य, कच्छ, वाराह, नृसिंह, वामन, परशु-राम, राम, कृष्ण, हंस और कल्कि अवतार कहे गए हैं। 'गीता' में केवल श्रीकृष्ण भगवान हैं और अवतार भी। 'हरिवंश' में छः अवतार हैं, एवं वायु, वाराह, अग्नि और भागवत पुराणों में दश अवतार हैं। इन सब में राम और कृष्ण दोनों अवतार हैं। 'पतंजलिभाष्य' और 'अमरकोष' में राम का नाम नहीं है। भवभूति ने राम को अवतार माना है। माधवाचार्य ने सन् १२६४ में नरहरि तीर्थ को सीताराम की मूर्ति लाने को जगन्नाथपुरी भेजा तथा बदरीनाथ से वे स्वयं राम की मूर्ति लाए।

वैष्णवपूजन के समय

(१) प्राय: ६०० बी० सी० के वैयाकरण पाणिनि वासुदेव को देवता मानते थे, ऐसा विचार व्याकरण के नियमों से पतंजलि भाष्य में लिखते हैं।

(२) 'भगवद्गीता' (प्राय: ५०० बी० सी०) में कृष्ण भगवान विष्णु हैं।

(३) ४०० बी० सी० के बौद्धग्रंथ 'निद्देश' में लोगों द्वारा वासुदेव और बलदेव के पूजन का कथन है। बलदेव का माहात्म्य व्यूहपूजन है।

(४) तीसरी शताब्दी बी० सी० के ग्रीक राजदूत मेगास्थेनीज़ मथुरा मे शौरसेनों द्वारा कृष्णपूजन बतलाते हैं।

(५) दूसरी शताब्दी बी० सी० के पतंजलि वासुदेव को पूज्य देवता मानते हैं।

(६) दूसरी शताब्दी बी० सी० वाला घोसुंडी का शिलालेख संकर्षण और वासुदेव के पूजन-मंडप का बनना कहता है।

(७) दूसरी शताब्दी बी० सी० का बेसनगर वाला शिलालेख वासुदेव का बनना है

(८) पहली शताब्दी बी० सी० का नानाघाट वाला लेख वासुदेव तथा संकर्षण का पूजन बतलाता है।

(९) पहली दूसरी शताब्दी के निकट मथुरा के पास वाले आभीर बालकृष्ण का पूजन करते थे। भण्डारकर महाशय यह समय ईसा के कुछ पीछे का बतलाते हैं।

(१०) 'घटजातक' पहली शताब्दी ईसवी का बौद्धग्रंथ बालकृष्ण की कथा कहता है।

(११) पहली शताब्दी का 'अमरकोष' कृष्ण को दामोदर कहता है। यह नाम बालकृष्ण से संबद्ध है।

(१२) तीसरी शताब्दी के गुप्त महाराजे अपने को परम-भागवत कहते थे।

(१३) सन् ३८३ का एक लेख जनार्दन का ध्वजस्तंभ बनना बतलाता है।

(१४) गुप्त-महाराज चंद्र पाँचवी शताब्दी वाले का कुतुबमीनार के सामने वाला लौहस्तंभ विष्णु का ध्वजस्तंभ था।

(१५) चौथी पाँचवीं शताब्दी का आडवार तामिल वाला संत-संघ वैष्णव गीतों का प्रचार करता था। यह नारायण विष्णु की महिमा गाता था।

(१६) पाँचवीं शताब्दी के कालिदास गोपाल कृष्ण का कथन करते हैं।

(१७) छठी शताब्दी के वराहमिहिर भागवत विष्णु का पूजन लिखते हैं।

(१८) आठवीं शताब्दी के शंकराचार्य से पहले का 'महाभारत' वाला नारायणीय खंड नारायण-द्वारा नारद को एकांतिक मत बतलाता है। व्यूह-पूजन में राम कृष्ण विवेक हैं, लक्ष्मण संकर्षण अहंकार, भरत प्रद्युम्न मन और शत्रुघ्न अनिरुद्ध चित्त।

(१९) सन् १०१३ का 'धर्मपरीक्षा' नामक जैन ग्रंथ राम और बुद्ध का अवतार माना जाना बतलाता है।

प्रयोजन यह निकलता है कि विष्णु वैदिक देवता उपेंद्र थे। इन का माहात्म्य अन्य वेदों में न बढ़ा तथा उपनिषदों में नारायण के नाम से ये कहीं परमात्मा से उत्पन्न कहे गए और कहीं स्वयं परमात्मा। बौद्धकाल के आरंभ से वासुदेव के नाम की महिमा बढ़ी, तथा 'गीता' में और कृष्ण के नामों

से भी आप परमात्मा कहे गए। श्रीकृष्ण 'गीता' में अपने को प्रायः परमात्मा कहते हैं और कहीं कहीं अवतार भी। मुख्य विचार अवतार ही का है, क्योंकि अवतार भी परमात्मा है ही और वे मनुष्य थे ही। आगे चलकर पौराणिक साहित्य में त्रिमूर्ति का विचार दृढ़ हुआ, जिस में पालक होकर परमात्मा के तीन भावों में आप एक हुए। अठारह मुख्य पुराणों में छः वैष्णव हैं और इतने ही शैव। पुराणों मे विष्णु और शिव दोनों की महिमा बड़ी है, किंतु वैष्णव पुराण शैव पुराणों से अधिक गंभीर और पंडितों में सर्वमान्य है। इन कारणों से पौराणिक समय के विष्णु ही मुख्य देवता माने जा सकते हैं। परमेश्वर पर विचार पुराणों में कम है, तथा त्रिदेव पर विशेष। वैष्णव-धर्म में अवतारों पर विशेष बल है, स्वयं विष्णु का कम। अवतार हैं शिव के भी, किंतु उन की महत्ता कम है।

गीता

श्रीभगवद्गीता सात सौ श्लोकों का एक ग्रंथ है। हिंदू धार्मिक साहित्य में इस से बढ़ कर क्या बराबर भी कोई ग्रंथ नही है। इस की टीका-टिप्पणी के बहुतेरे ग्रंथ प्रस्तुत हैं, और लोगों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार अनेक प्रकार के अर्थ लगाए हैं। वैदिक साहित्य एक ढर्रे से चल रहा था, कि इतने ही में उस के प्रतिकूल विद्रोह उपस्थित हो गया, जिस से ईश्वरवाद ही संशय से पड़ गया। इस पर सगुणवाद लेकर बादरायण व्यास ने डूबते हुए ईश्वरवाद को उबारा। निर्गुणवाद व्यास भगवान ने छोड़ा नहीं, वरन् उस के साथ सगुण-वाद मिला दिया, और महात्मा बुद्धदेव के कर्तव्य-पालन, जाति-पाँति की समता आदि के मान्य सिद्धांत ग्रहण करके हिंदूधर्म का ऐसा सर्वमान्य नवीन संस्करण निकाला, जो थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ अब तक चल रहा है। भारत में बौद्धमत-पतन, ईश्वरता का दृढ़ स्थिरीकरण, तथा औपनिषत्-ज्ञान का मान करते हुए सगुणवाद-स्थापन का श्रेय आप ही को प्राप्त है। हम ने स्वयं 'गीता' का सार प्रायः २० पृष्ठों में प्रकाशित किया है, किंतु यहाँ पर बहुत थोड़े में विचार प्रकट करना आवश्यक है। 'गीता' कर्मयोग पर बल लगा कर कर्तव्य को देती है कर्तव्य के आगे 'गीता' निरग्नि तथा अक्रिय

का मान नहीं करती (स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्नचाक्रियः)
ा का कथन करते हुए 'गीता' फलों की लालसा छोड़ कर केवल कर्तव्य
न करती है। ऐसे स्थानों पर 'गीता' पर बौद्ध विचारों का प्रभाव समभ
है। अवतार के विषय में 'गीता' का निम्न कथन है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अयुत्थ्यानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहं॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतां।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

जब जब धरम गलानि दुख दानि होति
अधरम दारुण प्रबलता धरत है।
साधुन के छीन त्यों असाधुन के पीन परे
परम प्रगाढ़ जग संकट परत है॥
तब तब धारि अवतार जगदीस दीह
पापन के पुंज को पराभव करत है।
खलन संहारि औ उधारि साधु जुग जुग
सुधरम थापि जग आनंद भरत है॥

अवतार को मानते हुए भी 'गीता' का कथन है कि—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यंते मामबुद्धयः।
परं भावमजानंतो ममाव्ययमनुत्तमम्॥ (गीता ७, २४)

बुद्धिहीन लोग मेरा बड़ा, नित्य तथा अत्युत्तम विचार न जानक
'ज्ञेय को व्यक्ति में प्राप्त मानते हैं। प्रयोजन यह है कि ईश्वरीय सम-
अवतार तक में नहीं आ सकता वरन् उस में ईश्वरांश की विशेषत
है। अनंतर भगवान कहते हैं—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥ (गीता १०, ४१)

इसी विचार से आप का कथन है कि "वृष्णीणां वासुदेवोस्मि पांडवान
r" भक्ति के विषय में भी "न मे भक्त प्रणश्यति" का वचन आर

है। जो लोग अन्य देवताओं का भजन करते हैं, "तेऽपि मामेव कौंतेय भजंत्यविधिपूर्वकम्", किंतु ईश्वर का सच्चा ज्ञान न रखने से "तत्त्वेनात-श्च्यवंति ते।" अतएव 'गीता' एक परमेश्वर को पूज्य मानती है, किसी इतर को नहीं। उस की भक्ति के विषय में आया है कि "पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियार्हसि देव सोढुम्"। अतएव यहाँ पिता, पति और सखा-भाव से भक्ति का कथन आ गया है। अब यह प्रश्न उठता है कि 'गीता' का पूज्य ईश्वर कौन है ? हमारी समझ में वह विष्णु भगवान् हैं। 'गीता' में ग्यारहवें अध्याय मे विराट् रूप के विषय में निम्न कथन आया है—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १ ॥
रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गंधर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्ष्यंते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २ ॥
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमंतम् ॥ ३ ॥
स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ॥ ४ ॥
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ॥ ५ ॥
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ६ ॥
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितांतरात्मा धृतिं न विंदामि शमं च विष्णो ॥ ७ ॥
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपंति विष्णो ॥ ८ ॥

यहाँ पहले श्लोक में ब्रह्मा और दूसरे में रुद्र इस रूप के अंतर्गत होकर इस से न्यून माने गए हैं, किंतु विष्णु का ऐसा कथन न हुआ। 'गीता' त्रिदेव का वर्णन न कर के विष्णु का परमात्मा के रूप में करती है। तीसरे श्लोकांश में किरीट, गदा और चक्र, जो विष्णु से संबद्ध हैं, आदि पुरुष के विषय में दिखलाए गए हैं। श्लोकांश ४ व ५ में इस के विषय में हृषीकेश और पुरुष-पुरातन के कथन आए हैं, जो विष्णु के नाम हैं। नंबर ६ में उन का विष्णु के समान चतुर्भुज होना कहा गया है, तथा नंबर ७ व ८ में वे विष्णु कर के संबोधित ही हुए हैं अतएव प्रकट ही है कि यह विश्वमूर्ति विष्णु ही है

'गीता' में और भी अनेकानेक उपदेश हैं, किंतु यहाँ उपरोक्त ही पर्याप्त होंगे। उस में जीवात्मा अव्यय कहा गया है।

पुराण-ग्रंथ

वैदिक साहित्य हमारे ऋषियों ने स्मरण-शक्ति द्वारा रक्षित रक्खा; उसे लिपिबद्ध न किया। जैसे ब्राह्मणों ने वैदिक साहित्य कंठाग्र रक्खा, वैसे ही सूतों ने ऐतिहासिक मसाला बचाया। कहते हैं कि जब पंद्रहवीं शताब्दी बी० सी० मे भगवान कृष्ण द्वैपायन व्यास ने वेदों का संपादन करके उन्हे एक से चार किया, और वे भाग अपने शिष्यों मे बाँटे, तब उन्हों ने लोमहर्षण सूत को इतिहास का विषय दिया। इन लोमहर्षण के अकृतव्रण, मैत्रेय और शिशुपायन नामक तीन शिष्य थे। इन चारों ने मिल कर चार मीमांसा-ग्रंथ रचे, जिन में उस काल तक का ऐतिहासिक मसाला दृढ़ हुआ। यह 'विष्णु-पुराण' का कथन है। अनंतर नवीन घटनाएँ इन में जुड़ती गईं, जिस से समय पर प्राकृतिक पुराण बने, जो प्राकृत भाषा में थे। इन का मान राजाओं, स्त्रियों और शूद्रों में अच्छा हुआ। सोचा जाता है कि दसवीं शताब्दी बी० सी० से अपने यहाँ लेखन का विशेष प्रचार हुआ। बौद्धसाहित्य में उस काल यह खूब प्रचलित पाया जाता है। सातवी शताब्दी बी० सी० में यहाँ वाल्मीकीय 'रामायण', 'जय' तथा 'मनुस्मृति' नामक तीन ग्रथ बने। 'रामायण' में बाल और उत्तरकांड पीछे से जुड़े, तथा दो चार श्लोक मात्र इधर उधर जोड़े गए। शेष 'रामायण' अपने मूल-रूप में अब भी होने से उस काल की सभ्यता का बहुत ही शुद्ध एवं पूर्ण चित्र हमारे सामने उपस्थित होता है। 'जय' बढ़ते-बढ़ते 'भारत' और फिर 'महाभारत' हो गया। 'मनुस्मृति' भी खूब बढ़ी। इन दोनों ग्रंथों की आदिम शुद्धता नष्ट हो चुकी है। अनंतर 'भगवद्गीता' बनी, जो बहुत ही उत्कृष्ट ग्रंथ है। इस के पीछे १८ पुराण, १८ उपपुराण तथा 'हरिवंश' एवं 'महाभारत' ग्रंथ पूर्ण हुए। इन में 'विष्णु-पुराण', 'भविष्य-पुराण', 'अग्नि-पुराण', 'ब्रह्मांड-पुराण', 'लिंग-पुराण', 'महाभारत', 'हरिवंश' और 'भागवत' बड़े उच्च श्रेणी के ग्रंथ हैं पंडितों का कथन है कि ये ग्रंथ प्राय दूसरी शताब्दी

के निकट बने। पहली शताब्दी के 'अमरकोष' में पुराण का लक्षण दिया है। उस समय कई पुराणग्रंथ अवश्य होंगे। उस लक्षण पर अकेला 'विष्णु-पुराण' पूरा बैठता है। कुछ पुराणों मे सोलहवीं शताब्दी तक की कथाएँ हैं। जब बौद्धमत के आघातों से वैदिक साहित्य का मान देश में घटा, तब पुराणो का महत्त्व बढ़ा और पंडितों ने संस्कृत में उत्कृष्ट साहित्यपूर्ण उपरोक्त ग्रंथ बनाए, जिस से प्राकृत पुराण नष्ट हो गए। 'हरिवंश' और 'महाभारत' पुराण न कहला कर इतिहास कहे जाते हैं। वैदिक साहित्य में घटनाएँ क्रमबद्ध नही है, और हैं भी कम। इधर पुराणों का विषय ही इतिहास है। बौद्ध और जैन साहित्य से भी बहुतेरी बहुमूल्य घटनाएँ प्राप्त होती हैं। कहते हैं कि छितरे हुए पौराणिक मसाले का गुप्त-काल में सुसंपादन होकर पुराणों के वर्तमान रूप बहुत करके स्थिर हुए। इस से पीछे के क्षेपक थोड़े ही से हैं।

पाश्चात्य एशिया के धार्मिक विचार

पाश्चात्य एशिया में तीन प्रधान धार्मिक प्रदेश थे, अर्थात् फ़ारस, पैलेस्टाइन (राजधानी जेरूज़लम) और मक्का। फ़ारस मे पारसियों का धर्म प्रधान था, जिस में अग्निपूजन की मुख्यता है। इस का धार्मिक ग्रंथ 'जेन्दा-वस्ता' देव, समाज, भाषा और भाव चारों में हमारे 'ऋग्वेद' से कुछ कुछ मिलता है। पारसियों के मुख्य ऋषि ज़ूरास्टर थे। अब यह मत प्रधानतया केवल भारतीय पारसियों मे शेष है, जहाँ इन की संख्या तीस पैंतीस सहस्र मात्र है। भारत में ये लोग गऊ और गंगा को भी मानते हैं, और वैवाहिक रीतियों में ब्राह्मण पंडितों को भी बुलाते हैं। फ़ारस प्रायः १२०० वर्षों से शिया मुसल-मान है। बलूचिस्तान और अफ़ग़ास्तिान प्रायः दसवीं शताब्दी तक हिंदू तथा बौद्ध देश थे, और पीछे से इन्हों ने सुन्नी मुसल्मान मत ग्रहण कर लिया।

पैलेस्टाइन में १२४००० नबी हुए हैं तथा कई पैग़ंबर, जिन में इब्राहीम ने एकेश्वरवाद सिखलाया और कई प्रसिद्ध धार्मिक आज्ञाएँ प्रचारित की। इन की छोटी सी धर्मपुस्तक 'सहीफ़ा इब्राहीमी' कहलाती है। इस की गणना चार मुख्य किताबों में नहीं है इसराईल वहाँ एक प्रधान व्यक्ति हुए हैं,

जिन की संतान बनी इसराईल कहलाती है। इसराईल के बारह पुत्रों में यूसुफ मुख्य थे। किसी दुर्भिक्ष के कारण वे मिश्र (ईजिप्ट) चले गए। वहाँ एक स्वप्न के अर्थ लगाने से बादशाह ने प्रसन्न हो कर इन्हें राजमंत्री बनाया। पीछे इन के पिता और भाई भी वहीं पहुँचे। बहुत पीढ़ियों तक यह वंश मिश्र ही मे रहा। अनंतर इन पर राजकोप हुआ। इन के तत्कालीन नेता मूसा वहाँ से पैलेस्टाइन जाने को जब उद्यत हुए, तो शाह ने इस मे बाधा डाली। इस पर वहाँ के पादरियों और मूसा में करामात (असंभव घटनाएँ) दिखलाने की होड़ हुई, जिस में मूसा विजयी हुए। अनंतर ये हज़ारो भाई बंदों को ले कर समुद्र पार स्वदेश को जाने लगे, तो शाह ने इन का पीछा किया। ये तो समुद्र पार हो गए किंतु शाह ससैन उसी में डूब मरा। मूसा का ईश्वर से व्यक्तिगत संबंध बहुत अधिकता से वर्णित है। आप ने इब्राहीम के एकेश्वरवाद तथा कुछ आज्ञाओं को तो स्थापित रक्खा, किंतु भोजन तथा आचार-संबंधी बहुत से नियम बनाए। इन की प्रसिद्ध दस आज्ञायें भी हैं। इब्राहीम और मूसा का मत जूडाइज़्म (यहूदियों का मत) कहलाता है। इन्हे लोग मूसवी या मूसाई भी कहते हैं। तौरीत[1] मूसा की धार्मिक पुस्तक है। मूसा पर मिश्र देश के मत का भी बहुत कुछ प्रभाव पड़ा।

अनंतर एक बौद्धमठ भी बैबिलोन में स्थापित हुआ, जिस के प्रभाव से जूडाइज़्म में नए विचार आने लगे। दाऊद को भी मुसलमान लोग साहेबे-किताब समझते और 'ज़बूर' इन की पुस्तक बतलाते है। यह वास्तव मे कोई पुस्तक नही है। तौरीत मे जो दाऊद की शिक्षाएँ लिखित हैं, वे ही ज़बूर मानी जा सकती हैं। दाऊदी कोई मत विशेष नहीं है। दाऊद भी मूसवियों मे एक पैग़ंबर थे तथा इन के पुत्र सुलैमान भी। जॉन दि बैप्टिस्ट भी एक अप्रधान पैग़ंबर हुए जो ईसा से प्रायः १०० वर्ष पूर्ववर्ती थे। यहूदियों ने मत-पार्थक्य के कारण इन का वध करा डाला। अनंतर ईसा मसीह का जन्म हुआ। इन के पूर्व मिश्र देश में बौद्ध-त्रिरत्न के ढंग पर त्रिदेवत्व स्थापित हो चुका था। ईसा

---

[1] Old Testament

मसीह ने ईश्वर के पितृत्व का भाव निकाला और यह कहा कि मानुषीय पापों के कारण दया-बाहुल्य से ईश्वर बहुत दुःखी रहता है। ईसाइयों का यह भी मत है कि परोपकार के कारण ईश्वर ने अपने पुत्र ईसा की बलि करा कर मनुष्य मात्र का उद्धार किया। महात्मा ईसा ने खान-पान-संबंधी नियमोपनियम अनावश्यक मान कर यह विधान डाक्टरी मत का मुखापेक्षी बतलाया, अर्थात् यह कहा कि जो वस्तु जिस के स्वास्थ्य को लाभकर हो वह उसे खा सकता है। इन्हीं के नाम पर ईसाई सन् चलता है। आप का मुख्य सिद्धांत क्षमा का था। औरों के साथ वैसा ही बर्ताव करो जैसा कि अपने प्रति उन का व्यवहार चाहते हो। यदि कोई एक गाल में तमाचा मारे तो बदला लेने के स्थान पर दूसरा गाल भी उस की ओर कर दो। कर्तव्य-पक्ष की आप ने ऐसी शिक्षा दी। कहा जाता है कि ईसाई धर्म भक्ति-प्रेमपूर्ण है। ईसा के कई बालचरित्र कृष्ण के ऐसे ही चरित्रों से मिलते है। हमारे यहाँ बालकृष्ण का पूजन पहली शताब्दी ईसवी में प्रचलित था। कुछ लोगों का कथन है कि यह पूजन-विधान ईसाई विचारों से यहाँ आया है। उस काल विचार इतनी शीघ्रता से नहीं फैलते थे, जिस से ये दोनों पूजन एक-से, अथच स्वतंत्र समझ पड़ते हैं। यदि ईसाई पूजन का कुछ प्रभाव पड़ा हो तो भी असंभव नहीं। अपने यहाँ बाल-चरित्रों के प्राचीनतम पूजक आभीर लोग थे, जो असीरिया (पाश्चात्य एशिया) से आए हुए कहे भी जाते हैं। अवनति करते-करते वही अब अहीर हो गए हैं। भगवान् कृष्ण का बाल-काल आभीरों मे ही बीता था, सो उन मे बालकृष्ण का पूजन स्वाभाविक था। यह भी कहा जाता है कि शुद्ध भक्ति भारत मे पहले-पहल स्वामी रामानुजाचार्य ही ने चलाई। स्वर्गवासिनी डाक्टर एनी बेसेंट का कथन था कि वे स्वामीजी ईसा के अवतार थे। पितृभाव की भक्ति हमारे यहाँ नवीन न थी, वरन् स्वयं 'गीता' में कथित है। हमारे यहाँ ऋषियों ने शांत, सख्य, शृंगार, वात्सल्य और दास्य भावों से भक्ति का वर्णन किया है। प्रह्लाद तथा ध्रुव की भक्ति ऐसी ही शांत कही गई है। दास्य-भाव की भक्ति हजरत मोहम्मद, गोस्वामी , हनुमान आदि की थी

पापों की क्षमा

पाश्चात्य धर्मों में स्वीकार[1] द्वारा पाप-मोचन का भी विधान यहूदी तथा ईसाई मतों में था। मुसल्मानी मत में यह तौबा के रूप में है। कवियों ने लिखा भी है कि—

रात को ख़ूब-सी पी,
सुब्ह को तौबा कर ली।
रिंद के रिंद रहे,
हाथ से जन्नत न गई।

हमारे यहाँ यह विचार प्राचीन ग्रंथों में न था, यहाँ तक कि 'कन्फ़ेशन' और 'तौबा' का पर्याय-वाची हमारे यहाँ कोई नियत शब्द तक नहीं है। फिर भी इस प्रकार से पाप-शमन निर्बल-चित्त के लोगों को बहुत पसंद आया, जिस से गंगा, यमुना आदि के स्नानों से पापभार्जन की चाल हमारे यहाँ भी पाश्चात्यों से सीख कर लोगों ने निकाली। गंगा यमुना के नाम 'ऋग्वेद' में आए तो हैं, किंतु दो ही तीन बार। सरस्वती, विपाशा (व्यासा) आदि के नाम वहाँ बहुत हैं। उन से मार्ग आदि देने के लिए प्रार्थनाएँ भी की गई हैं, किंतु पाप काटने के लिए नहीं। पीछे के वैदिक साहित्य मे उन की इतनी भी विनतियाँ नहीं है। 'गीता' में यमुना आदि का तो नाम नही है, किंतु महत्ता के कथन मे गंगा का है। तथापि पापमोचन का लटका वहाँ भी नहीं। पीछे के नवीन पौराणिक साहित्य में ऐसे कथन आ गए हैं। कदाचित् कुछ अदृढ़चित्त लोगों को समझ पड़ता हो कि पाप के लिए दंड मिलना बहुत ही अनुचित है। पाप तीन प्रकार के होते हैं। एक तो अन्यों के ऊपर अपराध-संबंधी, दूसरे अपने ही ऊपर अपराध-संबंधी, और तीसरे माने हुए शास्त्रों में कथित विधिनिषेध-संबंधी। पहले और दूसरे प्रकार के पातक वास्तविक हैं और उन के बढ़ने से संसार-परिचालन में त्रुटि आती है। यदि इन के

[1] Confession

विषय में दंड-विधान लुप्त हो जावे तो संसार बिगड़ेगा। इस बिगाड़ की मात्रा पातकों की मात्रा और उद्दंडता के अनुसार न्यूनाधिक होगी, किंतु पापों का भय दूर होने से संसार का बिगाड़ ध्रुव है। या तो हत्यारे को दंड मिले, या हत्या के भय की कमी से भावी हत्यारों द्वारा दोषरहित मनुष्यों का वध हो। अनावश्यक दंड कोई नहीं चाहता, किंतु उस की आवश्यकता के कारण वह अनिवार्य समझा जाता है। तीसरे प्रकार का वह पाप है जो पहले दोनों प्रकारों से असंबद्ध हो। वह वास्तव में दंड्य है नहीं, और यदि गंगाजी ऐसे पापों को काटें तो अच्छा ही करें। इसी तीसरे प्रकार के थोथे पाप काटने की इच्छा से ही बहुतेरे लोग प्रथम दो श्रेणियों के वास्तविक पापों को भी कुछ अंशों में भूल-से जाते हैं।

तौबा और पाप-स्वीकृति का वास्तविक प्रयोजन यही है कि इसी प्रकार से लोग भविष्य के पापों से बचे। जितने पाप हो गए, वे तो भोगने ही पड़ेंगे, केवल इस रीति से भविष्य के लिए चरित्र-शुद्धिकरण का बहाना समझा जाता है। फिर भी अधिक संख्या में लोग इन आज्ञाओं से पाप का भय मात्र छोड़ते हैं, और भविष्य के लिए जैसे के तैसे पापी बने रहते हैं। इन्हीं विचारों के प्रभाव से हमारे यहाँ और भी सुगमता आ गई है और पाप-स्वीकार तथा वास्तविक पश्चात्ताप-पूर्ण तौबा की भी आवश्यकता न रही। केवल एक डुबकी लगा ली और सारे पाप जल कर राख हो गए। स्वीकृति और वास्तविक पश्चात्ताप तक के कष्ट न रहे। एक बार गया कर ली और सात पुश्तों के पूर्वपुरुष तथा पुत्र-पौत्र तर चुके। यदि हमारे पिता गया कर चुके हैं तो हम जन्म भर कितने ही घोर से घोर पाप करें, तरे बैठे ही हैं। कवियों ने यहाँ तक कह डाला कि—

कुरु मन पातकमखिलं भयमिहनैव।
जह्नुसुता यदि विलसति भूमिगतैव॥

* * *

मोहिं तुम्हें बाढ़ी बहस, को जीतै ब्रजराज।
अपने अपने बिरद की दुहुन निबाहब लाज॥

पातकी पावक हौ तुम राम रहैं हम पातक के मद माते।
याते डरैं न रहैं निसिवासर हैं हमते तुमते बहु नाते॥

मानों भगवान कसम खाए बैठे हैं कि कितनी भी हत्याएँ करो, डाके डालो, पराई स्त्रियाँ छीनो, तारना हमें है ही। मरती बार एक बार राम-राम कह दो और सीधे बैकुंठ चले जाओ। ऐसा सीधा लटका छोड़कर जीवन-पर्यंत पापों से बचने का षट्राग कौन सिर लगावे? निदान समझना चाहिए कि ऐसे थोथे विचार अपने नहीं हैं, वरन् बाहर से आए हैं, और उन लोगों के भी ऊँचे विचारों मे से नहीं हैं।

पाश्चात्य धर्म

अब पाश्चात्य धर्मों के विषय पर हम फिर से आते हैं। ईसा मसीह ने तेईस वर्ष साधारण जीवन बिताया। अनंतर सात वर्ष वे क्या करते रहे, सो अज्ञात है। कुछ लोगों का कथन है कि इन दिनों उन्हों ने भारत में आकर यहाँ के धार्मिक विचारों का अनुशीलन किया। यह कथन कोरी संभवनीयता पर अवलंबित होने से अनैतिहासिक है। अनंतर तीस वर्ष की अवस्था से धर्म-प्रचार का कार्य आरंभ करके वे प्राय: पाँच साल यही काम पैलेस्टाइन में करते रहे और तब धार्मिक तथा राजनीतिक पार्थक्य के कारण यहूदी शासकों ने इन्हें क्रास पर बलि चढ़ा दिया। धार्मिक प्रचार के अतिरिक्त आप वैद्यक भी बड़े मार्के की करते थे। यहाँ तक कहा गया है कि इन के छू देने तक से बहुतेरे असाध्य रोगी अच्छे हो गए। चरित्र भी इनका बहुत ऊँचा था। इन कारणों से तथा शासकों के अत्याचारों से, लोग बहु-संख्या में इन के पीछे लगे रहते थे। अतएव इन की भलाइयों के कारण शासकों के प्रतिकूल प्रजा का असंतोष बढ़ता था। यह शासकों के अत्याचारों की अमान्यता पर भी बल देते थे। इसीलिए इन्हें क्रास पर चढ़ाने की आज्ञा हुई। कुछ दिनों तक आप छिपे रहे। अंत मे बारह शिष्यों के साथ एक भोज में संमिलित हुए। तेरहवें आप थे। इन्हीं में से किसी ने पुलीस को पता दे दिया और इन का अंत हो गया इसी से ईसाइयों में तेरह की संख्या अशुम मानी जाती

है। कहते हैं कि तीन दिन पीछे आप फिर जीवित हो गए और कुछ दिनों तक इधर उधर लोगों से मिलते रहे। अंत मे चालीसवें दिन निश्चित-रीत्या चल बसे। आप मैरी नाम्नी बे-व्याही माता के पुत्र थे। जोज़ेफ़ आप के पिता कहे जाते हैं। पुनर्जीवन के विषय में कुछ लोगों का कथन है कि इन के भाई इन्हीं के-से थे, सो उन्हें देखकर ऐसा भ्रम कुछ लोगों को हुआ होगा। कुछ अन्यों का विचार है कि क्रास पर आप सक्षत तो हो गए होंगे किंतु मरे न होंगे। किसी ने इन्हें उतार लिया होगा और चालीस दिन पीछे इन की मृत्यु हुई होगी। ईसा के बारह शिष्यों मे से एक टॉमस भारत में धर्म-प्रचारार्थ आकर मदरास प्रांत में रहा। उस के पूर्व से ही प्रायः दस हज़ार यहूदियों का वहाँ बस जाना कहा गया है। संभवतः उन्हीं के बीच टॉमस भी रहे होंगे, परंतु उन की अपमृत्यु हो गई और उन का कोई प्रभाव भारत पर न पड़ा। महात्मा ईसा ने त्रिदेव का विचार न चलाया। इन के पीछे कुछ ईसाइयों का सिद्धांत हुआ कि ईसा और मसीह दो आत्मा थे। जब ईसा ने धर्म प्रचार आरंभ किया तब मसीह उन के शरीर में प्रविष्ट हुए और क्रास के पूर्व उन्हें छोड़ गए। यह विचार ईसाइयों मे चल न सका। अनंतर ईजिप्ट (मिश्र देश) में जो त्रिदेव का विचार था, वह ईसाई मत में वहीं से उठकर आया, जिस के अनुसार पिता, पुत्र और पवित्रात्मा त्रिदेव हुए। कुछ ईसाइयों का कथन है कि भारत मे अवतार का विचार पैग़ंबरवाद से आया है, किंतु यह अपने यहाँ 'गीता' के समय से चल रहा है, जब कि पैग़ंबरवाद का पता भी न था। वास्तव में स्वयं पैग़ंबरवाद अवतार से निकला हुआ जान पड़ता है। ईसाई मत में कैथलिक और प्रोटेस्टैंट की दो प्रधान शाखाएँ हैं। कैथलिक प्रतिमा-पूजक हैं किंतु प्रोटेस्टैंट नहीं। रोम के पोप कैथलिक लोगों के प्रधान पादड़ी हैं। जर्मनी के लूथर ने प्रोटेस्टैंट मत चलाया। ईसाई धर्म की अनेकानेक उपशाखाएँ हैं। इंजील[१] ईसाइयों की धर्मपुस्तक है। इंजील और तौरीत[२] मिल-कर बाइबुल है। मुसल्मान लोग चार महाशयों को साहबे-किताब मानते हैं,

---

[१] New Testament [२] Old Testament

अर्थात् मूसा, दाऊद, ईसा और मोहम्मद को। ये चारों पैग़ंबर भी हैं। इन के अतिरिक्त और बहुत से पैग़ंबर हैं। अब मुसल्मानी मत का कथन चलता है।

मदीना और मक्का से संबद्ध अरब प्रदेश तथा तुर्किस्तान मे प्रतिमा-पूजन का बड़ा बल था। तुर्क-प्रदेश के ही बादशाह् कनिष्क बनारस से लेकर फ़ारस तक के शासक थे। पेशावर इन की राजधानी थी। इन के पूर्व भारत में तीसवीं चालीसवीं शताब्दी बी० सी० में हरप्पा और महेंजो दारो के अनुसार शिवलिंग-पूजन अनार्यों में प्रचलित था। वैदिक आर्यों ने प्रतिमा-पूजन की निंदा की। यही दशा औपनिषत्काल मे रही, केवल 'सदविंश उपनिषत्' में दैवत प्रतिमाओं के हँसने, रोने आदि के कथन हैं, जिन से प्रतिमा-पूजन अनार्यों में ही समझ पड़ता है, जैसा कि अन्यत्र कहा जावेगा। बौद्धमत-प्रचार से आर्यों मे भी प्रतिमा-पूजन बढ़ा और तुर्क-शासन से उस में बहुत वृद्धि हुई। अतएव प्रतिमा-पूजन भारतीय विधान तो था, किंतु पाश्चात्य एशिया के प्रभाव से हमारे यहाँ इस की वृद्धि बहुत हुई। हज़रत मोहम्मद उस वंश मे उत्पन्न हुए जो प्रतिमा-पूजकों का मुख्य गुरु था। आप के पूर्वपुरुष मक्के के प्रसिद्ध पूजनालय के पुजारी थे। आप ने जेरूजलम के मतो की मुख्यता पर श्रद्धा रक्खी, और प्रतिमा से संबद्ध देवताओ को छोड़ कर एकेश्वरवाद को ग्रहण किया। यहूदी मत का कथन था कि एक पैग़ंबर भविष्य में होने को है। आप ने कहा कि मैं वही होने वाला पैग़ंबर हूँ। यहूदियों को भी अपने नवीन मत मे समेटने के विचार से आप ने उन के खानपान-संबंधी नियम थोड़े ही से परि-वर्तन के साथ मान लिए, तथा इब्राहीम को अपना पूर्वपुरुष बतलाया। यद्यपि इस कथन में ऐतिहासिक तथ्य नहीं समझा जाता। ईसाई मत भक्तिपूर्ण एकेश्वरवाद को लिए हुए प्रधानतया कर्तव्य पर चलता था।

महात्मा मोहम्मद ने एकेश्वरवाद पर आधारित अपना कल्मा तो रक्खा, किंतु यहूदियों के नियम लेकर प्रधानतया विश्वासात्मक मुस्लिम धर्म चलाया। इस पर भी यहूदियों ने आप को पैग़ंबर न माना और अंत में उन को प्रसन्न करने का प्रयत्न भी इन्हों ने छोड दिया। इन्हों ने अपने पैतृक विचारों में जो भारी परिवर्तन किया, उस से मदीने में विभ्राट् का प्रारंभ हुआ इस गड़बड़ में

तर्कों के अतिरिक्त शस्त्रास्त्र-प्रहार की नौबत आई, जिस से दुःखित हो कर आप को मदीने से मक्के जाना पड़ा। यह घटना सन् ६२२ की है, जिस से मुसल्मानी हिजरी सन् का प्रारंभ होता है। धर्म-संबंधी मामलों मे शस्त्रास्त्र-प्रहार का झगड़ा दूसरों के कारण से उठा, किंतु मक्के में जाकर आप ने भी उसे चलाया या आप को वह परिस्थितियों के कारण चलाना पड़ा। जो हो, मुस्लिम धर्म-वृद्धि में बल-प्रयोग चल अवश्य पड़ा। मक्के में प्रसिद्ध प्रतिमालय था। वहाँ प्रबल पड़कर महात्मा मोहम्मद ने प्रतिमाएँ तोड़वा डालीं और उसी को अपने मत का पूजनालय बनाया। एक काला पत्थर उस मे ऐसा था जिस का पूजक चुंबन किया करते थे। यह रस्म आप ने मुसल्मानो के लिए भी जारी रक्खी। वहाँ हर साल एक मेला हुआ करता था। यह भी स्थापित रहा। उस मे अब भी मुसल्मान लोग मेले भर खटमल, मक्खी आदि तक की जीवहिंसा नहीं करते, केवल एक ऊँट की बलि दी जाती है। वहाँ पुरुष लोग बाल मुँड़वाते हैं तथा स्त्रियाँ थोड़ी सी लट कटवा डालती हैं। ये रीतियाँ हिंदुओं के तीर्थों से मिलती है। इंजील के पुराने खंड तौरीत में यहूदियों का धर्म कथित है। नए भाग में ईसाइयों का और क़ुरान में मुसल्मानों का। ज़बूर दाऊद की पुस्तक मानी गई है। यही चारों मुख्य धर्मपुस्तके हैं तथा मूसा, दाऊद, ईसा और मोहम्मद मुख्य पैग़ंबर। इन्हीं पुस्तकों मे से किसी को मानने वाले किताबी है।

महात्मा मोहम्मद ने प्रतिमा के प्रतिकूल बहुत कड़ाई से उपदेश दिया। एकेश्वरवाद तथा मोहम्मद का बसीठीपन, ये दोनों सिद्धांत मुसल्मानी मत के मुख्यांग हैं। ला इलाह इल्लिल्लाह, मोहम्मद रसूलिल्लाह (सिवा ईश्वर के कोई सबल नहीं, मोहम्मद ईश्वर के बसीठी हैं) इस मत का कल्मा है। जो इसे न माने, वह मुसल्मान नहीं। इस का पहला भाग तो 'केनोपनिषत्' का मुख्यांग है, केवल पैग़ंबरपन नया है। मोहम्मद के पीछे उत्तराधिकार का झगड़ा उठा, जिस से इस मत में सुन्नी, शिया के दो भाग हो गए। सुन्नी अबूबक्र, उमर, उस्मान और रसूल के दामाद एवं चचेरे भाई अली को ख़लीफ़ा मानते हैं और शिया उन्हीं अली तथा तत्पुत्र हसन और हुसैन को वे प्रथम तीन सुन्नी ख़लीफ़ाओं को ग़ासिब कहते हैं तथा उन पर

तबर्रा बोलते हैं, जिस से सुन्नी शियाओं के झगड़े भी हो जाते हैं। जब अरबों ने फ़ारस को जीता, तब फ़ारसी राजकुमारी बानो का हुसैन से विवाह हुआ। हसन के तथा इसी विवाह के वंशधर पैग़बर के संतान हैं। फ़ारस वाले अपनी राजकुमारी के कारण शिया हुए। इस प्रकार अधिकतर फ़ारसी मुसल्मान शिया हैं और अरबी एवं शेष मुसल्मान सुन्नी। प्रायः दो सौ वर्षों के पीछे मुसल्मानों में सूफ़ीवाद चला, जो सिंध में आकर हिंदू अद्वैतवाद से प्रभावित हो कर समय पर अहिंसा की ओर भी झुका। सूफ़ी इब्न महाशय जीवात्मा और परमात्मा को ब्रह्म की सत्ता के दो पटल मानते हैं। सूफ़ीमत मनुष्य में नफ़्स (इंद्रिय), रूह (आत्मा), क़ल्ब (हृदय) और अक़्ल (बुद्धि) मानता है तथा इंद्रियदमन श्रेय बतलाता है। कल्ब और रूह द्वारा साधन का कार्य चलता है। क़ल्ब पर प्रतिबिंब पड़ने से मनुष्य को बाह्य वस्तुओं का ज्ञान होता है। बुद्धि ज्ञान की मुख्य साधिका है। सूफ़ी लोग चार जगत मानते हैं, अर्थात् आलमे नासूत (भौतिक जगत), आलमे मलकूत या अरवाह (चित् जगत), आलमे जबरूत (आनंदलोक) तथा आलमे लाहूत (सत्संसार या ब्रह्मलोक)। क़ल्बवाला सिद्धांत हमारे बिंब-प्रतिबिंब-वाद से मिलता है। सूफ़ीमत ब्रह्मवाद एवं एकेश्वरवाद को प्रधानता देकर प्रेम-पूर्ण रागात्मिका भक्ति तथा विश्वासवाद को लेता हुआ पैग़ंबरवाद-गर्भित खुदावाद का भी सहायक था, किंतु अन्य मतों के देवी-देवताओं का अपमान नहीं करता था। वह भारतीय मत समुदाय की सहिष्णुता को पूर्णतया धारण किए हुए था, किंतु ख़ुदावाद की कर्कशता के कारण भारत में चल न सका।

हज़रत अली ने धर्म का मुख्यांश सत्य को माना। एक विजित व्यक्ति पर क्रुध हो जाने से आप ने इस कारण से उस का बध न किया कि ऐसा करने से वे ही क्रोध से विजित हो जावेंगे।

संस्कृत साहित्य के इतिहास की कुछ प्रारंभिक बातें

[लेखक—पं० गणेशप्रसाद द्विवेदी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०]

यह किंचित् खेद का विषय है कि यद्यपि हिंदी ही संस्कृत का आधुनिकतम विकसित रूप है और यद्यपि हम संस्कृत साहित्यकारों के निकटतम वंशधर हैं, तब भी उस के उत्तमोत्तम ग्रंथों के संपादन तथा उस के महान इतिहास को लिपिबद्ध करने के महत्त्व को अभी तक समुचित रीति से नहीं समझ पाए।

पर इस देश के वर्तमान शासकों को संस्कृत भाषा तथा साहित्य का लोकव्यापी महत्त्व समझ लेने में विशेष देर न लगी। इस देश के शासन की पूरी बागडोर ठीक से इन के हाथ में आने भी नहीं पाई थी कि वारेन हेस्टिंग्स इस निष्कर्ष पर पहुँच गए कि हिंदू-जाति का यथोचित शासन उन्हीं के धर्मग्रंथों के अनुसार होना चाहिए। उन्हें अपने विचारों के अनुसार कार्य करने में देर न लगी। देश में संस्कृत के विद्वान पंडितों की कमी नहीं थी। अब भी शायद नहीं है, पर उन से काम लेनेवाला चाहिए। हेस्टिंग्स जानते थे उन से काम लेना। उन्हों ने कुछ विद्वानों को एकत्रित करके पहले स्मृतियों का अनुवाद कराया और इस का नाम रक्खा गया 'विवादार्णवसेतु'। पर इस विशाल ग्रंथ का अंग्रेजी संस्करण फ़ारसी के माध्यम द्वारा १७७६ में[1] तैयार हुआ, क्योंकि इस समय संस्कृत से अंग्रेजी भाषांतर करनेवाला कोई न मिला। यह ज़रा चक्करदार

---

[1] इस लेख में उद्धृत अब्दों को कथनविशेष के अभाव में खीष्टाब्द ही मानना चाहिए।

रास्ता था। हेस्टिंग्स को कुछ ऐसे विद्वानों की आवश्यकता हुई जो संस्कृत और अंग्रेज़ी दोनों ही पर अच्छा अधिकार रखते हों। इस समय कदाचित् उक्त प्रकार के एतद्देशीय विद्वान लभ्य नहीं थे और रहे भी हों तो उन से काम नहीं लिया गया। ऐसा कहने का सीधा कारण यही है कि आज देश में बहुसंख्यक ऐसे विद्वान उपस्थित हैं जो अंग्रेज़ी और सस्कृत दोनों ही पर समान अधिकार रखते हैं, पर न जाने क्यों विश्वविद्यालयों मे व्याख्यान देने के सिवा लिपिबद्ध-रूप में कोई स्थायी महत्त्व की वस्तु उन की लेखनी से नहीं निकल पाती।

अस्तु, जो हो, वारेन हेस्टिंग्स की ही प्रेरणा से चार्ल्स विल्किस नामक एक अंग्रेज विद्वान ने काशी में जम कर संस्कृत का अध्ययन किया। इसी विद्वान ने सब से पहले १७८५ मे यूरोप को संस्कृत साहित्य से कुछ सूक्ष्म-रीति से परिचित कराया। 'गीता' और 'हितोपदेश' का अंग्रेज़ी अनुवाद इस ने उक्त सन में प्रकाशित कराया था।

इस के पहले महान फ्रेंच साहित्यिक वाल्टेयर वेदों से परिचित होकर इन का गुणगान कर चुके हैं।[1] परंतु वाल्टेयर की जानकारी एक पादड़ी द्वारा रचित एक जाली ग्रंथ के आधार पर हुई थी। यह थी तो एक छोटी-सी बात, पर इस से एक बड़ा उत्पात आरंभ हो गया। यूरोपीय विद्वानों का एक दल ऐसा भी बन गया जो संस्कृत साहित्य ही नहीं बल्कि भाषा तक को जाली और नक़ली मानने लगा। डगलस स्टिवार्ट नामक एक प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान ने एक लंबे लेख में यह सिद्ध करने की चेष्टा की थी कि संस्कृत नाम की न कोई वास्तविक या मौलिक भाषा कभी थी और न उस का कोई मौलिक साहित्य ही कभी था। यह चालाक ब्राह्मणों की अनोखी सूझ है, जिस से उन्हों ने यूनानी साहित्य की नक़ल करके रख दी है। इस मत के मानने-वालों का एक ख़ासा दल ही तैयार हो गया और उस की यह धारणा बहुत दिनों तक बनी रही। सन् १८३८ में डबलिन के एक विख्यात प्रोफ़ेसर ने इस

---

[1] देखो वाल्टेयर के Essai sur les Maeurs et l' Esprit des Nations में Ezour Vedam.

मत को पुष्ट किया था। यह तो जब जर्मनी के मैक्स मुलर, बुह्लर, कील्होर्न तथा इंग्लैंड के मैक्डोनेल और कीथ ऐसे महारथियों ने अकाट्य प्रमाणों द्वारा एक स्वर से संस्कृत को और विशेष कर वैदिक साहित्य को संसार का प्राचीनतम मौलिक साहित्य सिद्ध किया तब कहीं जाकर उक्त विरोधी दल मौन हुआ। अभी कुछ विद्वान चीन के साहित्य को वेदों से भी पुराना बता रहे है पर यह धारणा क्रमशः निर्बल होती जा रही है।

अस्तु, विल्किंस के बाद सर विलियम जोन्स नामक एक विद्वान ने ग्यारह वर्ष तक भारतवर्ष मे रहकर संस्कृत का अच्छा अध्ययन किया और इन्हों ने ही १७८४ में बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना कर सुसंगठित और आधुनिक वैज्ञानिक रीति से प्राचीन संस्कृत साहित्य के अध्ययन, लुप्त अथवा लुप्तप्राय संस्कृत के अनमोल ग्रंथरत्नों की खोज, उन की विभिन्न पांडुलिपियों का संग्रह, संशोधन तथा संपादन आदि कराने की नीव डाली। १७८९ में इन्हों ने स्वयं कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुंतल' का अंग्रेज़ी अनुवाद करके प्रकाशित किया और पाश्चात्य विद्वानों ने इस का अभूतपूर्व स्वागत किया। जर्मनी का अमर कवि गेटे तो शकुंतला पर मुग्ध ही हो गया। जोन्स महाशय ने 'मनुस्मृति' का भी अनुवाद किया।

इन के बाद कोलब्रुक साहब (१७६५-१८३७) ने संस्कृत साहित्य को लोकप्रिय बनाने में कोई बात उठा नहीं रक्खी। अभी तक पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान वैदिक साहित्य की ओर नहीं आकर्षित हुआ था। यही पहले इस दिशा मे अग्रसर हुए। १८०८ में 'ऑन दि वेदांत' नामक इन का एक महत्त्व-पूर्ण लेख प्रकाशित हुआ। इस के प्रायः थोड़े दिन बाद ही एफ० रोसेन नामक एक जर्मन विद्वान बड़ी तन्मयता से वेदों के अध्ययन और संपादन मे लगे, पर अकाल में ही इन की मृत्यु हो जाने से इन का काम अधूरा रह गया। १८३८ में इन की मृत्यु के बाद इन का संपादित ऋग्वेद का प्रथम अष्टमांश प्रकाशित हुआ। पर वास्तव में वेदों के सर्वतोमुखी अध्ययन की परंपरा रुडाल्फ रॉथ (१८२१-९५) ने चलाई। साहित्य में अधिकतर इन्हों ने भाषातत्व पर ज़ोर दिया इन को वैदिक का कहा जाता है

१८४६ में प्रकाशित इन की एक छोटी-सी पुस्तक 'ऑन दि लिटरेचर ऐंड हिस्टरी अव् दि वेदाज़' ने तो पाश्चात्य साहित्यमर्मज्ञों में ख़ासी खलबली मचा दी।

फ्रांस के विद्वानों में संस्कृत का प्रचार एक विचित्र संयोग से हुआ। १८०२ में अलेग्ज़ैंण्डर हैमिल्टन नामक एक अंग्रेज़ विद्वान भारतवर्ष में संस्कृत का अच्छा अध्ययन करके विलायत लौट रहे थे। इसी बीच फ्रांस और इंग्लैंड में फिर से लड़ाई छिड़ जाने के कारण वह पेरिस में क़ैद कर लिए गए। उन्हें बहुत दिनों तक पेरिस के जेल में पड़े रहना पड़ा था, पर इस दीर्घ काल को उन्हों ने बहुत अच्छे काम में लगाया। कई फ़रासीसी विद्वानों को उन्हों ने संस्कृत भाषा और साहित्य की शिक्षा दी। इन में फ्रेडरिक श्लीगल नाम के एक जर्मन कवि भी थे। इस सम्मिलित अध्ययन के फलस्वरूप श्लीगल का 'आन दि लेंग्वेज ऐंड विज़डम अव् दि इंडियन्स' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ ने जर्मनी के विद्वानों का ध्यान विशेषरूप से संस्कृत भाषा और साहित्य की ओर आकृष्ट किया। इन्हीं के सुझाने से भाषामर्मज्ञों को तुलनात्मक दृष्टिकोण से लैटिन, ग्रीक, जर्मन आदि के भाषातत्व की वैज्ञानिक गवेषणा करने की प्रेरणा मिली और इस का फल यह हुआ कि प्रसिद्ध भाषातत्वज्ञ फ्रैंज़ बॉप ने एक महत्त्वपूर्ण और बड़ा ग्रंथ तैयार किया जिस में संस्कृत तथा ग्रीक और जर्मन आदि भाषाओं के मूल शब्दों और रूपों की आदिम एकता सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया। बॉप तो केवल अग्रणीमात्र थे, पर इन के ग्रंथ ने तत्कालीन विद्वत्समुदाय को इस विषय की ओर इतनी तीव्रता से आकर्षित किया कि भाषातत्त्व एक नया और अत्यंत महत्त्वपूर्ण विषय हो गया और दिन प्रति दिन इस के विद्यार्थियों की संख्या बढ़ती ही जा रही है। यह स्मरण रहे कि इन विद्वानोंद्वारा संस्कृत साहित्य और भाषा के अनुशीलन ने ही लोगों को यह सुझाया कि भाषाओं में एक प्रकार की समता है। और ज्यों-ज्यों खोज होती गई यह स्पष्ट होता गया कि जिसे हम इस समय 'समता' कह रहे हैं, वह किसी समय 'एकता' रही होगी फिर तो संसार के अनेक प्रमुख विद्वान अपनी सारी शक्ति से

इस ओर झुके और सप्रमाण और सोदाहरण उन्हों ने यह सिद्ध कर दिखाया कि प्राचीन आर्यभाषाओं का (जिन में संस्कृत, पहलवी, ग्रीक, लैटिन तथा जर्मन आदि मुख्य हैं) रूप किसी समय एक था, यानी किसी समय यह भाषाएँ एक थीं और ज्यों-ज्यों इस मूल-भाषा के बोलनेवालों की संख्या बढ़ती गई और वे भिन्न भिन्न देशों में जा-जा कर बसते गए, त्यों-त्यों देश काल तथा वायु आदि की परिस्थितियों के कारण उस मौलिक भाषा का रूप बदलता गया और फिर कालांतर में सभ्यता, संस्कृति, शिक्षा-दीक्षा तथा अनेक अन्य कारणों से उन की भाषा का रूप इतना परिवर्तित हो गया कि वह उस आदिम भाषा से बहुत भिन्न हो गया। इसी भाषासाम्य के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह भी निष्कर्ष निकाला कि किसी युग में हमारी भाषा एक थी तो हमारे पूर्व-पुरुष भी एक ही रहे होंगे, या दूसरे शब्दों में हम सब एक ही 'रेस' अथवा जाति के प्राणी हैं। जो हो, इन प्रश्नों की आलोचना करने का यह स्थान नहीं है।

पाश्चात्य विद्वानोंद्वारा संस्कृत साहित्य की खोज और अध्ययन का फल यह हुआ कि एक शताब्दी के भीतर ही जिन ग्रंथों का अधिकांश भारतीय विद्वानों को पता भी नहीं रह गया था और जिन में से बहुत लुप्तप्राय और नष्ट-भ्रष्ट पांडुलिपियों के रूप में पड़े थे और निश्चय था कि यदि उन की खबर कुछ दिन और न ली जाती तो वे सदा के लिए लोप हो जाते, उन का इन पाश्चात्य विद्वानो ने उद्धार कर पुनः संस्कार किया। इसी बीच उन का स्वयं कहना यह है कि प्राचीन संस्कृत साहित्य इतना मिल गया है जो कि परिमाण में ग्रीस और रोम दोनों के संमिलित साहित्य से अधिक है। इस का अधिकांश इन लोगों ने नवीन वैज्ञानिक ढंग से अपने देशो में संपादित कर के प्रकाशित भी कर डाला है और सुयोग्य विद्वानों द्वारा उत्तमोत्तम ग्रंथों के अनुवाद भी प्रकाशित हो गए हैं। ये प्रकाशन सब से अधिक जर्मन में हुए हैं, फिर फ्रेंच और अँग्रेज़ी में। इस महान कार्य का सब से बड़ा केंद्र स्ट्रासबर्ग नाम के एक शहर में है। यह नगर मध्य-यूरोप में है और इस में अधिकतर जर्मनी और आस्ट्रिया के संस्कृतज्ञ काम करते हैं। इस के संपादन-विभाग में भिन्न भिन्न देश और जाति के लगभग तीस विशेषज्ञ काम कर रहे

है। पहले इस के प्रधान संपादक वियेना के प्रोफ़ेसर बुह्लर थे, पर १८९८ में इन की अकाल मृत्यु के कारण इस शुभ कार्य को बड़ी ठेस पहुँची। पर थोड़े ही दिनों बाद गॉटिंगन के प्रोफ़ेसर किलहॉर्न ने इस रिक्त स्थान की अच्छी पूर्ति की। अब यह अवस्था है कि संस्कृत का उल्लेख योग्य शायद ही कोई ऐसा ग्रंथ होगा जिस का विद्वज्जनोचित संपादन और अनुवाद इस संस्था ने न कर लिया हो।

यह कहते हुए भी लज्जा आती है कि भारतवर्ष में इस कोटि की कोई संस्था नहीं है जहाँ इस ढंग का कुछ काम होता हो। यों तो नाम लेने को बनारस के सरस्वतीभवन और गायकवाड़ की ओरियंटल सीरीज़ से संस्कृत के कुछ ग्रंथों का संपादन और प्रकाशन हो रहा है, पर इन के कार्य को भी हम बहुत कुछ भ्रांत दिशा में होनेवाला ही कहेंगे। वह इस लिए कि इन के सब प्रकाशनों का संपादन अंग्रेज़ी में ही होता है। जब कि जर्मनी, फ्रांस और इंग्लैंड वाले अपने देशवासियों के लाभ के लिए संस्कृत के अनमोल ग्रंथों का संपादन और अनुवाद आदि सब अपने अपने देश की भाषा में ही कर रहे हैं तो क्या वजह कि हम अपनी मातृभाषा हिंदी में उन का संपादन और अनुवाद आदि न करें? बनारस के सरस्वतीभवन के प्रकाशनों का श्रीगणेश, डाक्टर ए० वेनिस साहब ने किया था फिर क्रमशः महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा और महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज के संपादकत्व में संस्कृत के अनेक लुप्तप्राय ग्रंथरत्नों का संशोधन और संपादन हुआ। इन प्रकाशनों में मूल तो देवनागरी लिपि में होता है, पर नोट, लेखकों की जीवनी, भूमिका और आलोचना तथा अनुक्रमणिकाएँ आदि सब अंग्रेज़ी में होती हैं। यह एक विचित्र बात है। बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी तथा बड़ौदे की संस्था में सभी जगह यही हाल है। संस्कृत के वर्तमान भारतीय स्कालर जो आधुनिक ढंग से संस्कृत के ग्रंथों का संपादन कर रहे हैं, अधिकतर अंग्रेज़ी में ही काम कर सकते हैं। वे हैं तो भारतीय पर काम शायद अंग्रेज़ी भाषाभाषी संसार के हित के लिए कर रहे हैं। संभव है थोड़े से अंग्रेज़ी जाननेवाले भारतीय इन के श्रम से लाभ उठा सकें पर अधिकांश देशवासियों के लिए उन का श्रम इतना मूल्य-

वान नहीं है। यद्यपि बहुत-सा अमूल्य समय और शक्ति इस प्रयास में एक प्रकार से व्यय हो चुकी पर संस्कृत के क्षेत्र में आधुनिक ढंग से काम करनेवाले भारतीय विद्वानों से अब भी यदि यह आशा न की जा सके कि वह अपनी देशभाषा और देशवासियों के हित को ध्यान में रख कर ही अपनी शक्तियों का उपयोग करेंगे, तो फिर आगे करना व्यर्थ है।

संस्कृत साहित्य का इतिहासलेखन

जिन विद्वानों की ऊपर चर्चा हुई है, वह केवल संस्कृत साहित्य का अध्ययन और उस के उत्तमोत्तम ग्रंथों के संपादन और अनुवाद आदि ही अभी तक कर रहे थे। इन का ध्यान अभी संस्कृत साहित्य के इतिहासलेखन की ओर नहीं आकृष्ट हुआ था। और अभी इस के योग्य सामग्री भी नहीं इकट्ठा हुई थी। पर, जैसा कि हम ऊपर कह चुके है, जर्मनी में संस्कृत के अध्ययन का सब से बड़ा केंद्र बन गया था, और इतिहास लिखने का सूत्र-पात भी यहीं से हुआ। बर्लिन के प्रोफ़ेसर वीबर का ग्रंथ 'एकेडेमिकल लेक्चर्स आन इंडियन लिटरेचर' १८५० के लगभग प्रकाशित हुआ। इस के प्रायः दस वर्ष बाद १८५९ में मैडनहेड नामक स्थान से प्रोफ़ेसर मैक्समूलर की 'ए हिस्टरी अव् ऐंशंट संस्कृत लिटरेचर' नाम की पुस्तक प्रकाशित हुई। पर इस मे केवल वैदिक साहित्य की आलोचना की गई थी। इस के बाद लिपज़िग के प्रोफ़ेसर श्रोडर के 'इंडयन लिटरेचर ऐंड कल्चर' का नंबर आता है। अब तक के प्रकाशित ग्रंथों मे यह सब से अधिक पूर्ण पाया गया, पर यह विद्यार्थियों या साधारण पाठकों के इतने काम का नहीं जितना कि विद्वानों के। यह १८८७ में प्रकाशित हुआ था। इस के बाद १९०० में अंग्रेज़ी में पहले-पहल मैक्डोनेल साहब की 'ए हिस्टरी अव् संस्कृत लिटरेचर' प्रकाशित हुई। यह इंग्लैंड और भारत के विद्यार्थियों के लिए बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई। भारतीय विश्वविद्यालयों में एम्० ए० और बी० ए० में संस्कृत लेनेवालों को तो यह पाठ्यपुस्तक की भाँति पढ़नी पड़ती है। पर जर्मनी के संस्कृतज्ञ विद्वानों की दृष्टि में इस ग्रंथ का कोई विशेष आदर नहीं हुआ। मैक्डोनेल साहब वास्तव में वैदिक साहित्य के ही पंडित थे और इन के इतिहास में भी यही कमी रह गई कि वैदिक साहित्य का

इतिहास तो इन्हों ने पर्याप्त विस्तार से लिखा और शेष के लिए अत्यंत संक्षेप से काम लिया है। पर यह कमी इन के प्रधान शिष्य आक्सफोर्ड के कीथ साहब ने कुछ अंशों में पूरी करने की चेष्टा की। कुछ वर्ष हुए 'क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर' नाम की इन की एक छोटी-सी पुस्तिका 'हेरिटेज अव् इंडिया सीरीज़' में निकली है। यह सिर्फ़ इस काम के योग्य है कि विदेशी पाठक वेदेतर संस्कृत साहित्य के संबंध में कुछ थोड़ी-सी मुख्य-मुख्य बातें जान सकें। संस्कृत के विद्यार्थी या विद्वान किसी को भी इस से संतोष नहीं हो सकेगा। मैक्डोनेल के बाद फिर विटरनीज़ नाम के एक जर्मन विद्वान ने ही इस विषय पर एक ऐसी पुस्तक लिखी जो विद्यार्थी और विद्वान दोनों ही के लिए समान रूप से उपादेय सिद्ध हुई। इस का नाम है 'ए हिस्टरी अव् इंडियन लिटरेचर'। यह दो जिल्दों में है और १९०७ में प्राग से प्रकाशित हुई थी। १९२६ में इस का अंग्रेज़ी अनुवाद प्रकाशित हुआ। इन के अतिरिक्त ओल्डेनबर्ग के निबंध और पिशल की एक छोटी सी पुस्तक भी इस विषय पर बहुत प्रसिद्ध हैं। प्रो० कीथ का एक संक्षिप्त इतिहास भी उल्लेख योग्य है। इन का रचा हुआ 'संस्कृत ड्रामा' एक बहुत प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है।

पर यह एक आश्चर्य की बात है कि विदेशों में, विभिन्न भाषाओं में, हमारे प्राचीन साहित्य के इतने इतिहास लिखे गए, पर अभी तक हमारी भारतीय भाषाओं में उस कोटि की पुस्तकें इस विषय पर नहीं लिखी गईं। अभी कुछ वर्ष हुए सुना गया था कलकत्ते के प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ स्वर्गीय महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री बँगला में संस्कृत साहित्य का एक बृहद् इतिहास लिख रहे हैं। सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई थी पर इस शुभ-संवाद के थोड़े ही दिनों बाद शास्त्री जी के स्वर्गारोहण का शोक-संवाद सुनना पड़ा। अब पता नहीं इस उक्त ग्रंथ का क्या हुआ पर इतना निश्चित है कि अभी तक वह प्रकाशित नहीं हुआ।

हिंदी में भी अभी तक इस संबंध में विशेष कार्य नहीं हुआ है। कुछ पुस्तकें लिखी अवश्य गई हैं। इन में श्री सीताराम जयराम जोशी तथा श्री विश्वनाथ शास्त्री भारद्वाज और श्री महेशचंद्र प्रसाद की पुस्तकें उल्लेख्य हैं। परंतु अभी एक बृहत् प्रामाणिक ग्रंथ की बड़ी है

साधारण रीति से समूचा संस्कृत साहित्य दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। एक तो वैदिक, जो कि ईसा के कम से कम २००० वर्ष पहले आरंभ होता है और प्रायः उन के २०० वर्ष पहले समाप्त हो जाता है। समाप्त होने के स्थान पर रूपांतरित होना कहना ज्यादा ठीक होगा क्योंकि किसी न किसी रूप में आज भी उस साहित्य और भाषा का अस्तित्व चला जा रहा है। पर वास्तव में बौद्धकाल के आस-पास पाणिनि आदि महान वैयाकरणों के अपूर्व और अश्रुतपूर्व प्रयास से भाषा इस प्रकार जकड़ दी गई कि उस का विकास वहीं रुक गया पर साहित्य का विकास अधिक कलापूर्ण रीति से होना आरंभ हुआ। यहीं से संस्कृत साहित्य का दूसरा भाग आरंभ होता है। अब तक के साहित्य में सरल उपासना, अग्नि, जल, वायु आदि प्राकृतिक देवों का आवाहन और पूजन तथा उत्तर-वैदिक काल में तत्त्वज्ञान और दर्शन आदि का ही प्राधान्य रहा। कड़े व्याकरण के नियमों से बद्ध होने के उपरांत इस में धार्मिक साहित्य की अपेक्षाकृत कमी और लौकिक साहित्य की वृद्धि होने लगी। वैदिक काल में साहित्य-क्षेत्र पंजाब और विशेष कर सिंध की तराइयों तक ही सीमित था, पर ख्री० पू० ५०० के लगभग आर्यगण गंगा-जमुना के मैदानों तक पहुँच गए थे और क्रमशः साहित्यिक कार्यकलाप का केंद्रस्थल काशी, प्रयाग आदि पूर्व के नगरों की ओर बढ़ता जा रहा था। इस समय साहित्य का विषय बहुत व्यापक हो चला था। क्रमशः गणित, ज्योतिष, धर्मशास्त्र तथा आयुर्वेद आदि वैज्ञानिक विषयों में भी प्रचुर परिमाण में उच्चकोटि का मौलिक साहित्य निर्मित हुआ। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि यहाँ का इस प्रकार का वैज्ञानिक साहित्य परिमाण और उत्तमता दोनों ही में प्राचीन ग्रीक और रोमन साहित्य से कहीं बढ़ कर है। धीरे-धीरे काव्य, नाटक, आख्यायिका आदि ललित-साहित्य की ओर भी आर्यों की प्रतिभा झुकी। इन के लिए कथा-सामग्री विशेष कर 'महाभारत' और 'रामायण' इन दो महाकाव्यों से ली जाती थी। यह एक तथ्य है कि परिमाण में अकेला 'महाभारत' होमर के दोनों 'इलियड' और 'ओडिसी' से

संस्कृत साहित्य का विस्तार

अठगुना है। ईसा की छठी शताब्दी के लगभग संस्कृत में कुछ गद्यकाव्य लिखने का भी चलन हुआ और 'कादंबरी' तथा 'दशकुमारचरित' का गद्य भी ऐसा विचित्र हुआ जिस के ढंग की कोई वस्तु संसार के किसी भी साहित्य में दुर्लभ है। ज्यों-ज्यों संस्कृत साहित्य का जीवन पुराना होता जाता था त्यों-त्यों वाह्याडंबर और अतिशयोक्ति का आधिक्य तथा वास्तविक तत्व की बातों की कमी होती जा रही थी। मैक्डोनेल का कहना है कि दसवीं शताब्दी के लगभग संस्कृत साहित्य में शाब्दिक इंद्रजाल के सिवा और कुछ रह ही नहीं जाता। यदि आधुनिक अंग्रेजी मस्तिष्क के दृष्कोण से तत्कालीन संस्कृत साहित्य की समीक्षा की जाय तो वास्तव में उस में शाब्दिक इंद्रजाल के सिवा और कुछ नहीं मिलेगा पर इन बातों पर विचार करने का अवसर यहाँ नहीं। यहाँ पर इतना ही कहेंगे कि अतिशयोक्ति और साथ ही अतिनम्र भाव से आत्मप्रकाश करने की प्रवृत्ति भारतीय मस्तिष्क की एक विशेषता रही है। अहंमन्यता का तो यहाँ तक अभाव है कि न जाने कितने लेखकों ने अपनी अमर कृतियों में अपना नाम तक देना उचित नहीं समझा, पर वर्णन ऐसा बढ़ा-चढ़ा कर और इतनी अतिशयोक्ति और आडंबरपूर्ण रूप से लिखा कि उसे हम आत्मप्रकाशन का एक महान प्रयास माने बिना रह ही नहीं सकते।

इतिहास का अभाव

अन्यान्य उपयोगी विषयों पर अनेक उत्तमोत्तम ग्रंथ होते हुए भी यह एक बड़े अचंभे की बात है कि इतिहास ऐसे परमावश्यक विषय पर हमारे प्राचीन आर्यों की लेखनी सदा से उदासीन रही है। राजनीतिक इतिहास की बात तो अलग रही अधिकांश लेखकों ने अपने ग्रंथों में अपना कुछ भी परिचय या रचनाकाल आदि देने की आवश्यकता नहीं समझी। इन बातों का महत्व ही वह कदाचित् नहीं जानते थे। संभव है उस समय इन बातों की कोई विशेष आवश्यकता न समझी गई हो पर भविष्य में, अर्थात् आधुनिक काल में प्राचीन लेखकों के परिचय और उन के समय आदि कितने महत्वपूर्ण प्रश्न सिद्ध होंगे इस का वे लोग स्वप्न में भी अनुमान नहीं कर सकते थे वैज्ञानिक रीति से को इन

बातों का ठीक-ठीक पता लगाने के लिए जो महान प्रयास करना पड़ेगा इस का यदि उन्हें कुछ भी अनुमान होता तो 'कवियों का कालनिर्णय' नाम का एक नया विषय ही आज न खड़ा हो जाता। एक-एक ख्यातनामा प्राचीन लेखक के कालनिर्णय के लिए विद्वानों में दस-दस वर्ष तक बहस चलती है, अपने-अपने सिद्धांत सिद्ध करने के लिए यह पाँच-पाँच सौ पन्ने के पोथे छपा डालते हैं और अक्सर ऐसा होता है कि इतने वाद-विवाद के बाद जो बात सिद्ध होती है उसी को कोई दूसरा विद्वान किसी नए पाए हुए शिलालेख आदि के प्रमाण के बल पर ग़लत साबित कर देता है। या तो फिर नए सिरे से खोज, वाद-विवाद, नए-नए प्रमाणों के आधार पर सिद्धांतों की परीक्षा आदि आरंभ होती है, और नहीं तो वह प्रश्न ही असाध्य समझ कर त्रिशंकुवत् लटकता हुआ छोड़ दिया जाता है और विद्वान अन्वेषक गंभीरतापूर्वक यह कहकर चुप हो जाते हैं कि जब तक कोई नया प्रबल प्रमाण न मिले तब तक हम लोगों को यह प्रश्न यों ही छोड़ देना पड़ेगा। बड़े खेद के साथ कहना पड़ता है कि संस्कृत साहित्य के इन बहुसंख्यक लेखकों में से ऐसे बहुत थोड़े से हैं जिन का परिचय और रचनाकाल विद्वानों को निर्भ्रांत-रूप से मालूम हो। संस्कृत साहित्य के सर्वश्रेष्ठ नाटककार कालिदास की ही तिथि अभी तक बिल्कुल निर्भ्रांत रूप से नहीं निश्चित हो सकी है।

संस्कृत साहित्य के इतिहास के लेखक को कुछ ऐसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है जो अन्यत्र नहीं देखने में आतीं। यहाँ अधिकांश प्राचीन साहित्य उस समय का है जब लिखने की कला प्रचलित नहीं थी। और यदि प्रचलित रही भी हो तो उस का व्यवहार व्यवसाय और शासनप्रबंध आदि में ही परिमित रहा होगा क्योंकि आज भी जब सब ग्रंथ छपे हुए मिल सकते हैं तब भी जब कभी प्रामाणिक पाठ का प्रश्न खड़ा होता है तो अधिकारी गुरु के मुख से निकले हुए पाठ के सामने मुद्रित पाठ का कोई मूल्य नहीं माना जाता। परंतु पहले हमें यह देख लेना चाहिए कि किस काल से लिपिकला के प्रचलित होने के प्रमाण हमें मिलते हैं सब से प्राचीन लिखित साहित्य के रूप में हमारे

भारतीयों का लिपिज्ञान

सामने अशोक के शिलालेख है जिन की तिथि ख्री० पू० २५० के आस पास है। परंतु इस से मैक्समूलर की भाँति यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि इस के पहले लोग लिखना नहीं जानते थे। इस के कई प्रमाण हैं। पहले तो पेलियोग्राफ़ी से ही यह सिद्ध होता है कि इस के शताब्दियों पहले लेखनकला का प्रचार था। भारत की सब से प्राचीन लिपि 'ब्राह्मी' लिपि के नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है स्वयं ब्रह्मा ने इस की सृष्टि की थी इस से इस का यह नाम हुआ। पर यह बाँई ओर से लिखी जाती है। एक दूसरी लिपि जिस का प्रचार गांधार (कंदहार या पूर्वी अफ़ग़ानिस्तान) देश में था, 'खरोष्ठी' कहलाती है। प्रो० बुहलर ने इन प्राचीन लिपियों के संबध में बहुत छानबीन की है। उन्हों ने यह दिखलाया है कि खरोष्ठी का जन्म सेमिटिक (अरब आदि देशों की) लिपि से हुआ था जो कि ख्री० पू० पांचवीं शताब्दी के लगभग व्यवहृत होती थी। यह उर्दू-अर्बी की भांति दाहनी से बाईं ओर को लिखी जाती थी। परंतु भारत की वास्तविक लिपि ब्राह्मी है क्योंकि वर्तमान नागरी वर्णमाला के सभी वर्ण इसी से विकसित होते हुए आज इस अवस्था को पहुँचे हैं। परंतु ख्री० पू० ४०० की मिली हुई एक मुद्रा की लिपि दाहिनी से बाईं ओर को है जिस से विद्वानों की यह धारणा हो गई है कि ब्राह्मी आरंभ में इसी भांति लिखी जाती थी और इस के छियालीस अक्षरों की वर्णमाला सेमिटिक लिपि के बाईस चिह्नों से ही विकसित हुई होगी।

अब प्रो० बुहलर ने यह सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि ख्री० पू० ५०० तक छियालीस अक्षरों की पूरी ब्राह्मी वर्णमाला विकसित हो चुकी थी यद्यपि अशोक के शिलालेखों से यह स्पष्ट है कि उस समय एक-एक अक्षर के कई रूप लिखने में आते थे। एपीग्राफ़ी के विद्वानों का कटु अनुभव बतलाता है कि अशोक के लेखों में ही एक ही अक्षर आठ-आठ, दस-दस तरह से लिखा हुआ मिलता है। यह सब होते हुए भी यह स्पष्ट है कि देव-नागरी वर्णमाला ध्वनि और उच्चारण के ही आधार पर उद्भूत हुई थी। वर्णों के लिखित आकार या चिह्नों पर उतना ध्यान नहीं दिया गया था जितना कि उन की ध्वनि और पर वर्णमाला के स्वरों और व्यंजनों

आदि का विभाजन और उन का भाव-निर्देश उच्चारणस्थान के आधार पर ही निर्धारित हुआ है। हम निस्संकोच कह सकते हैं कि संसार की किसी भी भाषा की वर्णमाला इतनी पूर्ण और वैज्ञानिक नहीं है जितनी कि देवनागरी वर्णमाला। संसार के प्रमुख भाषा-मर्मज्ञों को इस की विशेषताओं पर विचार करते समय आश्चर्यचकित होना पड़ता है।[1] संस्कृत भाषा की कोई भी ध्वनि ऐसी नही है जो ठीक-ठीक इस में न हो।

यह सब तो ठीक है, पर यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि कब से लिखने की परिपाटी भारत में प्रचलित है। इतना तो सब विद्वान मानते हैं कि अशोक के शिलालेखों से शताब्दियों पहले से लोग लिखना जानते थे। अब प्रश्न यह है कि क्या प्राचीनतम ऋचाओं के रचनाकाल के साथ ही साथ लिखने की कला का भी चलन यहाँ पर आरंभ हुआ? इस प्रश्न के साथ ही कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठ खड़े होते हैं। क्या कथित और लिखित भाषा का जन्म साथ ही होना अनिवार्य है? क्या लिपि के आविष्कार हुए बिना उस भाषा में साहित्यरचना संभव है? इत्यादि। पर इन प्रश्नों की मीमांसा का यह स्थान नहीं है। यहाँ पर हम केवल इतना ही कहेंगे कि विभिन्न वाह्य और आभ्यंतरिक प्रमाणों के आधार पर यह स्पष्ट है कि कम से कम खी० पू० आठवीं शताब्दी से लिखने का चलन अवश्य रहा होगा। इस के साथ ही यह भी स्पष्ट है कि भारत में लेखनकला बहुत साहित्य निर्मित होने के शताब्दियों बाद से प्रचलित हुई। क्योंकि यदि ऐसा न होता तो इस देश के साहित्य के संबंध में गुरु के मुख से निकले हुए शब्द पर इतना जोर न दिया जाता। जहाँ कहीं भी प्राचीन ग्रंथों में पढ़ने-पढ़ाने की चर्चा देखने में आती है वहाँ 'सुनने' पर ही जोर दिया गया है न कि पुस्तक से देखने या पढ़ने पर। लोग वाङ्मय को लिपिबद्ध कर रख छोड़ने में कई हानियाँ समझते थे। पहले तो प्राचीन ऋषियों को यह भय था कि एक बार ग्रंथ के लिख डालने पर फिर उस की अनेक प्रतिलिपियाँ करने की आवश्यकता

[1] मैकडानेल, 'हिस्ट्री अव् संस्कृत लिटरचर' पृ० १७

होगी क्योंकि उस समय प्रेस तो था नहीं। और ऐसी अवस्था में विभिन्न प्रतिलिपिकारों के हाथ में पड़कर कुछ दिन में पाठ इतना भ्रष्ट हो जाता कि मौलिक से उस की कोई तुलना ही नहीं हो सकती। यह आशंका निर्मूल नहीं थी। यही सब विचार कर ही ब्राह्मणों ने सहस्रों वर्ष तक वैदिक-साहित्य का आदान-प्रदान मौखिक-रूप से ही करना और सारे साहित्य को कंठस्थ रखने का महान प्रयास सहर्ष स्वीकार किया पर साहित्य को लिपि-बद्ध करने का प्रयास नहीं किया। फिर ब्राह्मणों को यह भी डर था कि जब सारा साहित्य लिखित रूप में आवेगा तो सर्वसाधारण को लाभ होना संभव हो जायगा और उन का व्यक्तिगत महत्त्व घट जायगा। फिर उन को कौन पूछेगा ? इसी से वह ज्यों का त्यों साहित्य अपनी संतति और शिष्यसंप्रदाय को कंठस्थ करा देते थे और उसी प्रकार समय आने पर यह संतति और शिष्य-वर्ग अपने वंशजों और छात्रों को याद करा देता। अपने जीवन के एक प्रधान ऋणशोध करने की भाँति वह इसे अपना मुख्य कर्तव्य समझते थे। यह अपूर्व प्रथा इसी देश की है और इसी के कारण अपने अंततः चार सहस्र वर्ष के जीवन काल में अगणित राजनीतिक और विरोधपूर्ण वैदेशिक घात-प्रतिघात को चपेटों में पड़कर भी यह साहित्य ज्यों का त्यों अपने असली मौलिक-रूप में आज तक हमारे सामने उपस्थित है। इस का उच्चारण आज भी वही है जो इस के रचनाकाल में था। इस के दो प्रधान कारण और हैं। वेदों के रचयिताओं ने मंत्रों और गानों के प्राकृत पाठ और गान को सदा के लिए अक्षुण्ण बना रखने के लिए प्रत्येक वेद का अलग-अलग 'प्रातिसाख्य' (उच्चारण के नियम) बना डाला था जिस से भविष्य में कभी भी विद्यार्थी को किसी ध्वनि के उच्चारण और शब्दों की मात्रा आदि के संबंध कोई द्विविधा न खड़ी हो। और फिर कई कारणों से वेदों का पठनपाठन द्विजातियों तक ही परिमित रक्खा गया था। शूद्रों को उन के पढ़ने का अधिकार नहीं था। इस के कई कारण हो सकते हैं, पर अधिकतर आधुनिक पाश्चात्य विद्वान समझते हैं कि ब्राह्मण सब को वेदाभ्यास का अधिकारी बना कर अपने व्यक्तिगत

अथवा   मूल्य को आशंका में डालने के लिए तैयार नहीं थे

इन्हीं सब कारणों से लेखनकला प्रचलित होने के बहुत दिन बाद भी जो कुछ साहित्य लिपिबद्ध होता था उस का कोई महत्त्व नहीं था। जो कुछ मूल्य था वह अधिकारी ब्राह्मण के मुख से निकले हुए शब्द का। ऐसी दशा मे कोई प्रतिलिपि करने का कष्ट ही उठाना क्यों स्वीकार करता और फिर केवल धार्मिक साहित्य तक ही यह बात परिमित नहीं थी। कवियों का भी यही हाल था। उन का भी उद्देश्य यही रहता था कि लोग उन के छंदों को गा-गा कर सुनावें और सुननेवाले सुनें और याद करलें न कि लोग पढ़ें। अभी तक भारतवर्ष मे ऐसे पुराने ढर्रे के कवियों की कमी नहीं है जिन्हे इस बात की परवाह नहीं रहती कि उन का कोई संग्रह प्रकाशित हुआ या नहीं। वह अपना परिश्रम तभी सफल समझते हैं जब कुछ लोगों को उन के बहुत से पद्य कंठ हो जाते हैं।

पर इन बातों से केवल यही सिद्ध होता है कि प्राचीन आर्यों ने लिखित साहित्य का विशेष मूल्य नहीं समझा था, यह नहीं कि लोग लिखना ही नहीं जानते थे। लोग लिखना जानते थे पर उस का व्यवहार अधिकतर व्यवसाय-वाणिज्य और राजकीय कारबार मे ही होता था। साहित्य सब कंठाग्र रक्खा जाता था।

पहले कागज़ नहीं था। भोजपत्र और ताड़ के पत्तों से ही कागज़ का काम लिया जाता था। स्याही के स्थान पर लाल चंदन या गोरोचन व्यवहार में आता था। ताड़पत्र पर नुकीले लोहे या किसी और धातु के क़लम से अक्षर खुरच दिए जाते थे और फिर उन में कोई रंग भर दिया जाता था। इन के पन्ने बहुत बड़े बड़े होते थे और उन के बीच मे एक किनारे एक या दो छेद कर उसे डोरे से 'ग्रंथि' लगाकर बाँध देते थे। इसी से शायद संस्कृत में 'ग्रंथ' शब्द पुस्तक के अर्थ में व्यवहृत होने लगा। राजकीय आज्ञापत्र आदि या ऐसे लेख जिन को दीर्घ काल तक बचा रखना अभीष्ट होता था वह ताम्रपत्र पर खुदवाए जाते थे और फिर अशोक के समय से शिला और चट्टानों पर खुदवाए हुए लेखों का पता तो हम को है ही। बौद्ध-ग्रंथों में लकड़ी पर लिखने की प्रथा की भी चर्चा है पर यह प्रथा बहुत पुराने

लेखनसामग्री

समय में थी और अधिक दिन तक नहीं रही। पर ताड़ के पत्तों पर पांडुलिपियाँ लिखने की प्रथा तो अब भी काशी और नदिया ऐसे संस्कृत शिक्षा के प्राचीन केंद्रों में प्रचलित है। काग़ज़ आदि अभिनव लेखनसामग्रियों के होते हुए भी प्राचीन शैली के पंडितों को जब पांडुलिपि तैयार करनी होती है तो वह उसी पुरानी पद्धति से काम लेते हैं। काग़ज़ आदि को वह अपवित्र समझते हैं। अन्य देशों में पांडुलिपि के लिए चमड़ा व्यवहृत होता था पर यहाँ वह इस काम के लिए सदा से अपवित्र समझा गया है। पर भोजपत्र और ताड़ के पत्ते दोनों ही थोड़े दिन में नष्ट हो जाते हैं और यही कारण है कि आज जितनी भी हमारी प्राचीन पांडुलिपियाँ देश और विदेश के विभिन्न पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं वे अधिक पुरानी नहीं हैं। बहुत कम पांडुलिपियाँ ऐसी हैं जो चौदहवीं शताब्दी से पुरानी हों। सब से प्राचीन पांडुलिपियाँ ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी की हैं। भारत को प्राचीनतम पांडुलिपियाँ नैपाल, जापान और पूर्वी तुर्किस्तान में मिली हैं। जापान में मिली हुई कुछ पांडुलिपियाँ छठीं शताब्दी तक की हैं और ये ताड़पत्र पर लिखी हुई हैं। सन् १९०० में एम्० ए० स्टीन महोदय ने खोतन के पास तकलमकान के रेतीले मैदानों में से क़रीब ५०० लिखे हुए लकड़ी के पट्टे खोद निकाले हैं। ये चौथी शताब्दी के या इस से भी कुछ पहले के लिखे हुए हैं। स्टीन साहब तथा कुछ जर्मन अन्वेषकों को ईसा की पहली शताब्दी के लिखे हुए कुछ पांडुलिपियों के अंश मिले हैं।

परंतु अधिकांश पांडुलिपियाँ जो आज हमारे सामने हैं वह काग़ज़ पर लिखी हुई हैं, परंतु काग़ज़ का आविष्कार और लिखने के लिए उस का व्यवहार मुसलमानों के आने के बाद से शुरू हुआ है। सब से पुरानी काग़ज़ की पांडुलिपि तेरहवीं शताब्दी की है।

मौखिक पठनपाठन का प्राधान्य होते हुए भी भारतवर्ष में उत्तमोत्तम ग्रंथों की पांडुलिपियाँ बनवाकर उन्हें पुस्तकालयों में सुरक्षित-रूप से रखने की प्रथा बहुत नई नहीं है। महाकवि-बाणभट्ट का समय ६२० के लगभग माना गया है वह एक अपना

प्राचीन

पढ़नेवाला रखते थे जिस से यह स्पष्ट है उन का एक निजी पुस्तकालय रहा होगा। 'पुस्तकालय' आधुनिक शब्द है, पहले इस को 'सरस्वती भांडागार' कहते थे। ग्यारहवीं शताब्दी में धार के राजा भोज के यहाँ एक विशाल पुस्तकालय था। इसी प्रकार क्रमशः राजाओं तथा विद्या के प्रेमी अन्य धनिकों तथा कुछ बड़े-बड़े संपन्न विद्वानों को पांडुलिपियाँ संग्रहीत करके पुस्तकालयों में रखने का शौक़ बढ़ा। पर देश में पांडुलिपियों के सब से बड़े संग्रह देशी राजाओं के प्रासादों और कुछ प्राचीन मंदिरों में, खास कर जैनमंदिरों में, पाए गए। देश में सब से बड़े संग्रह जैनियों ही के पास निकले। डा० बुहलर ने कंबे के दो जैन पुस्तकालयों मे ३०,००० और तंजोर के राजप्रासाद में १२,००० पांडुलिपियाँ देखीं; इस के बाद १८६८ से पांडुलिपियों की खोज का एक अलग विभाग ही ब्रिटिश सरकार ने स्थापित किया। कोलब्रुक तथा अन्य विद्वान बहुसंख्यक पांडुलिपियों का पता लगा चुके थे पर बहुत काम रह गया था और उक्त साल से ह्विटली स्टोक्स साहब ने, जो एक प्रसिद्ध विद्वान थे और उस समय भारतीय कार्उसिल के मंत्री (सेक्रेटरी) थे २४,०००) संस्कृत पांडुलिपियों की खोज के लिए बजट में स्वीकृति करा दी। तब से अगणित पांडुलिपियों की खोज हो चुकी है और हो रही है। देश के प्रसिद्ध विद्वानों द्वारा प्राप्त पांडुलिपियों की तालिका, जिस में ग्रंथ और ग्रंथकार के नाम, समय और विषय लिखे रहते है, बनवाकर प्रकाशित की जाती है।।ये, सर्व रिपोर्टें जिज्ञासुओं के लिए अमूल्य होती हैं। इस प्रकार की प्रकाशित तालिकाओं मे राय बहादुर हीरालाल की संस्कृत और प्राकृत पुस्तकों की तालिका[1] विशेष-रूप से उल्लेख योग्य हैं। अधिकांश पांडुलिपियों का पता लगाया जा चुका है पर अब भी बहुत सा काम शेष है।

---

[1] Catalogue of Sanskrit and Prakrit Books

हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

(१) मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था—लेखक, मिस्टर अब्दुल्लाह यूसुफ अली, एम्० ए०, एल्-एल्० एम्० । मूल्य १।)

(२) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—लेखक, राय बहादुर महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा । सचित्र । मूल्य ३)

(३) कवि-रहस्य—लेखक, महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा । मूल्य १।)

(४) अरब और भारत के संबंध—लेखक, मौलाना सैयद सुलैमान साहब नदवी । अनुवादक, बाबू रामचंद्र वर्मा । मूल्य ४)

(५) हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता—लेखक, डाक्टर बेनीप्रसाद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० एस्-सी० (लंदन) । मूल्य ६)

(६) जंतु-जगत—लेखक, बाबू ब्रजेश बहादुर, बी० ए०, एल्-एल्० बी० । सचित्र । मूल्य ६॥)

(७) गोस्वामी तुलसीदास—लेखक, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास और श्रीयुत पीतांबरदत्त बड्थ्वाल । सचित्र । मूल्य ३)

(८) सतसई-सप्तक—संग्रहकर्ता, राय बहादुर बाबू श्यामसुंदरदास । मूल्य ६)

(९) चर्मबनाने के सिद्धांत—लेखक, बाबू देवीदत्त अरोरा, बी० एस्-सी० । मूल्य ३)

(१०) हिंदी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट—संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए० । मूल्य १॥)

(११) सौर-परिवार—लेखक, डाक्टर गोरखप्रसाद, डी० एस्-सी०, एफ्० आर० ए० एस्० । सचित्र । मूल्य १२)

(१२) अयोध्या का इतिहास—लेखक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए० । सचित्र । मूल्य ३)

(१३) घाघ और भड्डरी , पंडित रामनरेश त्रिपाठी मूल्य ३)

(१४) वेलि क्रिसन रुकमणी री—संपादक, ठाकुर रामसिंह, एम्० ए० और श्री सूर्यकरण पारीक, एम्० ए० । मूल्य ६)

(१५) चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—लेखक, श्रीयुत गंगाप्रसाद मेहता, एम्० ए०। सचित्र । मूल्य ३)

(१६) भोजराज—लेखक, श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेउ । मूल्य ३॥) सजिल्द, ३) बिना जिल्द ।

(१७) हिंदी उर्दू या हिंदुस्तानी—लेखक, श्रीयुत पंडित पद्मसिंह शर्मा। मूल्य सजिल्द १॥), बिना जिल्द १)

(१८) नातन—लेसिंग के जर्मन नाटक का अनुवाद । अनुवादक—मिर्ज़ा अबुलफ़ज़्ल । मूल्य १)

(१९) हिंदी भाषा का इतिहास—लेखक, श्रीयुत धीरेंद्र वर्मा, एम्० ए० । मूल्य सजिल्द ४), बिना जिल्द ३॥)

(२०) औद्योगिक तथा व्यापारिक भूगोल—लेखक, श्रीयुत शंकरसहाय सक्सेना । मूल्य सजिल्द ५॥), बिना जिल्द ५)

(२१) ग्रामीय अर्थशास्त्र—लेखक, श्रीयुत ब्रजगोपाल भटनागर, एम्० ए० । मूल्य ४॥) सजिल्द; ४) बिना जिल्द ।

(२२) भारतीय इतिहास की रूपरेखा (२ भाग)—लेखक, श्रीयुत जयचंद्र विद्यालंकार । मूल्य प्रत्येक भाग का सजिल्द ५॥) बिना जिल्द ५)

हिंदुस्तानी

तिमाही पत्रिका

की पहले तीन वर्ष की कुछ फ़ाइलें अभी प्राप्त हो सकती हैं। मूल्य पहले वर्ष का ८) तथा दूसरे और तीसरे वर्ष का ५) ।

प्रकाशक

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

सोल एजेंट

इण्डियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद

नोबेल पुरस्कार-प्राप्त

प्रसिद्ध नाट्यकार

जॉन गाल्सवर्दी

की

चार अमूल्य रचनाएँ

१—न्याय—'जस्टिस' नामक नाटक का अनुवाद। अनुवादक—श्रीयुत प्रेमचंद। मूल्य २।)

२—हड़ताल—'स्ट्राइफ़' नामक नाटक का अनुवाद। अनुवादक—श्रीयुत प्रेमचंद। मूल्य २)

३—धोखाधड़ी—'स्किन गेम' नामक नाटक का अनुवाद। अनुवादक—श्रीयुत ललिताप्रसाद शुक्ल, एम्० ए०। मूल्य १।।।)

४—चाँदी की डिबिया—'सिल्वर बॉक्स' नामक नाटक का अनुवाद। अनुवादक—श्रीयुत प्रेमचंद। मूल्य १॥)

सभी पुस्तकों पर सुंदर सुनहरी कपड़े की मज़बूत जिल्दें हैं।

प्रकाशक

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

सोल एजेंट:

इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग ४ } अक्तूबर १९३४ { अंक ४

डिंगळ और काव्यदोष

[लेखक—श्रीयुत नरोत्तमदास स्वामी, एम० ए०]

(१)

राजस्थानी भाषा के एक साहित्यिक रूप का नाम डिंगळ है। डिंगळ का साहित्य प्रधानतया वीर-रसात्मक है। द्वित्त और संयुक्त वर्णोंवाले शब्दों का प्रचुर प्रयोग उस की एक विशेषता है। ऐसे शब्दों से वीर-रसोपयोगी ओज-गुण की व्यंजना में बड़ी सहायता मिलती है, अतः वीर-रस की कविता में उन का ग्रहण स्वाभाविक ही है। बोलचाल की भाषा में ऐसे शब्द बहुत कम प्रयुक्त होते हैं, क्योंकि उन के उच्चारण में कठिनता होती है। अपभ्रंश-काल के पीछे राजस्थानी का विकास होने लगा तो अपभ्रंश के कज्ज, कम्म आदि शब्द धीरे धीरे काज और काम आदि बन गए, पर कविता में कज्ज और कम्म आदि का ही बोलबाला रहा। आरंभ में बोल-चाल की भाषा और इस काव्य-भाषा में कोई विशेष अंतर न था, केवल कतिपय शब्दों के रूपों में ही विभिन्नता थी; पर धीरे धीरे अंतर बढ़ता गया। आगे चल कर तो कविजन शब्दों को द्वित्त वर्णोंवाले बनाने के लिए जान-बूझ कर उन की कपाल-क्रिया करने लगे। धीरे धीरे यह काव्य-भाषा एक कृत्रिम भाषा बन गई और संस्कृत की भाँति

बहुत कुछ स्थिर हो गई—उस का विकास रुक-सा गया। यही काव्य-भाषा आगे चल कर 'डिंगळ' कहलाई।

डिंगळ मुख्यतया चारण-भाटों की काव्य-भाषा है। डिंगळ-साहित्य के अधिकांश लेखक चारण-भाट ही हैं। डिंगळ के अतिरिक्त साधारण बोल-चाल की राजस्थानी में भी विस्तृत साहित्य वर्तमान है।

इस का नाम डिंगळ क्यों पड़ा और कब पड़ा—इस विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इतना निस्संदिग्ध है कि यह नाम प्राचीन नहीं है। डिंगळ नाम पड़ने के कारण और डिंगळ शब्द के अर्थ विभिन्न विद्वानों ने जो जो बतलाये हैं उन का उल्लेख हम नीचे किए देते हैं—

(१) बहुत से विद्वानों की सम्मति में इस प्राचीन काव्य-भाषा का 'डिंगळ' यह नाम 'पिंगळ' शब्द के साम्य पर रक्खा गया है। वैष्णव कवियों की अमर वाणी ने ब्रजभाषा को वह महत्व प्रदान किया कि राजस्थान में भी वह लोकप्रियता प्राप्त करने लगी और राजस्थान के कवि भी ब्रज की ओर झुके। अब राजस्थान के कवि दो प्रकार की भाषाओं में काव्य-रचना करने लगे। धीरे धीरे ब्रज को पिंगळ कहने लगे और बाद में पिंगळ के ही नाम-साम्य पर राजस्थान की काव्य-भाषा डिंगळ कही जाने लगी।[1]

---

[1] ब्रजभाषा के इस उत्थान के पूर्व प्रायः समस्त पश्चिमोत्तर भारत की साहित्यिक भाषा राजस्थानी थी। कबीर आदि प्राचीन कवियों की भाषा को देखने से इस सिद्धांत की पुष्टि होती है। अवश्य ही उस राजस्थानी में स्थानीय बोलियों का संमिश्रण रहा होगा। राजस्थानी की इस प्रधानता का कारण यही था कि राजस्थानी आरंभ से ही साहित्यिक भाषा थी। अपभ्रंश के पीछेवाले समय में गुजरात से लेकर ब्रज एवं अंतर्वेद तक के बड़े भू-खंड में एक ही भाषा—साधारण विभिन्नताओं के साथ—बोली जाती थी, जिस को हम प्राचीन राजस्थानी कहेंगे। आधुनिक राजस्थानी, गुजराती, ब्रज आदि का विकास इसी प्राचीन राजस्थानी से हुआ है। कबीर की भाषा और उस की प्रामाणिकता आदि के विवेचन के लिए एक स्वतंत्र निबंध की है।

डाक्टर टैसीटोरी का कथन है कि डिंगळ आरंभ में एक विशेषण शब्द था और उसका अर्थ है अनियमित, या गँवारू। डिंगळ कविता साहित्य-शास्त्र के काव्य रचना-संबंधी नियमों को नहीं मानती थी, अतः उस का यह नाम पड़ा। जिस समय यह नाम पड़ा उस समय ब्रजभाषा या पिंगळ, डिगळ से ऊँची समझी जाती होगी।[1]

श्रीयुत गजराज ओझा कहते हैं कि 'ड' अक्षर डिगळ भाषा मे प्रचुरता से प्रयुक्त होता है और डिंगळ की एक विशेषता कहा जा सकता है। इसी कारण पिंगल शब्द के साम्य पर इसका नाम डिंगळ रक्खा गया।[2]

(२) डाक्टर हरप्रसाद शास्त्री का कहना है कि इस भाषा का नाम आरंभ मे डगळ या डगर था। बाद में ब्रजभाषा की प्रधानता होने पर ब्रज के पिंगळ नाम के साम्य पर इस शब्द को डिंगळ बना दिया गया। उन का कथन है कि कविराज महामहोपाध्याय मुरारिदान भी इस विषय में उन से सहमत हैं।[3]

(३) श्रीयुत पुरुषोत्तमदास स्वामी के अनुसार डिगळ शब्द *डिम्+गळ* इन दो शब्दों से बना है। उन का कहना है कि *डिम्* का अर्थ डमरू की ध्वनि है तथा *गळ* का तात्पर्य गले से है; डमरू को ध्वनि रणचंडी का आवाहन करती तथा वीरों को उत्साहित करने वाली होती है, डमरू वीर-रस के देवता महादेव—प्रमथ—का बाजा है; जो कविता गले से निकल कर डमरू की डिम-डिम ध्वनि की तरह वीरों के हृदयों को उत्साह से भर दे उस को डिंगळ कहेंगे और

---

[1] 'जर्नल अव् दि एशियाटिक सोसाइटी अव् बंगाल', जिल्द १०, संख्या १०, १९१४, पृ० २७६।

[2] 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका', नवीन संस्करण, भाग १४, अंक १, पृष्ठ १२१–१२४।

[3] 'प्रिलिमिनरी रिपोर्ट अन दि आपरेशान इन सर्च अव् मैनुस्क्रिप्ट्स अव् बार्डिक क्रानिकल्स', एशियाटिक सोसाइटी अव् बंगाल , पृ० १५।

डिंगळ भाषा में ऐसी कविता की प्रधानता होने के कारण उस का नाम भी डिंगळ पड़ गया।[१]

(४) एक अन्य मतानुसार डिंगळ का मूल *डिंभ+गळ* है। *डिंभ* का अर्थ है बालक और *गळ* का अर्थ है गला। अतः डिंगळ का अर्थ हुआ बालक की भाषा या बालक की-सी भाषा। जैसे प्राकृत का नाम बालभाषा है, उसी तरह यह डिंभगळ कहलाई जिस से बिगड़ कर डिंगळ कहलाने लगी।

हमारी सम्मति में डिंगळ यह नाम पिंगळ के साम्य पर पड़ा है, पर इस के जो कारण या इस शब्द के जो अर्थ ऊपर बताए गए हैं वे ठीक नहीं हैं। यह नाम किसी व्यक्ति-विशेष द्वारा सोच समझ कर, या किसी अर्थ को ध्यान में रखकर, नहीं रक्खा गया है।[२]

डिंगळ का साहित्य-शास्त्र अपनी निज की बहुत-सी विशेषताएँ रखता है। इसी प्रकार उस का छंद-शास्त्र भी विशेषता-परिपूर्ण है। इस निबंध में हम डिंगळ साहित्य-शास्त्र के अनुसार काव्य-दोषों का परिचय पाठकों को संक्षेप में करावेंगे।

डिंगळ के साहित्य-शास्त्र मे काव्य के दोषों की संख्या दस है। काव्यादर्शकार आचार्य दंडी के बताए हुए दस दोषों से इन का कोई संबंध नहीं। इन के नाम इस प्रकार हैं —

(१) छबकाळ दोष
(२) पाँगळो दोष
(३) जात-विरुध दोष
(४) पखतूट दोष
(५) निनंग दोष
(६) हीण दोष

---

[१] 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका', भाग १४, अंक २, पृष्ठ २२४–२५।

[२] इस विषय का और डिंगळ-साहित्य की अन्यान्य बातों का विवेचन हम अपने एक दूसरे लेख में कर रहे हैं जो प्रकाशित होगा।

(७) अपस दोष

(८) बहरो दोष

(९) नाळछेद दोष

(१०) अंध दोष [1]

दोषों के ये नाम साभिप्राय हैं। जैसे शरीर में अंधता, कुष्ठ, पंगुत्व, पक्षाघात, बधिरत्व आदि दोष होते हैं वैसे ही कविता के शरीर में ये दोष होते हैं। इन के शब्दों के अर्थ इस प्रकार हैं—

(१) छबकाळ=जिस के शरीर में सफ़ेद (अर्थात् कुष्ठ के) दाग़ हों।

(२) पाँगळो=पंगु, लूला।

---

[1] दोषों के नामों की यह कल्पना विचित्र और नवीन है। संस्कृत के किसी साहित्य-ग्रंथ में ऐसी कल्पना देखने में नहीं आई। हाँ, महाकवि केशवदास की 'कवि-प्रिया' में दोषों के नाम इसी प्रकार के हैं। संभव है उन्होंने यह कल्पना डिंगळ के साहित्य-शास्त्र से ली हो। केशव ने जो दोष बताए हैं, उन के नाम ये हैं—

(१) अंध, (२) वधिर, (३) पंगु, (४) नग्न, (५) मृतक। इन के लक्षण इस प्रकार दिए गए हैं—

(१) अंध विरोधी पंथ को।
(२) वधिर सु शब्द-विरुद्ध॥
(३) छंद-विरोधी पंगु गनि,
(४) नग्न जु भूषण-हीन।
(५) मृतक कहावै अर्थ बिनु।
केशव सुनहु प्रवीन॥

पंथ = कवि-संप्रदाय, कवियों की बाँधी हुई रीति।

भूषण = अलंकार।

इन में अंध, वधिर और पंगु ये तीन नाम डिंगळ के काव्य-दोषों में भी आते हैं पर लक्षण सर्वथा भिन्न हैं। इन पाँच दोषों के अतिरिक्त और भी दोष केशव ने बताए हैं, पर इन को प्र दी है

(३) जातविरुध=जिस की जाति का पता नहीं ।

(४) पखतूट=पक्षाघातवाला ।

(५) निनंग=पागल, बावला ।

(६) हीण=नपुंसक ।

(७) अपस=निरर्थक ।

(८) बहरो=बहरा ।

(९) नाळछेद=नाल-भ्रष्ट ।

(१०) अंध=अधा ।

इन दोषों के लक्षण और उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

(१) छबकाळ दोष—जब कविता के बीच-बीच में अन्यान्य भाषाओं के शब्दों, क्रिया-पदों, सर्वनामों, अव्ययों या शब्द-समूहों का प्रयोग किया जाता है, तब यह दोष होता है। ऐसे शब्द या पद खीर मे मूसल की तरह खटकते हैं और ऐसे मालूम होते हैं जैसे शरीर मे कोढ़ के सफ़ेद दाग़ ।[१]

उदाहरण—

(१) चित वह लगै रामरे चरणाँ,
नह जब लग निसतारो ॥

यहाँ 'जब लग' यह शब्द-समूह व्रजभाषा का है ।

(२) तक्यो न मन हरि-पग जिह ताँई,
पार न उतरै प्रानी ॥

यहाँ 'प्रानी' यह व्रजभाषा का शब्द है; डिंगळ में 'प्राणी' होना चाहिए ।

(३) पग्यो न दिल प्रभुरे पद-पंकज,
भिसत न त्याँ तक भेंटै ॥

---

[१] (क) कहै वळे छबकाळ विरुध भाखा विसतारै ।
(रघुनाथ-रूपक)
(ख) विसतारै भाखा विरुध कहै वळे छबकाळ ।
)

यहाँ 'भिसत' शब्द फ़ारसी और 'भेंटै' शब्द व्रज का है।

(४) भैरव देव अदेव भलाँ ई,
निरखो फिर-फिर नैनाँ।
मुगत-तणो सीतारो मालक,
हर विन दाता है नाँ॥

यहाँ 'नैनाँ' शब्द व्रजभाषा का है, डिंगळ में इस का रूप 'नैणाँ' है; उसी का प्रयोग होना चाहिए था, पर ऐसा करने से तुक नहीं मिल सकती।[1]

(२) पाँगळो दोष—जब छंद में नियमित मात्राओं से कम या अधिक मात्राएँ अथवा अक्षर हों तब पाँगळो दोष होता है।[2]

उदाहरण—

(१) हालै जिण अगर घूमता हसती,
ताता गयण, झूमता तुरंग।

यहाँ दूसरे चरण में पंद्रह मात्राएँ होनी चाहिए पर हैं सोलह, अतः पाँगळो दोष है।

(२) सुजस आठ दिसाँ सरसावै,
आठूँ दिस खावै अर ताप।

यहाँ पहले चरण में सोलह मात्राएँ होनी चाहिए पर हैं पंद्रह ही।

(३) जातविरुध दोष—जिन छंदों का मेल एक गीत में नहीं होना चाहिए उन का मेल जब कर दिया जाता है तब यह दोष होता है। किसी

---

[1] श्री गजराज ओझा ने अपने 'डिंगळ भाषा' नामक निबंध में लिखा है कि यह दंडी का देश-काल-कला-लोक-न्यायागम-विरोधी दोष है। यह भूल से लिखा गया जान पड़ता है।

[2](क) पाँगळो छंद भाखै प्रगट वध-घट कळा बखाणजे।
(रघुनाथ-रूपक)

(ख) पंगु दोख जो है प्रगट वध-घट कळा वणाव।
(

किसी के मतानुसार एक ही गीत में एक से अधिक प्रकार के छंदों का प्रयोग किया जाय, यानी एक ही गीत में भिन्न प्रकार के छंदों का मेल किया जाय, तब भी यह दोष होता है।[१]

उदाहरण—

गीत—अवनीमें जिके भलाँ ई आया,
करै सदा सुकृतरा काम।
दान सदा बित सारू देवै,
नित रसणा लेवै हर-नाम ॥१॥
गिणजे सद ज्याँरी जिंदगाणी,
ऊभै विरद धरिया अखत।
प्रारंभै दोलत पुन पाणाँ,
पुणै सुवाणाँ सीतपत ॥२॥
धन वे पुरख वडापण-धारी,
खलक-सिरोमणि सुजस खटै।
उमगै दान ऊधमै आचाँ,
राम-राम मुख-हूँत रटै ॥३॥
देह जिकण वाताँ पे दोई,
तिके सदा ई तीखा।
बीजा जड़-जंगम वसुधारा,
सारा जीव सरीखा ॥४॥

---

[१] (क) विच अवर अवर ढाळो वणै जात-विरुध सो जाणजे।

(रघुनाथ-रूपक)

(ख) अवर अवर कळ गीत इम, अवस दुवाळे आण।
नाम दोष तिणनूँ निपट, जात-विरुध सो जाँण ॥

(पिंगळ-कोष)

इस गीत में चार छंद हैं और वे चारों ही भिन्न प्रकार के हैं। इन में से पहले तीन का तो मेल हो सकता है पर चौथे का मेल वर्जित है।

(४) पखतूट—जब गीत की कुछ जोड़ें तो पक्की हों और कुछ कच्ची हों यानी गीत के कुछ छंदों मे तो अनुप्रास लाया जावे और कुछ में न लाया जावे तब पखतूट दोष होता है।[1] अन्य मतानुसार जब अनुप्रास का प्रयोग न हो तब यह दोष होता है।[2]

उदाहरण—

गीत—अठे रामरा सुभड, ने सुभड रावण उठी ,
लंकरे जोर वर खेत लड़वा।
तीर सेलाँ छुराँ झीक तरवारियाँ ,
वाजिया विने ही रंभ वरवा ॥१॥
उडै पग-हाथ, किरका हुवै अंगरा ,
वहै रत जेम सावण वहाळा।
आप आपोपरी जोयने आडियाँ ,
लडै रिण भला भला तिराताळा ॥२॥
तहक नीसाँण हरखाँण गिरवाँण तन ,
चिताँ सरसाँण रंभ गाँण चालै।
निडर रिख-राँण गह पाँण वीणा नचै ,
भाँण रथ ताँण घमसाँण भालै ॥३॥

यहाँ पहले दो छंदों में अनुप्रास नहीं और तीसरे में वह एकाएक आ जाता है।

---

[1] तठे दोख पखतूट जोड़ पतळी अर जालम।
(रघुनाथ-रूपक)

[2] पुणे जोड़ पतळी निपट सो पखतूट सुणात।
(डिंगळ-कोष

(५) निनंग दोष—जब वर्णन बिना क्रम और बिना ठिकाने का हो तब यह दोष होता है।[१]

उदाहरण—

गीत—वसू माँस-कादम मचे, असत परबत वणे,

रुधर मिळ सरत-पत हुवो रातो।

अजोध्यानाथ दसमाथरा वण अडग,

माहा वे ओड भाराथ मातो ॥१॥

वरंगाँ राळ वरमाळ सूराँ वरै,

त्रिपत पंखाळ, दिव खुलै ताळा।

सबळ पड भार सिर तणावै,

अहेसुर महेसुर वणावै रुंडमाळा ॥२॥

कटाराँ सराँ लग सेल खंजर करद,

अंग कर जड़द पड़िया अथाहाँ।

जोध सुर असुर वे सरोबर जूटिया,

बरोबर करे सारीख वाहाँ ॥३॥

सीस दस झड़ै धनुधाररा सायकाँ,

हेर कप भाल अणपार हरखे।

वसू सारी सुजस पयंपै सुवाणाँ,

विमाणाँ बैठ सुर सुमन वरखे ॥४॥

इस वर्णन में पहले दोनों सेनाओं का वर्णन, फिर शस्त्र-प्रहार का वर्णन, फिर अप्सरा-वरण का वर्णन और फिर लोहू, हाड़, मांस आदि का वर्णन होना चाहिए था पर यहाँ पर पहले लोहू, हाड़, मांस का वर्णन, फिर

---

[१] (क) निनँग जेणने निरख विकळ वरणन बिन ठाहर।

(रघुनाथ-रूपक)

(ख) निनँग जेणनूँ निरख तन विन क्रमरो वरणाव।

(पिंगळ-कोष)

अप्सरा-वरण का वर्णन, फिर शस्त्र-प्रहार का वर्णन और फिर दोनों सेनाओं का उल्लेख आया है।[1]

(६) हीण दोष—जब पात्र का परिचय दिए बिना ही वर्णन किया जाय अथवा इस प्रकार वर्णन किया जाय कि वर्ण्य का ठीक-ठीक पता न चले या संशय उत्पन्न हो जाय तब हीण दोष होता है।[2]

उदाहरण—

गीत—मनरा महराण समापण मोजाँ,
कापण दीनाँ-तणा कुरंद।
दीजै किसो समोवड़ दूजो,
पेखे चक्रत रहै पुरंद ॥१॥
भिड़ै सचेत वडाला भारथ,
चवड़े खेत करै चित चोज।
अतुळी वळ आड़ै असुराँरो
खागाँ मार गमाड़ै खोज ॥२॥
पात सुजस अखियात पयंपै
दातव अलमरवात दुवै।
जगमें, राम, तुहारे जोड़े
हुवो न कोई फेर हुवै ॥३॥

यहाँ अंतिम पंक्ति से ज्ञात होता है कि 'राम' का वर्णन है पर पता

---

[1] श्री गजराज ओझा ने इसे दंडी का अपक्रम दोष बताया है, पर यह ठीक नहीं जान पड़ता।

[2] (क) हीण दोख सो हुवै मात-पित मुदो न जाहर।

(रघुनाथ-रूपक)

(ख) जात पिता जाहर न जप हीण दोख सोहाळ।

)

नहीं चलता कि किस राम का वर्णन है क्योंकि यह वर्णन परशुराम, बलराम और श्रीराम इन तीनों रामों पर लागू हो सकता है।[1]

(७) अपस दोष—जब बात इतनी घुमा-फिराकर कही जाय कि अर्थ में क्लिष्टता उत्पन्न हो जाय और अर्थ का पता बड़ी कठिनता से लगे।[2] कूट पदों में यही दोष होता है।

उदाहरण—

नदियाँ-पत तास सुतारो नायक,
जिणनूँ काठो झल्लै।
जळ-सुत-मीत तास सुत, जिणनूँ,
घात कदे नह घालै॥

[अर्थ—जो भगवान् (नदियों का पति समुद्र, उस की सुता लक्ष्मी, उस के पति भगवान् विष्णु) का सहारा दृढ़ कर के पकड़ लेता है उस पर यमराज (जल का सुत कमल, उस का मित्र सूर्य, उस का पुत्र यम) कभी अपनी घात नहीं चलाता।]

यहाँ भगवान् और यमराज के नाम सीधे न लेकर घुमा फिराकर लिए गए हैं, अतः अपस दोष है। यहाँ लक्ष्मीपति और सूरज-सुत कहना ही काफ़ी था।[3]

(८) बहरो दोष—जब वाक्य में शब्द-योजना ऐसी बेढंगी हो कि

---

[1] राम शब्द के ये तीनों अर्थ होते हैं।

[2] (क) अपस अमूझ्यो अरथ सबद पिण विण हित साझै।
(रघुनाथ-रूपक)

(ख) ईखै नह जिणरो अरथ विण हित सबद वणात।
अपस दोख इणनूँ अखैं कवियण नाम कुहात॥
(डिंगळ-कोष)

[3] इसे श्रीगजराज ओझा ने दंडी का अपार्थ दोष कहा है, पर यह अशुद्ध है

इष्टार्थ से विरुद्ध अर्थ भी निकल सके और इस प्रकार शुभवाचक कथन अशुभ-वाचक हो जाय, तब यह दोष होता है।[1]

(१) वीर मागा नहीं सार वागाँ

इस पंक्ति का अर्थ है कि शस्त्र-प्रहार होने पर भी योद्धा नहीं भागे पर यह अर्थ भी निकल सकता है कि शस्त्र-प्रहार न होने पर भी योद्धा भाग गए।

(२) पराजै हुई नह फतह पाई

इस का अर्थ है कि पराजय नहीं हुई और फतह पाई। पर यह अर्थ भी हो सकता है कि पराजय हुई और फतह नहीं पाई।

श्रीहर्ष की यह पंक्ति इस दोष का अच्छा उदाहरण है—

तव वर्त्मनि वर्त्ततां शिवम्

अर्थात् तुम्हारे मार्ग में कल्याण रहे। पर यदि 'वर्त्मनि' का 'नि' 'वर्त्तताम्' के पहले पढ़ा जाय तो विपरीत अर्थ हो जायगा। यथा—

तव वर्त्म निवर्त्ततां शिवम्

अर्थात् तुम्हारे मार्ग में कल्याण निवृत्त हो जाय।

(९) नाळछेद दोष—जब 'जथा' का अंत तक समुचित निर्वाह न किया जाय तब नाळछेद दोष होता है।[2] वर्णन के प्रकार-विशेष को जथा कहते हैं। डिंगळ के साहित्य-शास्त्र में इस के ग्यारह भेद किए गए हैं।

---

[1] (क) वहरो सो सुभ वयण मुड़े अणसुभ हो मालम।

(रघुनाथ-रूपक)

(ख) सुभ सुवयण जो ह्वै असुभ वहरो दोख बुलात।

(डिंगळ-कोष)

[2] (क) नाळछेद जिण नाम जथा-हीणो गुण जाड़ै।

(रघुनाथ-रूपक)

(ख) अवर पहल दूहा अरथ अरथ दूसरे और।

नाळछेद दूखण निरख बोलै राम बहोर॥

डिंगळ-कोष)

उदाहरण—

गीत—नरहर समरताँ न वीतै नाणो,
लवसूँ तिको न लेवै।
पर-नारी निरखै कर प्रीताँ,
दाम हजाराँ देवै॥ १ ॥
लेताँ दाम छिदाम न लागै,
विगत जिकी नहि व्यापै।
आछी तिया लखै अवराँरी,
सहसाँ माल समापै॥ २ ॥
तरसै देख अवर बनतावाँ,
भूलै रघुवर भोळा।
जद करसी पिसतावो जमरा,
दूत फिरैला दोळा॥ ३ ॥
सुचिता हुय भजियाँ सायवने,
पामै सद्‌गत प्राणी।
वेद-पुराण कहै, पर-वामा,
नरकाँ-तणी निसाणी॥ ४ ॥

यहाँ पहले दो छंदों मे तो शुद्ध 'जथा' है, आगे उस का निर्वाह नहीं हुआ है।[1]

(१०) अंध दोष[2]—जब 'उक्ति'[3] का अंत तक निर्वाह न हो अर्थात्

---

[1] श्रीयुत गजराज ओझा ने इस दोष का जो लक्षण दिया है वह अशुद्ध जान पड़ता है।

[2] (क) रुळै उकतरो रूप अंध सो नाम उचारै।
(रघुनाथ-रूपक)
(ख) उकत पहल हूँ और ही आगे और अणात।
अंध दोख तिणनूँ अवस कवियण सदा कहात॥
(डिंगळ-कोष)

[3] डिंगळ साहित्य-शास्त्र में उक्तियों के मुख्य चार भेद हैं

पहले एक प्रकार की उक्ति हो फिर दूसरे प्रकार की आ जाय, तब अंध दोष होता है।

उदाहरण—

गीत—दिलड़ा समझ रे सगळो जग दाखै,
पछै घणो पिसतासी।
पुरख-जनम कद तू पामैला,
गुण कद हररा गासी ॥ १ ॥
मात-पिता बंधव दोलत मद,
सुत त्रिय जोड़ सँधाणो।
माया रे आडंबर माँहे,
अंधा, केम भुलाणो ॥ २ ॥
समजै क्यूँ न अजूँ, समजाऊँ,
भूल मती हिव भाया।
दोड़ै उमर चटक्का देती,
छित जिम बादळ-छाया ॥ ३ ॥
सोवै खाय, करै नह सुकृत,
खोवै दीह खलीता।
प्रीत करे समरे सीतापत,
जिके जमारो जीता ॥ ४ ॥

---

(१) सनमुख उक्ति—जब कवि पात्र को या वर्ण्य व्यक्ति को संबोधन कर उस से मध्यम पुरुष में कुछ बात कहे, तो सनमुख उक्ति होती है।

(२) परमुख उक्ति—जब कवि पात्र या वर्ण्य वस्तु, व्यक्ति आदि का साधारण वर्णन करे, तब परमुख उक्ति होती है।

(३) श्रीमुख उक्ति—जब पात्र अपने आप से स्वगत भाषण करे।

(४) परामुख उक्ति—जब पात्र या वर्ण्य व्यक्ति किसी दूसरे पात्र या वर्ण्य व्यक्ति से बात करता हो।

इस गीत में पहले दो छंदों में परामुख[1] उक्ति है। तीसरे छंद में सन्मुख[2] उक्ति है और चौथे छंद में परमुख[3] उक्ति है। इस प्रकार उक्ति का निर्वाह न होने से अंध दोष हुआ।

---

[1] कवि सांसारिक लोगों की मन के प्रति कही हुई उक्ति का कथन करता है।

[2] कवि सीधे मन को संबोधन कर स्वयं कहने लगता है।

[3] कवि मन से बात कहता कहता उसे छोड़ कर उपदेश देने लगता है कि जगत में जीवन किन का सफल होता है।

धर्मतत्व पर आर्ष विचार

[लेखक—रावराजा पंडित श्यामाविहारी मिश्र
तथा रायबहादुर पंडित शुकदेवबिहारी मिश्र]

(क्रमागत)

प्रतिमा और तीर्थ

प्रतिमा मुख्यतया पाश्चात्य एशिया की संस्था है। मिश्र देश में सूर्य का पूजन रा नाम्नी मूर्ति से होता था। असीरिया मे छः हजार बी० सी० के पूर्ववाले शिलालेख मंदिरों तथा प्रतिमा-पूजन की साक्षी देते हैं। १५०० बी० सी० मे इश्तार देवता की मूर्ति मेसोपोटैमिया से मिश्र देश को बड़े गाजे-बाजे के साथ ले जाई गई थी। भारत में 'ऋग्वेद' द्वारा प्रकट है कि आदिम निवासी शिश्न-पूजक थे। इस कथन से यह निश्चय नहीं होता कि वे सजीव विशेषांग के पूजक थे अथवा उस की प्रतिमा मात्र के। "न तस्य प्रतिमास्ति" का वैदिक वचन आया है, जिस से जान पड़ता है कि उन अनार्यों मे प्रतिमा-पूजन चलता था, जिस का इस ऋचा से अपने लिए निषेध किया गया। इतना निश्चय है कि आर्यों में उस काल प्रतिमा-पूजन न था। जैसा कि ऊपर आ चुका है, 'ऋग्वेद' मे रुद्र शिव साधारण देवता थे, किंतु 'यजुर्वेद' तथा 'अथर्ववेद' मे यह ईश्वर हो गए। आठ-दस साल हुए हरप्पा और मोहनजोदड़ो नामक दो स्थानो मे खोदाई होने से ३० वीं या ४० वीं शताब्दी बी० सी० की भारतीय सभ्यता के प्रचुर चिह्न मिले हैं। योरोपियनों का विचार है कि यह सभ्यता अवैदिक थी, क्योंकि उन की सम्मति मे भारतीय आर्य-सभ्यता का समय प्रायः २००० बी० सी० से चलता है। तिलक महाशय वैदिक समय प्रायः ४००० बी० सी० से मानते हैं। हरप्पा और मोहनजोदड़ो में शिवलिंग की मूर्तियाँ निकली हैं। शिव

का पूजन विशेषतया 'यजुर्वेद' के समय से चलता है। समझ पड़ता है कि अनार्य लिंग-पूजक थे ही, साथ ही साथ भूत-प्रेतों को भी पूजते थे। यह पूजन भय के कारण था, और इधर रुद्र का भी वैदिक पूजन विशेषतया भय-मूलक होने से उन के पूजन-विधान से साम्य रखता था। इस लिए उन्हों ने रुद्र को अपनाया और इन के गणों में उन के भूत-प्रेतादि आ गए तथा उन का लिंग-पूजन शिवलिंग से संबद्ध हो गया। इस प्रकार अनार्यों के प्रभाव से यजुर्वेद के समय तक शिव का माहात्म्य भी बढ़ गया। हरप्पा और मोहनजोदड़ो में शिवलिंग निकलने से यह मानना पड़ेगा कि उस सभ्यता का समय 'ऋग्वेद' तथा 'यजुर्वेद' के बीच मे था, या यह समझना पड़ेगा कि शिव आदि से ही अनार्यों और आर्यों इन दोनो के देवता थे, तथा पहले-पहल आर्यों ने 'ऋग्वेद' में शिवलिंग-पूजन की घोर निंदा की और फिर 'यजुर्वेद' के समय में ही शैव माहात्म्य बढ़ गया। जब शिव 'ऋग्वेद' के देवता थे ही, तब उस में शिवलिंग-पूजन की निंदा समझ मे कम आती है। इस से यही जान पड़ता है कि अनार्य पहले लिंग-पूजक मात्र थे और पीछे आर्य-प्रभाव से शिवलिंग-पूजक हो गए तथा उन के प्रभाव से आर्यों में शैव माहात्म्य बढ़ गया।

यह निष्कर्ष अनिवार्य है कि भारत मे तीसवीं चालीसवीं शताब्दी बी० सी० में प्रतिमा-पूजन चलता था, जिसे आर्यों ने पौराणिक समय-पर्यंत न माना। 'सदविंश उपनिषत्' में दैवत् प्रतिमाओं के हँसने, खेद करने, नाचने आदि का कथन है। यह वर्णन कुछ भद्दा होने से केवल अनार्य प्रतिमाओं से सबद्ध समझ पड़ता है, क्योंकि उन के प्रति पूज्य भाव उस काल के साहित्य मे अप्राप्त है। बौद्धकाल के पूर्व केवल लक्ष्मी की मूर्ति मिलती है, जिस में दोनों ओर से दो हाथी सूँड़ से पानी चढ़ा रहे हैं। बीच में मूर्ति है नहीं, किंतु हाथियों के कारण मानी गई है। यह मूर्ति पूजी भी जाती थी, इस बात का कोई प्रमाण नहीं है। केवल मूर्ति के होने से उस का पूजन किसी अन्य प्रमाण के अभाव में अनिश्चित है। हीनयानीय बौद्ध साहित्य में प्रतिमा-पूजन की आज्ञा नहीं है, किंतु महायानीय साहित्य के समय से इस का प्रचार है। पहली बौद्ध प्रतिमाएँ लक्ष्मी की प्रतिमा के समान सांकेतिक हैं, अर्थात् जातकों

आदि में लिखित अथ च अन्य घटनाओं से संबद्ध हैं। इतर मूर्तियों से भगवान बुद्धदेव की मूर्ति वहाँ मानी गई है। साँची में ऐसी सांकेतिक मूर्तियाँ बहुत हैं। यह दूसरी शताब्दी बी० सी० की कारीगरी है। पुरानी से पुरानी सांकेतिक बौद्ध मूर्तियाँ तीसरी शताब्दी बी० सी० की मिलती हैं, तथा दूसरी शताब्दी बी० सी० की सीधी-सीधी बौद्ध मूर्तियाँ प्राप्त हैं। पहली शताब्दी ईसवी के शिवलिंग मिलते हैं, तथा अन्य मूर्तियाँ भी मिलती हैं। समझ पड़ता है कि बौद्ध मूर्तियों के कुछ ही पीछे हिंदू मूर्तियाँ भी बनने लगीं। समय पर एलिफैंटा, अजंटा, कार्ली, इलोरा, खजराहो, भुवनेश्वर, कांची, मदुरा, काश्मीर आदि अनेकानेक स्थानों में बढ़िया पाषाण-मूर्तियाँ और मंदिर बने। इन मे कुछ गिरि-गुफाएँ काट-काट कर एक ही एक पत्थर के मंदिर, मूर्ति इत्यादि तैयार हुए, जिन मे पाषाण काम के अतिरिक्त रंगों का भी बढ़िया प्रयोग पाया जाता है। इन के अतिरिक्त पाषाण-मंदिर सैकड़ों हजारों बने। ईंट चूने के भी मंदिर बहुत बने और बन रहे हैं।

ईसाई धर्म मे चित्रपटों आदि के द्वारा देवताओं की मूर्तियाँ केवल साम्य के लिए दिखलाई जाती थीं। योरोपीय गिरजाघरों आदि में भी ईसा, मेरी आदि के अतिरिक्त संतों के भी हज़ारों पाषाण-चित्र बनाए गए तथा भीतों में उन के संबंध में कारीगरी की गई। फिर भी उन के यहाँ हमारे समान प्रतिमा-पूजन नही है, यद्यपि ईसा की प्रतिमाओं के आगे मोमबत्ती जलाई जाती है और लोग उन को प्रणाम करते हैं, विशेषतया स्त्रियाँ। पाश्चात्य एशिया में प्रतिमा-पूजन का बड़ा बल था, यहाँ तक कि बल-प्रयोग द्वारा मुसल्मान बनाए जाने पर भी बहुतेरे लोग मस्जिद में नमाज़ पढ़ते समय तक दामनों में प्राचीन प्रतिमाएँ छिपाए रखते थे। अब मुसल्मानी मत के प्रचार से वहाँ से प्रतिमा-पूजन उठ गया है। हज़रत मोहम्मद ने स्वयं अपनी भावी क़ब्र का पूजा जाना मना किया था, किंतु मुसल्मानों में क़ब्रों का मान है बहुत अधिक, और यद्यपि कहने को वे क़ब्र पूजते नहीं, तथापि वास्तव में मान की यह अधिकता पूजन की हद तक पहुँच ही जाती है। अली ने मुसल्मानी मत में विश्वास के अतिरिक्त कर्तव्य-पालन पर ज़ोर दिया था एक भावी

अनुगामी के सीधा मत पूछने पर आप ने एक बात में सत्य को धर्म का तत्व बतलाया था, तथा एक बार जब आप विपक्षी को पराजित कर के उसे मारने ही को थे, तब उस ने इन के मुख पर थूक दिया। इस पर आप यह कह कर उस के बध से हट गए कि अब क्रोध करने से मैं क्रोध से पराजित हो जाऊँगा। यह कर्तव्य-पालन का उदाहरण था। फिर भी इस मत में मुख्यता विश्वास की है। अपने यहाँ प्रतिमाओं की प्राण-प्रतिष्ठा भी होने लगी, जिस से उन से केवल साम्य-प्रदर्शन का काम न लिया गया, वरन् उन में विशिष्ट देवताओं का वास माना जाकर वे देवताओं के समान पूजी जाने लगीं। इस प्रकार योरोपीय प्रतिमाओं से हमारी प्रतिमाओं का मान बढ़ गया। कनिष्क के समय पहली शताब्दी ईसवी से प्रतिमा-पूजन का प्रचार भारत में विशेष हुआ।

समय पर नदियों, तालाबों, समुद्रों, तथा प्रतिमाओं के सहारे से हमारे यहाँ अनेकानेक तीर्थ-स्थान स्थापित हुए। सात पुनीत पुरियों का मान हुआ, बारह ज्योतिर्लिंगों का, तथा चार धामों का। धामों में बदरीनाथ, जगन्नाथपुरी, सेतबंध रामेश्वर तथा द्वारिका की गणना है; पुरियों में अयोध्या, मथुरा, हरिद्वार, काशी, कांची, उज्जयिनी, और द्वारिका की; तथा ज्योतिर्लिंगों में वैद्यनाथ (बिहार), विश्वनाथ (काशी), एकलिंग (मेवाड़), महाकालेश्वर (उज्जैन), घृश्नेश्वर (इलोरा), केदारनाथ (गढ़वाल), गोकर्णनाथ (खीरी), पशुपतिनाथ (काश्मीर), सेतबंध रामेश्वर (ठेठ दक्षिण), त्र्यंबकेश्वर (दक्षिण), सोमनाथ (गुजरात) आदि की। इन के अतिरिक्त गाँव-गाँव में देवमूर्तियाँ हैं तथा प्रांत-प्रांत में प्रसिद्ध तीर्थ हैं। गंगा, यमुना, गोमती, सरयू, सरस्वती, महानदी, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी, नर्मदा, ताप्ती, सोनभद्र, व्यास आदि परम पुनीत नदियाँ हैं, तथा समुद्र की पुनीतता इन सब से बढ़ी हुई है। नदियों का कहीं भी स्नान पुण्य-प्रद है। मुख्य-मुख्य तीर्थ-स्थानों, मंदिरों आदि पर सैकड़ों पंडे आदि रहते हैं, जिन का पूजना बहुत प्रचलित हो गया है। यद्यपि "प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनाम्" का वचन है, जिस से यह पूजन-विधान निम्न श्रेणि का है ही, तथा शास्त्रों में भी प्रतीकोपासना अहंग्रह के आगे हेय है, तथापि भारतीय सहिष्णुता इतनी बढ़ी हुई है कि जो लोग मानसिक उन्नति में

प्रतिमा-पूजन के बहुत आगे बढ़ गए हैं, वे भी औरों को क्लेश न पहुँचाने के लिए न केवल प्रतिमा की निंदा नहीं करते, वरन् उन की पूजा भी कर ही लेते हैं। आजकल हमारे यहाँ शिव, अवतार, तीर्थ तथा प्रतिमा-पूजन ही में हिंदू धर्म का रूप माना जाता है, संध्या-तर्पण, सूत्रकाल विधान भी कुछ कुछ चलता है, किंतु बहुत कम। जपयोग 'गीता' में कथित है और कुछ चलता भी है। शेष हिंदुत्व प्रतिमादि पर ही अवलंबित है।

गीता (३—२९) मे आया है कि निम्न श्रेणी का पूजन करने वाले भी यद्यपि धर्मतत्व से च्युत हैं, तथापि करते तो आखिर देव-पूजन ही है, सो "तानकृत्स्नविदो मंदान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्" (उन अल्पज्ञों का विश्वास ज्ञानी अधिक न हिलावे)। फिर भी 'गीता' में उन्हें 'अकृत्स्नवित् मंद' कहा ही है और यह भी कहा है कि वे धर्मतत्व से च्युत हैं। अतएव एक प्रकार से स्वय 'गीता' में उन के विश्वासों की निंदा है। फिर भी यदि वे उच्चतर ज्ञान या पूजन-विधान तक नहीं पहुँच सकते, तो अनुत्साह द्वारा उन का थोड़ा बहुत धार्मिक कृत्य न हटाया जावे, यही 'गीता' की आज्ञा है। मूर्तियों और तीर्थों के सहारे, संसार में आलसी पुरुषों की बहुत वृद्धि है। वे लोग परिश्रम तो कुछ भी नहीं करते, या कम से कम ऐसा परिश्रम नहीं करते, जिस से देश में उपज की वृद्धि हो, किंतु ९० प्रतिशत श्रमजीवियों से मजे में रहते हैं। देश, काल, पात्र का कथन तो दान-पात्रों के विषय में वे प्रायः किया करते हैं, किंतु यह कभी नहीं सोचते कि सब से बढ़ कर कुपात्र वे ही है। देश के अर्थ मे तो वे तीर्थ-स्थान को समझते हैं, काल में रामनवमी, जन्माष्टमी आदि को और पात्र में अपने को। जो लोग ऐसे अशुद्ध दान किया करते हैं, वे वास्तविक देश, समय और पात्र के संबंध में नितांत अशक्त हो जाते हैं। आजकल भूचाल के कारण बिहार दान के लिए देश है, समय भूचाल के कारण आया है और पात्र वे हैं, जिन्हों ने बिना किसी अपराध के सब कुछ खो दिया है, और जिन के प्राण तक धनाभाव के कारण संकट में हैं, यद्यपि हैं वे श्रमी और देश के भूषण; किंतु अकृतस्नवित मंदों की मूर्खताओं के कारण उन के पास उचित दान के लिए है उन्हें तो चंद्र या सूर्यग्रहण का समय दान-

काल समझ पड़ता है। "एक गुना देय, हजार गुना पावै, गुपित देय सो परघट पावै", यह मंत्र दान के लिए अंतिम निर्णय है। वे दान में भी अच्छे से अच्छा सौदा करते हैं। यह नहीं जानते कि यह सारी धोखेबाजी है। गुप्त दान का उन्हें यह अर्थ नहीं समझ पड़ता कि यश-लिप्सा छोड़ कर दान दिया जावे, उन्हें दिखता है कि नदी में धन फेंकना गुप्त दान है, जिसे खोज कर मल्लाह लेवे।

'गीता' में लिखा है कि संन्यास और योग को मिलाने से कर्तव्य का वास्तविक ज्ञान मिलता है, और कर्तव्य-परायण पुरुष संन्यासी-योगी है, निरग्नि या अक्रिय नहीं (६, १)। 'ज्ञेयः स नित्य संन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति' (५, ३) और 'योगः कर्मसु कौशलम्' (२—५०) के वचन 'गीता' में आए हैं। इन का प्रयोजन है कि अपने लिए इच्छा न करो, किसी से शत्रुता न करो, किंतु करते कुछ अवश्य जाओ। इन तीनों बातों के मिलाने से स्वाध्याय, और परोपकार कर्तव्य पाए जाते हैं। यह भी कहा गया है कि—

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयं।
पुण्यंपरोपकाराय पापाय परपीडनम्॥

अर्थात्

अट्ठारहो पुराण मे व्यास वचन द्वै सार।
पर उपकार सु पुन्य है पाप सु पर अपकार॥

अतएव देखा जाता है कि 'गीता' के पीछे हम ने न केवल अपना पुराना वैदिक धर्म (निर्गुणवाद) नहीं चलाया, वरन् राजनीतिक उन्नति तथा सामाजिक संगठन के विचारों से शक, तुर्क, आभीर, सोदियन, गुर्जर, हूण आदि को मिलाने के लिए उन की मानसिक और धार्मिक उन्नति या अवनति तक पहुँचने को अपना धर्म ही चौपट कर डाला। इन सामाजिक तथा राजनीतिक प्रश्नों की वेदी पर धर्मतत्व का बलिदान करना उचित था या नहीं, इस प्रश्न पर हम कोई मत नहीं प्रकट करते हैं। हमारा केवल इतना कथन है कि उन प्रश्नों के सुलझ चुकने पर क्या अब भी हमें अपने प्यारे धर्म और देशहित का केवल इस लिए बलिदान करना उचित है कि एक बार स्थापित धर्म बदलना

न चाहिए। वास्तव में बात यह है कि आजकल जनसंख्या की अतिवृद्धि से देश के सामने आर्थिक प्रश्न ऐसा विकराल रूप धर के उपस्थित है, कि चाहिए या न चाहिए, अब तो परिवर्तन हो ही रहा है, और रुक नहीं सकता। धार्मिक परिवर्तन भी हमारे यहाँ सदैव से होता आया है, और समाज को जिस-जिस प्रकार से संगठन की आवश्यकता थी, वैसे ही उपदेश हमारे आचार्य देते आए हैं। इस लिए हम को अब शून्यवाद आदि से उत्पन्न झमेले छोड़ कर 'गीता' का धर्म पकड़ना ही होगा।

जाति

'ऋग्वेद' में जाति-भेद न था। ब्राह्मण उस मे यज्ञ का एक अधिकारी मात्र है। शासकगण राजन्य वर्ग हैं। 'यजुर्वेद' में ऐसे भाव उठते हैं कि मैं तो ऐसा ऋत्विज पसंद करता हूँ जो न केवल स्वयं यज्ञ कराता हो, वरन् ऋत्विज का संतान भी हो। यहाँ जातिभेद की ओर झुकाव समझ पड़ता है। 'अथर्ववेद' मे ब्राह्मण एक जाति है, जिस के अधिकार इतरों से बड़े हैं। किसी स्त्री को यदि एक ब्राह्मण चाहता हो और दस अब्राह्मण, तो भी वह ब्राह्मण ही को मिले। सहस्रार्जुन के अत्याचारों से प्रजा ने उन के प्रतिकूल विद्रोह खड़ा किया। प्रजा के नेता होकर परशुराम ब्राह्मण ने क्षत्रियों का नाश किया। यह घटना-समूह भगवान रामचंद्र के पूर्व नारीकवच के समय मे हुआ था। उस काल जातिभेद भलीभाँति स्थिर था। अनंतर सूत्र-काल मे चतुर्वर्ण और चारों आश्रमों के संबंध में नियम दृढ़ता पूर्वक स्थापित हुए। ब्राह्मणों से अन्य जातियों की कन्याएँ भी ब्याही जाती थीं, किंतु ब्राह्मण-कन्याएँ क्षत्रियों आदि के साथ बहुत कम ब्याही गईं। गौतम बुद्ध के समय महाराजा उदयन की तीन रानियों में एक ब्राह्मणी थी, एक क्षत्रिया और एक वैश्या। समय के साथ सीदियन, कुशन, शक आदि हिंदुओं की यथायोग्य जातियों में मिलते रहे। आठवीं शताब्दी के एक यायावर ब्राह्मण की स्त्री क्षत्रिया थी। इस के पीछे मिलित विवाहों के उदाहरण नहीं मिलते। जाति-भेद एक सामाजिक संस्था है, न कि धार्मिक इस ने मुसल्मानों के समय में

हिंदू धर्म और समाज की अच्छी रक्षा की, और उस काल के हमारे ऋषियों ने इस का मान भी किया। आजकल इस से हानि ही हानि समझ पड़ती है।

राज्य और सभ्यता

वेदों में राजन्य वर्ग और सम्राटों तक के कथन हैं, किंतु यह निश्चय नहीं है कि उन लोगों के राज्य कितने बड़े थे। महाराजा रामचंद्र के समय में उन के अतिरिक्त सुदास, जनक, रावण और बालि सम्राट् समझे जाते हैं। बहुत पीछे जनक विदेह का सम्राट् होना 'बृहदारण्यकोपनिषत्' में भी लिखा है। 'महाभारत' के समय जरासंध, दुर्योधन और युधिष्ठिर समय-समय पर सम्राट् रहे। इतिहास भारत का सर्व-प्रथम सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य को समझता है। भारत था तो बड़ा देश, जो हमारा सम्हाला न सम्हला, किंतु बस हम सब कहीं गए। रेल, तार आदि का कोई प्रबंध था नहीं, सो साम्राज्य हमारा चलाया न चला और खंड-राज्य स्थापित हो गए। फिर भी सामाजिक और धार्मिक ऐक्य हिंदुओं ने बहुत अच्छा स्थापित किया। यह ऐक्य सैकड़ों राज्यों के अनैक्य होते हुए भी बहुत दृढ़ रहा, जिस से धर्म और नियम सर्वत्र एक से रहे। हिंदुओं को यह सामाजिक सभ्यता बहुत महती देख पड़ी, और इस के आगे राज्य रंकप्राय समझ पड़े। समय पर राजभक्ति और देशभक्ति की महत्ता हमारी आँखों से ओझल हो गई, जिस से विदेशी लोग हमें सुगमता-पूर्वक जीत सके, क्योंकि युद्धविद्या और देशप्रेम की हमारे यहाँ समुचित उन्नति न हो सकी। हम ने अपना सारा पुरुषार्थ धर्म और समाज-संगठन में लगाया।

निर्गुण तथा सगुण ब्रह्म

इन दोनों वादों के संबंध में हमारे यहाँ ग्रंथों में धार्मिक महाशयों में मतभेद पाए जाते हैं, किंतु इन में अधिक तर्क-विस्तार की आवश्यकता समझ नहीं पड़ती। मनुष्य की शक्ति बहुत ही ससीम है, किंतु ब्रह्म-विस्तार सभी ओर से असीम है। समय और स्थल की ही असीमता पर विचार करने से हमारी बुद्धि चक्कर खाती है। स्थल कहाँ से चला है और कहाँ तक फैलता हुआ जा रहा है, इसी सरल प्रश्न पर समझ काम नहीं देती यही दशा

समय की है। आगे और पीछे दोनों ओर इस का फैलाव सीमा-रहित होने से चित्त उसे पकड़ नहीं पाता, और घबरा जाता है। जब ऐसे-ऐसे नित्य के बरते हुए मामले समझ मे नहीं आते, तो ईश्वर का कहना ही क्या है? वस्तु हम हर समय देखते है, किंतु आगा-पीछा सोचने से उस के विषय में भी अज्ञेय-वाद ही मानना पड़ता है, जैसा कि ऊपर दिखलाया जा चुका है। इन्ही कारणों से ईश्वर के विषय में हमारे शास्त्रों ने 'नेति नेति' का कथन किया है। उस को हस्तामलक कर लेना असंभव है। इस के विषय में कबीर साहब कहते हैं कि—

> जो दीसै सो तौ है नाहीं, है सो कहा न जाई।
> सैना बैना कहि समझाऊँ, गूँगे का गुर भाई॥
> कोई ध्यावै निराकार को, कोइ ध्यावै साकारा।
> वह तो इन दोउन ते न्यारा, जाने जाननहारा॥
> भजूँ तो को है भजन को, तजूँ तो को है आन।
> भजन तजन के मध्य मे, सो कबीर मनमान॥

इस प्रकार परमात्मा का भाव शब्दों द्वारा नहीं बतलाया जा सकता, वरन् इशारों से समझाया जा सकता है। प्रसिद्ध दार्शनिक 'स्पिनोजा' का कथन है कि निर्गुण कहने में भी हम उस में एक अभावात्मक गुण स्थापित करते हैं। तो भी हमारे ऋषियों ने ब्रह्म का वर्णन अन्वयवाची शब्दों से न करके व्यतिरेकवाची शब्दों से किया है, जैसा कि ऊपर कुछ विस्तार-पूर्वक दिखलाया गया है। उपनिषदों का व्यतिरेकवाची वर्णन निर्गुणात्मक है और 'गीता' का विराट् रूप सगुणवाद का एक उदाहरण है। अहंग्रह निर्गुणात्मक है और प्रतीकोपासना सगुणात्मिका। पहला निष्कलवाद है और दूसरा सकलवाद। परमात्मा, परमेश्वर आदि शब्द निष्कल ब्रह्म से संबद्ध हैं और ईश्वर, त्रिमूर्ति, अवतार आदि सकल से। उपनिषदों तक निर्गुणवाद की प्रधानता है और 'गीता' से सगुणवाद की।

धर्म का आधार

धर्म के आधार विविध मतों के प्रथक् हैं कर्तव्याकर्तव्य शास्त्र का

निश्चित सिद्धांत है कि वही कर्म-समुदाय श्लाघ्य है जिस से संसार में मनुष्य-जाति उन्नत हो। किसी के विश्वास चाहे जितने ऊँचे हों, और ज्ञान चाहे जितना सूक्ष्म, विस्तीर्ण या सत्य हो, यदि वह घातक, चोर आदि है, तो निंद्य है ही। ऐसी दशा में उस के सारे विश्वास या ज्ञान उसे महापुरुष न बना सकेंगे। यह भी प्रकट ही है कि कोई निर्गुण ब्रह्म, सगुण ब्रह्म, अवतार, प्रतिमा आदि चाहे जिस को पूजे, यदि उस पूजन से उस के आचरणों में कोई उन्नति नहीं होती, तो वह पूजन वृथा है; और कोई भी पूजन करने से यदि उस के आचरण सुधरते हैं, तो वह पूजन उस के लिए ठीक है। इसी लिए 'गीता' आदि में किसी के उन्नतिकर विश्वास को हिलाने का निषेध है। अतएव धर्म का वास्तविक आधार आचार है न कि विचार। तो भी इतना देखना पड़ता है कि मनुष्य-जाति का अनुभव किस बात में कैसा है? अनुभव के अनुसार ही विविध क्रियाओं का मूल्य निर्धारित किया जाता है। जिस प्रकार के पूजन से संसार में सुकर्मी, श्रमी आदि पुरुषों की वृद्धि हो, वह ऊँचा माना जावेगा, और उस के प्रतिकूल नीचा। यदि गंगा-स्नान करके कोई निश्चय कर सके कि एक बार पाप काट कर अब पाप-पंक में न फँसूँगा, तो उस के लिए वह स्नान अच्छा है। यदि वह सोचे कि पाप तो सुगमता-पूर्वक स्नान से ही कट जावेंगे, फिर उन से बचने की क्या आवश्यकता, तो उस के लिए गंगा-स्नान पाप-वृद्धि का कारण हो कर बुरा हो जावेगा। यदि जगदीश के दर्शन करके कोई भविष्य के लिए सुकर्मी बने, तो दर्शन से उसे पुण्य है, नहीं तो नहीं। वास्तव में जितने पूजनादि हैं वे स्वयं पुण्यकार्य न हो कर एक प्रकार की पाठशाला हैं। यदि उन से भविष्य के लिए सुकर्म-वृद्धि हो, तो वे श्लाघ्य है, नहीं तो नहीं। परोपकार स्वयं पुण्यकार्य है, किंतु पूजन स्वयं पुण्य-कार्य न हो कर एक मार्ग मात्र है, जिस से परोपकार-वृद्धि हो सकती है। इतना ही भजन, पूजन, भक्ति, ज्ञान आदि का धर्म से संबंध है। वे स्वयं पुण्य-कार्य नहीं हैं, वरन् यदि उन के प्रभाव से मनुष्य परोपकारी बने, तो वे श्लाघ्य हैं, नहीं तो नहीं। वे एक प्रकार की शिक्षा के साधन हैं, न कि स्वयं पुण्यकार्य।

हमारे उपनिषदों में ज्ञान की प्रधानता है, ईसाई, मुसल्मानों आदि

मतों में विश्वास की, तथा बौद्ध एवं 'गीता' के धर्म में कर्तव्य-पालन की। 'छांदोग्योपनिषत्' में दो बार ऐसा कथन आया है कि ज्ञान में कमी से शिर गिर जायगा। 'बृहदारण्यक' में एक बार ऐसा कथन मात्र आया है और दूसरी बार कथन के साथ शिर गिर ही गया, अर्थात् अज्ञानी पुरुष का केवल अज्ञान के कारण निधन हो गया। इसी प्रकार कई उपनिषदों में ब्रह्मज्ञान मात्र के कारण अनेक बार फलप्राप्ति के कथन हैं। यह कहा जा सकता है कि शुद्ध ज्ञान से सुकर्मों की वृद्धि बहुत दशाओं में अवश्यंभावी है। फिर भी उन स्थानों में केवल ज्ञान के कारण फलाफल मिलते हैं, उस ज्ञान अथवा अज्ञान-भव सुकर्मों या दुष्कर्मों के कारण नहीं। उपनिषदों के पीछे महात्मा गौतम बुद्ध ने आचार-सारगर्भित बौद्धमत चलाया, जिस में कर्तव्य की प्रधानता रक्खी गई, न कि ज्ञान मात्र की। 'गीता' में बादरायण व्यास भगवान ने भी कर्तव्य-पालन पर पूरा बल दे कर केवल निरग्नि तथा अक्रिय व्यक्तियों की निंदा की। पैग़ंबरवादी मतों में विश्वास की प्रधानता है। भक्ति, ज्ञान आदि का कथन उन में भी है, किंतु मुख्यता विश्वास की है। 'मोमिन' अर्थात् विश्वासी पुरुष उन के यहाँ श्लाघ्य है। चाहे उन विश्वासों के अनुसार उस ने काम कुछ भी न किया हो, फिर भी केवल विश्वासों के कारण ईश्वरीय न्याय में उसे थोड़ा बहुत लाभ अवश्य होगा।

स्वामी शंकराचार्य और तर्कवाद (आठवीं से १४ वीं शताब्दी तक)

हम ऊपर देख आए हैं कि केवल निर्गुण-ब्रह्ममूलक ज्ञानकांड हमारे बड़े-बड़े सुकर्मी दार्शनिकों तक को प्रसन्न न कर सका, और ईश्वर-भक्ति का छोड़ने वाला केवल कर्तव्यवादी बौद्ध मत भी त्यक्त हो गया। व्यासदेव का चलाया हुआ 'गीता' का धर्म निर्गुणवाद की प्रशंसा करता हुआ भी सगुण भक्ति-मूलक ईश्वर को लिए हुए कर्तव्यवादी था, जो संसार में दोनों हाथों से अपनाया गया। फिर भी समय के साथ पाश्चात्य एशिया से आई हुई जातियों ने हिंदू हो कर भी अपने पुराने प्रतिमा-पूजन, स्वीकृति से पाप विमोचन आदि को न भुलाया,

जिस से हमारे यहाँ धर्म में स्थूलता की खासी वृद्धि हुई। यह दशा देख कर स्वामी शंकराचार्य ने आठवीं शताब्दी मे ठेठ दक्षिण से उत्तर भारत मे आ कर हिंदू धर्म को फिर से उन्नत करने का प्रयत्न किया। उन्हों ने 'उपनिषत्' और 'गीता' इन दोनों को पूज्य मान कर तर्कवाद चलाया। उपनिषदो के प्राचीन शत्रु महर्षि जैमिनि ने पूर्वमीमांसावाद चलाया था। शंकर के समय में मंडन मिश्र एक धुरंधर पंडित और पूर्वमीमांसावादी थे। उन की धर्मपत्नी उन से भी बढ़ कर पंडिता थीं। स्वामीजी ने इन दोनों को वाद में पराजित करके बादरायण व्यासदेव के उत्तरमीमांसावाद के साथ औपनिषत्-पक्ष दृढ़ किया। स्वयं शैव हो कर तंत्र-मूलक पाशुपत मत को भी उन्हों ने खंडित करके उस के प्रधान आचार्य नीलकंठ को हराया। जैन और बौद्ध पंडितों का भी वादों मे मान मर्दित करके शंकर स्वामी ने हिंदू मत को उन्नत बनाया। इन के द्वारा फिर एक बार 'गीता' तथा उपनिषदों का बोलबाला हुआ।

प्राचीन औपनिषत्साहित्य मे प्रकृति, जीवात्मा, तथा परमात्मा के कथन तो आए थे, और उन के संबंध में विचार भी प्रकट हुए थे, किंतु उन के पारस्परिक संबंधों का पूर्ण स्पष्टीकरण नहीं हुआ था। शंकर स्वामी ने 'तत्त्वमसि' के वाक्य से 'छांदोग्योपनिषत्' का मत अद्वैतवाद-पूर्ण सिद्ध किया। आप ने इस के अनुसार जीवात्मा का परमात्मा से ऐक्य निर्धारित किया। कुछ लोगों को संदेह है कि 'तत्त्वमसि' द्वारा 'छांदोग्य' ने केवल जीवात्मा का वर्णन किया है, न कि परमात्मा से उस के ऐक्य का। शंकर स्वामी के अर्थ को ठीक मानते हुए हमे भी इस विषय मे कुछ न कुछ संदेह बना ही रहता, किंतु 'बृहदारण्यक' में "अयमस्मि' के वाक्य द्वारा यह ऐक्य बहुत प्रकट हो गया है, सो संदेह शेष नहीं रहता। स्वामीजी का विचार है कि जीवात्मा की सत्ता केवल व्यावहारिक है। वे कहते हैं कि प्रकृति का शुद्ध रूप बुद्धि है, और शुद्ध बुद्धि ग्राही है, सो वह परमात्मा का प्रतिबिंब ग्रहण करके जीवात्मा बनाती है। यह जीवात्मा अविद्या के कारण अपने को परमात्मा से पृथक् मानता है, और अपने विचारों के अनुसार शरीर पा कर पुनर्जन्म पाता हुआ जब सुकर्मों द्वारा अविद्या से दूर हो जाता है, तब जल में जल की भाँति परमात्मा से

अभिन्न हो जाता है। प्रकृति को भी आप केवल व्यावहारिक सत्ता मान कर संसारोत्पादन के परिणामवाद को विवर्तवाद के रूप में कहते हैं। जैनो ने जो "गुणसमुदायो द्रव्यं" का विचार कहा था, उसे आप प्रकट-रूप में नही मानते। पीछे के इन बारह सौ वर्षों मे विज्ञान को उन्नति से प्रकृति के विषय मे अज्ञेयवाद के साथ उस का केवल शक्तिमय रूप अधिक मान्य हुआ है। स्वामीजी ने प्रकृति को व्यावहारिक सत्ता के कारण मायावाद चलाया था, जिस का इन के पीछेवाले लेखकों ने बहुत कथन किया है। अब मायावाद अनावश्यक हो गया है और शक्तिवाद अधिक मान्य हो कर स्वामीजी के मुख्य सिद्धांत अद्वैतवाद को पुष्ट करता है। फल यह है कि कोई चाहे स्वामी-जी के सब तर्कों मे सहमत न हो, तो भी वर्तमान विचारों का झुकाव अन्य तर्कों के सहारे से उन्ही के अद्वैतवाद पर है। स्वामीजी का सब से बड़ा पुरुषार्थ यह है कि उन्हों ने तत्कालीन हिंदू मत के भद्देपन को दूर करके 'गीता' और उपनिषदो का शुद्ध संमिलित धर्म चलाया। बहुत अधिक संख्या मे हमारे संत लोग तथा इतर हिंदू आप के अद्वैतवाद को मानते हैं।

स्वामीजो के पीछे भारत ने दो-तीन सौ वर्षो तक कोई पूर्ण पंडित उत्पन्न न किया, जिस से हमारा समाज पतनोन्मुख रहा। ग्यारहवीं शताब्दी मे बिहार तथा बंगाल में तांत्रिक मत का बल हुआ और दक्षिण में दशवीं शताब्दी से वैष्णव संतों का प्रभाव बढ़ा। इन संतों में रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निबार्कस्वामी और विष्णुस्वामी प्रधान हुए। स्वामी रामा-नुजाचार्य का समय १०१६ से ११३९ तक है। आप ने नारायण को प्रधानता दे कर मूर्ति को भी आराध्य, उपास्य और सेव्य माना। आप ने आत्मा के बद्ध, मुक्त और नित्य नामक तीन रूप माने। आप का बद्धात्मा चैतन्य या अचैतन्य है। चैतन्यता के लिए भक्ति और ज्ञान प्रधान हैं। नित्यात्मा उत्पादक, पालक और विनाशक हो कर ब्रह्मा, विष्णु और महेश है। नित्यात्मा अवतार भी ग्रहण करता है। आपने वस्तुतः शांकर अद्वैत को मान कर उस मे कुछ विशेषता की, इसी से आप का मत विशिष्टाद्वैत कहलाया, जिस में परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति, ये तीनों सत् या सत् के समान हैं आप वैष्णव थे

अपने वाद द्वारा आप ने दक्षिण में जैन मत ध्वस्त किया। इन्हो ने बालकृष्ण अथवा अवतारों को प्रधानता न दी और नारायण की ही मुख्यता रक्खी।

निंबार्कस्वामी की मृत्यु का समय ११६२ कूता जाता है। आप रामानुजाचार्य के शिष्य थे। इस काल दक्षिण मे शैव मत बहुत चलता था। कृष्ण-भक्ति के साथ राधा की भक्ति मिला कर आपने वैष्णव मत मे वाममार्ग जोड़ा। आप ही के प्रभाव से हिंदी कविता में श्रीकृष्ण का शृंगारिक वर्णन हुआ। आप ने अपना मत मगध में फैला कर श्रीवृंदावन मे निवास ग्रहण किया। स्वामी मध्वाचार्य (११९०–१२७७) भी उपरोक्त तीनों महात्माओं की भाँति दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। आप ने भी उपरोक्त दोनो महात्माओं के समान शांकर अद्वैत एवं मायावाद के प्रतिकूल मत प्रकट करके लक्ष्मी और विष्णु की भक्ति को प्रधान माना, किंतु राधा को छोड़ कर केवल कृष्ण का मान किया। दक्षिण में कृष्ण प्रायः रुक्मिणी-वल्लभ कहलाते हैं, न कि राधारमण। आप का द्वैतमत है, जिस में जीवात्मा और परमात्मा सत् अथवा सत् के समान हैं। विष्णुस्वामी भी इसी समय के थे। आप की भक्ति में दार्शनिकता की प्रधानता है। आप शिव और विष्णु दोनों को मानते थे। माध्व संप्रदाय मे राम और कृष्ण-पूजन की उपशाखाएँ है। विष्णुस्वामी मध्वाचार्य के शिष्य थे। चैतन्य महाप्रभु और हितहरिवंश इसी संप्रदाय मे हैं। विष्णु-स्वामी राधाकृष्ण को मानते थे। शैव मत दक्षिण से चल कर बंगाल और युक्त प्रांत के मध्य भाग में प्रचलित हुआ, और वैष्णव मत भी वहीं से चल-कर बंगाल, बिहार तथा अवध में फैलता हुआ मथुरा-वृंदावन पहुँचा और वहाँ से समय पर मारवाड़ एव गुजरात गया। इस काल दक्षिण में जैन धर्म का अच्छा प्रचार था, जो धीरे-धीरे कम होता गया। इसी समय के निकट बारहवीं शताब्दी के अंत में मुसल्मानों का साम्राज्य भारत में स्थापित हुआ। उक्त लोगों ने राज्य-प्राप्ति भर से ही संतुष्ट न हो कर भारत मे बल-पूर्वक मुसल्मानी मत फैलाने का प्रयत्न साढ़े तीन सौ वर्षों तक जारी रक्खा। इधर हिंदुओं के धार्मिक विचार इतने बढ़े हुए थे कि दब कर वे कोई नवीन धर्म मानने को तैयार न थे। आप एक शताब्दी भर अपने यहाँ कोई निकलत

हुआ कवि या उपदेशक न हुआ। अनंतर महात्मा गोरखनाथ तेरहवीं-चौदहवी शताब्दी में हुए। आपने प्रसिद्ध गोरखपंथ चलाया जो तार्किक बल पर अवलंबित न हो कर शैवमत-प्रधान वाममार्ग पर चलता था। अतएव शैव पूजन तो वह युक्त प्रांत का लिए हुए था, किंतु बंगाल के शाक्त विचारों से भी प्रभावित था। शंकराचार्य शैव हो कर भी ज्ञान पर जोर देते थे, भक्ति पर नहीं; तथा रामानुजाचार्य ने तार्किकता और भक्ति पर प्रायः सम बल लगाया। इस काल शाक्त संप्रदाय के विचारों का प्रभाव वैष्णव और शैव मतों पर भी पड़ा। गोरखनाथ यौगिक क्रियाओं पर भी चलते थे। इन के पथ में अब तक लाखों आदमी हैं, जो महाराष्ट्र देश तक में पाए जाते हैं। हिंदू धर्म इस काल मुस्लिम धर्म के साथ आत्मबल से युद्ध में प्रवृत्त था।

भक्तिवाद (१५ वीं से १९ वीं शताब्दी के मध्यपर्यंत)

यद्यपि चौदहवीं शताब्दी के अंत-पर्यंत तर्कवाद का समय माना जा सकता है, तथापि ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य से स्वामी रामानुजाचार्य आदि ने उस के साथ भक्तिवाद मिला दिया था। मुसल्मानों ने बल-प्रयोग द्वारा अपना मत भारत में फैलाना चाहा, जिस के कारण हिंदुओं को सामाजिक संगठन की विशेष आवश्यकता हुई। यह बात इन्हों ने मुसल्मानों के साथ सामाजिक बहिष्कार तथा आपस में भक्तिवाद के प्राचुर्य से संपादित की। मुसल्मानों से पहले, नवागंतुकों को समाज के अंग बनाने के हिंदू ऐसे उत्सुक थे, कि उन के साथ रोटी-बेटी का व्यवहार करने तथा उन की मानसिक उन्नति के अनुसार अपने धर्म तक में मोटियापन बढ़ाने से भी ये न हिचके, क्योंकि उस काल हम को उन्हें अपने धर्म में मिलाना था। जब मुसल्मान हम को अपना धर्म सिखलाने लगे, सो भी तर्क द्वारा नहीं, वरन् खड्ग के बल से, तब हम ने उन्हें मिलाने के स्थान पर बहिष्कार द्वारा अलग रखने की विधि निकाली और उसे सामाजिक धर्म का अंग बना दिया। पौराणिक मत स्वामी शंकराचार्य के पूर्व से ही भलीभाँति स्थापित हो चुका था। स्वामीजी ने उस से स्थूलता हटा कर शुद्ध 'गीता' तथा का आरोप जो करना चाहा, उस के

लिए या तो समय न मिला या उन के पीछेवाले आचार्यों ने वैसा बुद्धि-वैभव न दिखलाया। इतने ही में मुसल्मानी धार्मिक उत्पात होने लगे और हिंदुओं को धार्मिक सूक्ष्मता लाने के स्थान पर समाज-संरक्षण का काम गुरुतर देख पड़ा। अतएव दशवीं शताब्दी के वैष्णव संघ ने शांकर तर्कवाद तो स्थापित रक्खा, किंतु समाज-संगठन के अभिप्राय से उस में भक्तिवाद प्राचुर्य से जोड़ दिया। इस से यह न समझना चाहिए कि स्वामी रामानुजाचार्य आदि ने जान बूझ कर धार्मिक मोटियापन का समर्थन किया अथवा पौराणिक काल में ही हमारे ऋषियों ने जान बूझ कर धर्म को बिगाड़ा। बात यह है कि धर्म की महत्ता सांसारिक स्वीकृति पर है। जिस धर्म को जितने अधिक लोग मानें, वह उतना ही बड़ा है। इस कारण से ऋषियों और धर्म-प्रचारकों को लोक-संग्रह को देखते हुए शिक्षा देनी पड़ती है। जिन बातों को लोग नहीं मानते, उन्हें शिक्षा से कम करना होता है, यहाँ तक कि धीरे-धीरे वे छूट जाती हैं और फल यह होता है कि उपदेश लोक-स्वीकृति के अनुसार चलते हैं। कुछ बातों में लोक उपदेशकों को मानता है और कुछ में उपदेशक लोक-मत को। सुतराम् संसार में जैसी दशा उपस्थित होती है, और लोगों की जितनी मानसिक शक्ति होती है, वैसे ही उपदेश लोकमान्य होते हैं। इन कारणों से बादरायण व्यास के पीछे शांकर काल-पर्यंत समाज संगठन की प्रधानता, सीदियनों, तुर्कों, शकों, गुर्जरों, आभीरों, हूणों आदि को उस में लेने की आवश्यकता तथा उन लोगों की मानसिक उन्नति के अनुसार हमारा धर्म समय के साथ बदलता हुआ चला, यहाँ तक कि अंत में स्वामी शंकराचार्य ने उस में बहुत स्थूल तर्कहीन विचार तथा आचार पाए। अतएव तर्कवाद चला कर उन्हों ने उसे शुद्धतर करना चाहा। उन का प्रभाव पड़ा बहुत और आज तक उन का नाम बड़े मान से लिया जाता है, किंतु मुसल्मानी के आगमन से समाज-संरक्षण के दूसरे प्रश्न उठ पड़े, जिस से यह तार्किक धारा स्थगित हो कर अंत में त्यक्त हो गई, और पहले तर्क-मिश्रित और फिर कोरा भक्तिवाद देश में चला। इस ने समाज-संगठन तो बहुत अच्छा किया, किंतु धार्मिक तत्व की उन्नति स्थगित रही यदि हमारे धर्म पर मुसल्मानी प्रचण्ड

खड्ग का प्रकोप न होता, तो संभवतः शांकर तर्कवाद इतना फल-शून्य न निकलता। अब हम अपनी धार्मिक प्रगति की धारा को उठाते हैं।

पंद्रहवीं शताब्दी के आरंभ में स्वामी रामानुजाचार्य की शिष्य-परंपरा के महर्षि स्वामी रामानंद ने उपदेश देना आरंभ किया। उत्तरी भारत पर इन का अद्वितीय प्रभाव पड़ा है। ये स्वयं भारी उपदेशक थे और इन की शिष्य-परंपरा में कबीरदास और गोस्वामी तुलसीदास—विशेषतया गोस्वामीजी—ऐसे भारी उपदेशक हुए, कि आज का हिंदू धर्म वास्तव में तुलसीधर्म है। हमारे हिंदू मत में यमाचार्य, बादरायण व्यास, शंकराचार्य, रामानंद और तुलसीदास सब इतरों से बढ़े-चढ़े उपदेशक थे। रामानुजाचार्य शूद्रों को संप्रदाय में नहीं लेते थे। इधर रामानंद ने संतों में शूद्रों तथा मुसल्मान तक को लिया किंतु लोकसंग्रह के ध्यान से गृहस्थों के जातिवाद को अक्षुण्ण रक्खा। यद्यपि आजकल के लिए जातिभेद बहुत बुरा है, तथापि उस काल समाज-संगठन के लिए वह परमावश्यक था। यदि स्वामी रामानंद जाति की निंदा करते, तो आज भारत में हिंदूधर्म का पता न लगता। आप ने समाज-संगठन के विचार से उपदेश हिंदी में दिए। फल यह हुआ कि युक्त प्रांत और बिहार मुस्लिम-साम्राज्य के केंद्र हो कर भी छियासी प्रति-शत जनता हिंदू रख सके, किंतु सिक्खों द्वारा जाति की निंदा से पंजाब तथा संस्कृत प्रभाव-पूर्ण बंगाली भाषा एवं शूद्रों के सामाजिक अपमान से बंगाल हिंदुओं के बृहदंश को खो बैठे, यद्यपि वे दूरस्थ प्रांत थे। युक्त प्रांत के धार्मिक प्रभाव से मध्यभारत मुसल्मानी संख्या-वृद्धि से बच सका। स्वामी रामा-नंद ने हनूमान आदि की भी भक्ति सिखलाई तथा सीताराम की ऊँची भक्ति का मान किया। आप ने भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न वाले व्यूह-पूजन को भी अपनाया। इन के शिष्यों में पीपा (गागरौन गढ़ के राजा और पीछे से गृहत्यागी संत), भवानंद, सेन नाई, कबीरदास जोलाहे आदि भारी भारी महात्मा थे। नामदेव दर्जी दक्षिण में पंढरपुर के महात्मा थे। आप ने राम रहीम की एकता सिखाई, किंतु मुसल्मानों के धार्मिक असहिष्णुतापूर्ण व्यवहार के कारण इस शिक्षा ने कुछ काम न दिया कबीरदास का समय

१३९८ से १५१८ तक है। आप ने अपने उपदेशों मे भक्ति को तो स्थान दिया, किंतु निर्गुणवाद पर भारी बल रक्खा। आप सच्चे अद्वैतवादी और उपनिषदों के भक्त थे, तथा हिंदू-मुसल्मानी ऐक्य को सिखलाते थे। आप की शिक्षाओं मे मुख्यता तो निर्गुणवाद की थी, किंतु सूफ़ी सिद्धांतों का भी आप कुछ मान करते थे। कबीरपंथ गोरखपंथ से कुछ-कुछ मिलता है। इस मे हिंदू मुसल्मान दोनों हैं। इस में योग-संबंधी शारीरिक क्रियाओं तथा चरित्र-बल की विशेषता है। इन पंथों में सामाजिकता और व्यक्तित्व दोनों की महत्ता है। इन के हिंदू समाज की निम्नश्रेणी में सबल होने से मुसल्मानी मत की खड्गबल से बढ़ती हुई धारा बहुत कुछ रुकी। बाबा नानक (१४६९-१५३९) पंजाब के महात्मा सिक्ख धर्म के प्रवर्तक थे। आप के उपदेश ज्ञान, ईश्वर-भक्ति, योग, एकेश्वरवाद, निराकारोपासना, मूर्तिपूजन-निषेध, जाति-विरोध, मनुष्यमात्र की समता, सुरत शब्द, योगाभ्यास, गुरुभक्ति तथा समाजोन्नति के थे। सिक्खों में दश गुरु, १७०८ तक हुए, जिन सब ने इन्हीं विचारों पर उपदेश दिए। अंतिम गुरु गोविंदसिंह ने खालसा नामक सिक्खों का धर्म चलाया। ये गुरु लोग पहले तो संत रहे, किंतु पीछे समय की गति से इन्हें युद्ध-प्रिय भी होना पड़ा। सिक्ख-मत इन्हीं महात्माओं के प्रयत्नों का फल है।

चैतन्य महाप्रभु का प्रादुर्भाव नदिया में १४८५ में हुआ और ४८ वर्ष की अवस्था में आप ने जगन्नाथपुरी में शरीर छोड़ा। आप की भक्ति बहुत ही प्रगाढ़ थी। आप श्रीकृष्ण के अवतार माने जाते हैं, और जगदीश मंदिर के एक खंड में आप की भी मूर्ति पूजी जाती है। कई अन्य स्थानों पर भी चैतन्य-मूर्ति के मंदिर हैं। आप कभी-कभी ऐसे प्रेमोन्मत्त हो जाते थे कि तन-बदन की सुधि न रखते थे। ऐसी ही दशा में समुद्र में घुस कर आप ने शरीर भी छोड़ा। मूर्छित तो प्रायः हो जाया करते थे और भक्ति के प्रेम में उन्मत्त हो कर नृत्य भी किया करते थे। आप ने एक बार कहा था कि मनुष्य को अवतार मानना पाप है। फिर भी अपने को कभी राधा और कभी कृष्ण कहने लगते थे बंगाल के शाक्त सिद्धांतों से प्रभावित हो कर आप की भक्ति की

ओर चली गई, यद्यपि स्वयं आप का चरित्र शुद्ध था। आप का संप्रदाय गौड़ीय कहलाता है। आप की भक्ति का प्रभाव बंगाल, बिहार और वृंदावन में बहुत पड़ा। वल्लभाचार्य के आप सहपाठी थे। आप के शिष्य रूप-सनातन वृंदावन में आ बसे, जहाँ उन के कारण अन्य वैष्णव संप्रदायों पर भी गौड़ीय संप्रदाय का प्रभाव पड़ा, जिस से वैष्णवता में वाममार्ग बढ़ा। महाप्रभु वल्लभाचार्य का समय १४७८ से १५३० तक है। आप ने शुद्धाद्वैतवाद और राधावल्लभीय संप्रदाय का स्थापन किया। इस काल कार्ष्णी वैष्णव संप्रदाय कई स्थापित हुए या थे, जिन सब में गौड़ीय तथा राधावल्लभीय की प्रधानता है। आप भी श्रीकृष्ण के अवतार कहे जाते हैं। ८४ तथा २५२ वैष्णवों की वार्ताओं में इन लोगों के विचार मिलते हैं। इन में प्राकृतिक नियमों से प्रतिकूलता प्रायः पाई जाती है। हिंदी कविता पर रामानंदी तथा वल्लभीय उपदेशकों का अधिकता से प्रभाव पड़ा। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने अपने भक्ति-संबंधी विचार निबार्कस्वामी पर अवलंबित किए, तथा दार्शनिक विष्णु-स्वामी पर। इन के प्रभाव से मारवाड़ और गुजरात में वैष्णवता की वृद्धि हुई। युक्त प्रांत में राधावल्लभी तथा रामानंदी नामक दो वैष्णव संप्रदाय चले, एक राधाकृष्ण और एक सीताराम-संबंधी। एक से वाममार्ग बढ़ा और दूसरे से दक्षिण। शुद्ध दार्शनिक धर्म संसार में कम व्यापक हुआ, किंतु रागात्मक एवं विश्वासात्मक भक्तिवाद शैव तथा वैष्णव दोनो संप्रदायों के रूपों मे चला। सूफी साहित्य के प्राप्त ग्रंथ १५०१ से १७४४ तक मिलते हैं। इस का विवरण ऊपर दिया जा चुका है। इन मुसल्मान कवियों ने अवधी हिंदी मे दोहा-चौपाइयों के ग्रंथों मे हिंदू कथाओं के सहारे हिंदू विचारों से पूर्ण सहृदयता रखते हुए सूफी मत चलाना चाहा, किंतु हिंदू लोग न खड्गबल से मुसल्मानी मत मानने को तैयार थे, न प्रेमपूर्ण कथाओं द्वारा। उधर हिंदी मे होने तथा हिंदुओं से भारी सहृदयता रखने के कारण यह उपकारी साहित्य मुसल्मानों में भी समादृत न हो कर चल न सका। इस में मलिक मोहम्मद जायसी का सब से अधिक नाम है। आप सोलहवीं शताब्दी के अंत में हुए है।

वल्लभीय कवियों तथा महात्माओं में सूरदास (१४८७-१५६० , अष्ट-

छाप के अन्य कविगण (यही समय), रसखान आदि अच्छे कवि तथा उपदेशक हुए। विट्ठलनाथ तथा गोकुलनाथ भी पूज्य उपदेशक थे। इन लोगों की भक्ति सखा, सखी तथा वात्सल्य भावों की थी। स्वामी हरिदास (१४७२-१५६२) ने टट्टी संप्रदाय चलाया। इस मे विट्ठल-विपुल, विहारिनिदास, दो नागरीदास, सरसदास, ललितकिशोरी, आदि अच्छे महात्मा थे। आप गाना भी अच्छा जानते थे। मीराबाई भी इस काल की भारी भक्तिन और कवयित्री थीं। महात्मा दादूदयाल (१५४४-१६०३) धुना के संप्रदाय में सुंदरदास, रज्जब जी, जनगोपाल, जगन्नाथ आदि प्रधान थे। इस पंथवाले निर्गुणोपासना की रीति पर निरंजन एवं निराकार की भक्ति तथा सत्तराम कह कर आपस मे अभिवादन करते हैं। ये लोग तिलक, माला, कंठी आदि का व्यवहार नही करते। दादूदयाल ने भी हिंदू-मुसल्मानों का मेल कराना चाहा। महात्मा नाभादास डोम ने प्रसिद्ध 'भक्तमाल' रच कर संतों का गुणगान किया, जिस मे असंभवनीयता प्राचुर्य से है।

गोस्वामी तुलसीदास (१५३२-१६२३) ने 'रामचरितमानस' (रामायण) रच कर हिंदूधर्म को उस का वर्तमान रूप दिया। जितना मान इन की रचना तथा धार्मिक उपदेशों का है, उतना वास्तव में और किसी का नही है, यद्यपि कहने को 'वेद', 'गीता' तथा शंकराचार्य का अधिक मान है। परमेश्वर के विषय में गोस्वामी जी का निम्न मत है—

एक अनीह अरूप अनामा।
अज सच्चिदानंद पर धामा॥
व्यापक विश्व रूप भगवाना।
तेइ धरि देह चरित कृत नाना॥
आदि अंत कोउ जासु न पावा।
मति अनुमान निगम अस गावा॥
बिनु पग चलइ, सुनइ बिनु काना।
कर बिनु करम करइ विधि नाना॥

आनन रहित सकल रस भोगी।
बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
तनु बिनु परस, नयन बिनु देखा।
गहइ घ्रान बिनु बास असेखा॥
जेहि इमि गावहिं वेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगत हित, कोसलपति भगवान॥
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू।
मायाधीस ज्ञान गुन धामू॥
संभु, बिरंचि विष्णु भगवाना।
उपजहिं जासु अंश ते नाना॥

आप उपनिषदों का निर्गुणवाद ले कर, एकेश्वरवाद के रूप मे परमात्मा का भाव अवतार मे आरोपित करते हैं, तथा ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि की महत्ता हटा कर शुद्ध एकेश्वरवाद पर आते है। सगुणवाद को तर्क के योग्य न कह कर विश्वासात्मिका भक्ति का आप उपदेश देते हैं। सामाजिक संगठन आप का वही है जो आज चल रहा है। अपने समय के लिए समाज उद्धारार्थ आप के उपदेश योग्य थे ही, किंतु आजकल के लिए क्या ठीक है, सो शंकर तथा गीतावाद से प्राप्त हो सकता है, क्योंकि स्वामी शंकराचार्य ने जिस काल उपदेश दिया, उस समय हमारे समाज पर कोई दबाव न था, सो उन के उपदेश शुद्ध धर्म पर चले हैं। बादरायण व्यास के भी उपदेश शुद्ध है। उपनिषदों का ज्ञान परम शुद्ध और उच्च था, किंतु स्वयं यमाचार्य कहते हैं कि उन के उपदेश वही सुने, जो राज्य, स्त्री, धन आदि से आकृष्ट न हो सके। ऐसे मनुष्य तो संसार में मिलते कम हैं, सो 'कठोपनिषत्' का उच्चतम उपदेश चल न सका। जब गौतम बुद्ध तक ने उसे न माना, तब बादरायण व्यास ने 'गीता' द्वारा निर्गुण का मान करते हुए कर्तव्ययुक्त सुगुणोपदेश दिया। यह उपदेश भी केवल धार्मिक विचारों से दिया गया था। इन्हीं दोनों उपदेशों से हम हिंदू धर्म का तत्व जान सकते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास के पीछे हम महात्मा एकनाथ, तुकाराम और

रामदास को शिवाजी के समय महाराष्ट्र देश में भक्ति का उपदेश देते पाते हैं।

विवेकवाद (१९ वीं शताब्दी के मध्य से अब तक)

वर्तमान समय में स्वामी दयानंद सब से बड़े उपदेशक हुए हैं। उन्नीसवी शताब्दी में ब्रिटिश साम्राज्य भारत में दृढ़ रूप से स्थापित हुआ और पाश्चात्य विवेकवाद के साथ ही साथ सांसारिकपने की वृद्धि के विचार हमारे यहाँ फैलने लगे। अब मुसल्मानो बल-प्रयोग द्वारा धार्मिक ह्रास का समय जाता रहा, अथच साम्यवाद का युग आया। जिन लोगों का मान अपने मतों में उचित से कम था या जो ऐसा समझते थे, वे सुख-पूर्वक ईसाई होने लगे। अंगरेज़ी पढ़ कर कुछ उच्चश्रेणी के बंगालियों ने बंगाल के तंत्रवादपूरित विश्वासात्मक भक्तिवाद में कोई महत्ता न पाई, और हिंदू धर्म के निगूढ़ रहस्यों के उपदेशकों के अभाव से पाश्चात्य बुद्धिवाद से चलितधैर्य हो कर ईसाई धर्म ग्रहण किया। पंजाब मे हिंदू मत बहुत काल से निर्बल था, सो वहाँ भी ईसाईपन की वृद्धि हुई। यह देख कर बंगाल में राजा राममोहनराय तथा केशवचंद्र सेन ने अद्वैतवाद-गर्भित ब्राह्मो मत चलाया, जिस से बंगाल ने हिंदू मत की महत्ता जानी, और भद्र लोगों में ईसाई बनने की अभिरुचि रुक गई। उधर गुजरात में स्वामी दयानंद का प्रादुर्भाव हुआ। आप का समय १८२४ से १८८३ तक था। ये महात्मा जी आजकल के महर्षि हो गए हैं। इन की गणना शंकराचार्य, रामानंद, बाबा नानक, तुलसीदास आदि के साथ हो सकती है। आप ने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका', 'सत्यार्थ-प्रकाश' आदि सोलह ग्रंथ विशुद्ध हिंदी मे लिख कर हिंदू धर्म का एक नवीन संस्करण उपस्थित किया, और १८७५ में 'आर्यसमाज' स्थापित करके जातीयता का मान बढ़ाया। प्रतिमा, तीर्थादि का खंडन करके आप ने विशुद्ध वैदिक मत चलाया, और भारतवर्ष भर में घूम-घूम कर हिंदू मत को शुद्ध बनाने मे भगीरथ प्रयत्न किया। इन स्वामीजी के प्रयत्नों से पंजाब में हिंदुओं के ईसाईपन की धार रुकी, तथा वाममार्गपूर्ण-पूजन मुस्लिम पीरों, क़ब्रों आदि का मान हिंदू

समाज से दूर हुए। समय के साथ जो धार्मिक आचार-विचार हिंदू समाज के लिए हानिकर हो गए हैं, उन सब का निराकरण करके आप ने वैदिक धर्म का जातीयता से अच्छा मिश्रण किया। जाति-पाँति को दूर हटा कर आप ने गुण-कर्मानुसार ही ब्राह्मणत्व आदि को माना। ईसाईपन की बढ़ती हुई धारा को हिंदू समाज से दूर करने का ब्राह्मो और आर्यसमाज का हमारे ऊपर भारी ऋण है। जिन-जिन विश्वासों के कारण भारत में आलस्य है या अनुचित व्यय की वृद्धि होती है, उन सब का स्वामीजी ने निराकरण किया। आप के धर्म में केवल वेदों का मान विश्वास से संबद्ध है। शेष विचार सब तर्कवाद पर अवलंबित हैं। समाजियों के प्रयत्न से हमारे समाज मे वेदों, उपनिषदों आदि के पठन-पाठन की प्रणाली फिर से जागृत हुई। देश में जातीयता का मान भी इन के द्वारा अच्छा हुआ। समय के साथ देश के अन्य जत्थों में भी जातीयता का मान बढ़ा है जिस से आर्यसमाजियों के यह कार्य औरों के प्रयत्नों में मिल गए हैं। आर्यसमाज अभी तक विश्वास मात्र है। कुछ काल तक तो यह ज़ोरों से चला, किंतु अब कुछ दिनों से शिथिलता पकड़ रहा है। कारण यह है कि समाजी लोग मांस-भक्षियों की निंदा करके व्यक्तिगत स्वतंत्रता में बाधा डालते हैं, और स्वामीजी के सब विचारों का इतना अधिक मान इन में है कि अन्य लेखकों की विचार-धारा में स्वच्छंदता का अवरोध है, तथा अनुयायीपन का बोझ पड़ता है। इस प्रकार जैसे बौद्ध धर्म व्यक्तिगत स्वतंत्रता से बाधा डाल कर त्यक्त हो गया था, वही दशा आर्य-समाज की देख पड़ती है। इधर हिंदू मत में स्वच्छंदता पूरी है। हमारे सामाजिक तथा धार्मिक प्रश्न आप से आप हल हो रहे हैं, सो हिंदू मत का भविष्य बहुत समुज्वल देख पड़ता है। आजकल प्राचीन ग्रंथों के पठन-पाठन, इतर धर्मों से अपनी निर्बलताओं की मानसिक तुलना तथा सांसारिक उन्नति की कसौटी पर धार्मिक एवं सामाजिक विचारों के कसने की ऐसी चाल चल रही है कि अर्द्ध शताब्दी के भीतर ही हमारा धर्म शुद्ध और उन्नतिकारी हो जावेगा, ऐसी आशा है। स्वामीजी के पीछे महात्मा रामतीर्थ ने भी धर्म का रूप सामने लाने का अच्छा प्रयत्न किया हिंदी की उन्नति से

भी धार्मिक तत्व का ज्ञान बढ़ रहा है, और सामाजिक उन्नति अच्छी होने से अपनी सभी हानिकारिणी चालें छूटती हुई देख पड़ रही हैं। महात्मा गांधी प्रचुर प्रयत्न करके हरिजनों का मान बढ़ा रहे हैं, जिस से यह खोया हुआ सा समुदाय हिंदू धर्म का जागता हुआ अंग बन कर हमारी उन्नति मे सहायक होगा, ऐसी दृढ़ आशा है। गांधीजी के आचारों एव विचारों से देश में चरित्रबल भी अच्छा बढ़ रहा है। निदान अब देश एवं धर्म का भविष्य समुज्वल देख पड़ता है।

(समाप्त)

मैथिली-साहित्य—
'डाक' (१६ वीं शताब्दी)

[लेखक—श्रीयुत डाक्टर उमेश मिश्र, एम्० ए०, डी० लिट्० (इलाहाबाद)]

गत जनवरी १९३४ के अंक के ६८वें पृष्ठ पर 'डाक' नाम के कवि की चर्चा की गई है। इन की बनाई हुई कवितात्मक अनेक कहावतें मिथिला में घर-घर प्रसिद्ध हैं और इन का एक संग्रह भी किया गया है। इसी संग्रह के आधार पर 'डाक' और उन की कविताओं की आलोचना यहाँ की जाती है।

सब से पहले यह प्रश्न उठता है कि यह 'डाक' कौन थे। इस संबंध मे कोई भी निश्चित प्रमाण अभी तक नहीं उपलब्ध हुआ है। मिथिला में विशेष रूप से यह प्रसिद्ध है कि किसी समय में ज्योतिष-शास्त्राचार्य वराहमिहिर अपने गाँव से किसी एक राजा के पास जा रहे थे। रास्ते में संध्या हो जाने के कारण उन्हे एक अहीर के घर रह जाना पड़ा। उस घर के मालिक ने इन का पूर्ण आदर किया और अपनी कन्या को इन के आतिथ्य-सत्कार करने के लिए नियुक्त किया। संयोगवश आचार्य ने उस गोपकन्या में गर्भाधान किया और उसे बहुत भरोसा देते हुए कहा कि इस गर्भ से एक बड़ा विद्वान पुत्र उत्पन्न होगा जो समस्त देश मे अपना यश फैलावेगा। यह कह कर दूसरे दिन वराहमिहिर वहाँ से चल दिए।

समय पा कर उस कन्या के गर्भ से एक सुंदर[1] बालक उत्पन्न हुआ। उस के घर के लोगों ने ज्योतिषी द्वारा नवजात शिशु की जन्म-कालिक ग्रह-

---

[1] यथार्थ में यह सुंदर थे—"अन्न महगता में कहथि, सुंदर डाक गोआर"। (भा० १, पृ० १७)।

स्थिति का विचार करवाया तो मालूम हुआ कि यह एक होनहार बालक है। यही बालक पाँच वर्ष के होने के पहले ही से त्रिकालज्ञ होने का चिह्न दिखाने लगा। क्रमशः इस ने एक लाख कहावतों के स्वरूप में ज्योतिष-शास्त्र के विषयों को ले कर कविताओं की रचना की। यही कविता-संग्रह 'डाक-वचन' के नाम से मिथिला में प्रसिद्ध है।

इन कविताओं की आलोचना से यह मालूम होता है कि मिथिला के संग्रह के अनुसार इन का प्रसिद्ध नाम 'डाक' था। हाँ, कभी-कभी इन्हें लोग 'घाघ' भी कहा करते हैं। उक्त संग्रह में केवल चार ही बार 'घाघ' का नाम आया है, किंतु 'डाक' का नाम तो सैकड़ों बार देख पड़ता है। परंतु मिथिलेतर प्रदेशों की प्रसिद्ध कहावतों को देखने से मालूम होता है कि इन कहावतों के रचयिता का प्रधान नाम 'घाघ' ही है। और इसी लिए इन कहावतों के संग्रह का नाम पंडित रामनरेश त्रिपाठी जी ने 'घाघ और भड्डरी' रक्खा है। श्री त्रिपाठी जी के संग्रह के अनुसार यही ठीक मालूम भी होता है क्योंकि इस संग्रह में केवल 'घाघ' ही का नाम मिलता है। 'डाक' की तो कहीं भी चर्चा तक नहीं है। किंतु दोनों संग्रहों को एक साथ मिलाने से यह मालूम होता है कि देश-भेद के कारण इन के नाम में भी परिवर्तन हुआ है। इसी लिए मिथिला में यह 'डाक' के नाम से प्रसिद्ध हुए; बिहार, संयुक्त प्रांत आदि स्थानों में 'घाघ' के नाम से, तथा मारवाड़ में 'डंक' के नाम से इन की ख्याति हुई। इसी प्रकार बंगाल में इन की प्रसिद्धि 'खाना' के नाम से हुई। और सभी स्थानों में इन की कहावतें पूर्ण-रूप से प्रसिद्ध पाई जाती हैं। इन्हीं कारणों से इन कहावतों की भाषा-मात्र की सहायता से, 'डाक' किस प्रदेश में उत्पन्न हुए थे, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। सभी प्रदेशों में एक ही व्यक्ति की उत्पत्ति कदापि नहीं कही जा सकती। अतः यह किसी एक ही प्रदेश में उत्पन्न हुए होंगे, और विशिष्ट विद्वान् होने के कारण अनेक प्रदेशों में इन्हों ने भ्रमण किया होगा, यह अनुमान होता है। जिस मनुष्य में भूत, भविष्य तथा वर्तमान जानने की सामर्थ्य है, उस ने भिन्न-भिन्न प्रदेशों में जा कर तत्तत्प्रदेशों की भाषा का भी ज्ञान पूर्ण-रूप से प्राप्त कर लिया हो और

उन्हीं भाषाओं में और भी कविता की हो, इस में विशेष आश्चर्य की बात नहीं मालूम होती।

इन दोनों संग्रहों के आधार पर केवल भाषा ही की सहायता से भी इतना और निश्चय होता है कि यह 'डाक' या 'घाघ' पूर्व प्रदेश के रहने वाले थे। इन दोनों संग्रहों की विषयानुक्रमणिका को भी देख कर, इन का पुरबियापन ही सिद्ध होता है। पूर्वीय भाषाओं मे भी अनेक भेद हैं। अतः अब यह प्रश्न उठ सकता है कि यह मुख्य रूप से किस भाषा मे रचा गया। इस का उत्तर बहुत ही कठिन मालूम होता है। मैथिलों का कहना है कि यह प्रधान रूप से मैथिली में रचा गया। अंततः जो संग्रह मिथिला मे प्रसिद्ध है उस के आलोचन से तो यही निश्चय होता है; तथा इस को पुष्ट करने के लिए श्री त्रिपाठी जी के भी संग्रह से कुछ सहायता मिल जाती है। जैसे घाघ की पहली कहावत ही को लीजिए—

बनिया क सखरच (सहखर्च) ठकुर क हीन।
बइद क पूत व्याधि नहिं चीन॥
पंडित चुपचुप बेसवा मइल।
कहैं घाघ पाँचो घर गइल॥

इस में 'क' षष्ठी का चिन्ह है और यही स्वरूप मैथिली में है। 'नहि' यह भी मैथिली का शुद्ध स्वरूप है। हिंदी में 'नहीं' दीर्घ होता है। इसी प्रकार 'मइल', 'गइल' भी मैथिली ही के स्वरूप मालूम होते हैं। कविता में होने पर भी यदि ये मैथिली के शुद्ध स्वरूप से मिलते-जुलते हों, तो उन्हें अन्य भाषा के शब्द कहने का क्या प्रमाण है?

और भी लीजिये—

कहावत ५९ में 'चारि' शब्द मैथिली ही है। हिंदी में 'चार' होता है चाहे वह पद्य हो या गद्य। इसी प्रकार कहावत ६९ में 'हरहट' शब्द है। कहावत ८४ में 'मारि के टरि रहु, खाइ के परि रहु' है, यद्यपि इस का मैथिली में स्वरूप 'मारि क ससरी, खा क पसरी' यह है तथापि 'परि रहु', 'टरि रहु' आदि शब्द मैथिली परिशुद्ध ही के मालूम होते हैं इसी लिए 'साठी (क० १६६), 'मन्थर

झब्बर' (क० २०४) के जो अर्थ श्री त्रिपाठी जी ने दिए हैं जरा खटकते है। 'साठो' का अर्थ उन्हों ने धान दिया है। यह सर्वथा शुद्ध नही कहा जा सकता है। देखने में यह धान-सा मालूम होता है, किंतु यह धान है नहीं। धान शब्द से हम उस फ़सल को समझते है जो कातिक या अगहन या पूस में काटी जाती है। और 'साठी' तो भदई की फ़सल है, जो कुआर के आते-आते कट जाती है। और भी एक बात है। धान का रंग पीला या लाल-सा होता है। साठी का रंग नीला या काला होता है। 'झब्बर झब्बर' का शुद्ध स्वरूप 'हब्बर हब्बर' है। अस्तु, इस का अर्थ जो श्री त्रिपाठी जी ने किया है 'रुक रुक कर' यह बहुत ही खटकता है। मेरी समझ में तो इस का अर्थ ठीक उलटा है। हवा के झोंकों में लगातार बहते रहने मे ही यहाँ तात्पर्य है, और यही अर्थ भी है तथा इसी अर्थ में मिथिला में अभी भी प्रयुक्त होता है। और पुरवैया-हवा का परिचय भी तो मेरी समझ मे मिथिला ही मे विशेप कर हो सकता है। इत्यादि अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। इस के अतिरिक्त एक और भी बात है। पूर्ण विद्वान हो कर अपने देश में प्रतिष्ठा प्राप्त कर भिन्न भिन्न प्रदेशों में जा कर अपनी प्रतिष्ठा को फैलाना यह प्रथा विशेष रूप से मैथिलों ही में बहुत ही पूर्व काल से चली आती है। इसी लिए मिथिला से निज़ाम (हैदराबाद) की राजधानी, तथा पेशवा के भी यहाँ, तथा प्रायः प्रत्येक राजवाड़ों मे मैथिलों ने विशेप सम्मान, ज़मीदारी आदि भी प्राप्त किए है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है यह प्रथा व्यक्ति-विशेष को ले कर दाक्षिणात्यों में भी थी, किंतु विशेप रूप से केवल मिथिला ही में चली आती है। इसी लिए मै तो यही समझता हूँ कि 'डाक' भी एक विशेष विद्वान थे और वे थे मिथिला ही की तरफ के रहने वाले, किंतु उन्हों ने अन्य प्रांतों में भी भ्रमण किया, और उन-उन प्रदेशों की भाषा में भी कविता की। इन की मुख्य भाषा मैथिली थी, अतएव अन्य प्रांतों की कहावतों में भी मैथिली के परिशुद्ध शब्द अनेक पाए जाते हैं।

इस के समर्थन के लिए मिथिला के संग्रह से अनेक उदाहरण भी देना उचित मालूम होता है। इस के आगे केवल मिथिला के संग्रह ही के आधार पर सब कुछ लिखा जा रहा है

१—मिथिला में मंगलाचरण में 'श्री दुर्गा माधव गणेश' का उल्लेख, वन्दना आदि देख पड़ती है, और 'डाक' ने भी इस को स्वीकार किया है।

यथा—

गिरिजा गिरा ओ गोविंद गणेश।
सकल काज में सुमिरो गिरिजेश॥ इत्यादि।

२—'जन्म रासि सौं' (भा० १ पृ० ३) यहाँ 'राशि' में तालव्य के स्थान पर दंत्य 'स' का प्रयोग हुआ है। यह सभी को ज्ञात है कि यह मागधी का चिह्न नहीं है। मागधी में तो केवल तालव्य ही होता है। और मैथिली को छोड़ कर अन्य पूर्वी भाषाओं में भी दंत्य का समावेश नहीं है। मैथिली में यह पाली से आया हुआ मालूम होता है। 'सौं' यह पंचमी कारक का चिह्न है। इस का स्वरूप क्रमिक 'सन्तो', 'सओं', 'सो' वा 'सौं' रहा है। आधुनिक मैथिली में प्रायः 'सँ' देख पड़ता है।

३—'कें' या 'कैं' (वामन कें मार पृ० ३; जन्म मास कैं पृ० ४) भी द्वितीया कारक में मैथिली में आता है।

४—'गर्भाष्टम वाभन केर काल', 'बारहम वर्षे वैश्य केर बाल, मुख्य समय हेतु सबहिँ बेहाल।' (पृ० ४) इस से तथा यज्ञोपवीत-संस्कार के निमित्त 'उपनयन' शब्द ही के प्रयोग से यह मालूम होता है कि यह मैथिल ही थे। गर्भाष्टम में उपनयन तथा वर्षशुद्धि के विचार आदि का सर्वथा प्रचार मिथिला ही में चला आता है।

५—कार्य-मात्र में विशेष-विशेष अर्ध-प्रहरों का (जिसे मिथिला में अधपहरा कहते हैं) सर्वथा निषेध मिथिला ही में राजा से ले कर छोटे से छोटे शूद्र तक को मालूम रहता है, और उसे वे बड़ी सावधानी से व्यवहार में लाते हैं।

६—एक कहावत है—

जौँ कन्या नहिँ रक्खा योग।
शुद्ध जानि करु विवाह सुभोग॥

पृ० ५

इस से भी डाक का मैथिल होना सिद्ध होता है। विवाह में शुद्धाशुद्ध का विचार विशेष-रूप से जैसा कि 'डाक' ने कहा है मिथिला ही में देख पड़ता है।

'हरब' (भाग देना), 'शिरमदिशि' (सिरहाने की तरफ), 'गोड़कट खाट' ऐसी खटिया जिस पर सोने से पैर नीचे ही लटकता रहे (जिसे श्री त्रिपाठी जी के संग्रह मे कहावत २ में 'नसकट' कहा है) 'कपटी मित्र कोसलिया माय, बुडिबक बेटा टेटा जमाय' (पृ० १२) 'लागनि' (हल का वह हिस्सा जिस जोतने के समय जोतने वाला पकड़ रहता है); 'थोड़ थोड़ बेचिक कीनथि माछ, ताहि घर लक्ष्मी खल खल नाच' (पृ० १४); 'माटिक मोल अन्न बिकाय' (पृ० १७); 'सुख सुखराती देव उठान, तकरे बारहें करहु नवान' (पृ० २०); 'गुम की लावए' (गरमी के महीनों में जब कि बिल्कुल हवा न हो और खूब गरमी बोध हो) (पृ० २१); 'भुमुआय' (खूब जोरों मे एक-बार्गी बौछार का आना) (पृ० २२); 'खाली घैलें मूँह बिदोड़' (भाग २—पृ० ८); 'कोदरिकट्टा मेघ' (पृ० ८) 'घाम'—पसीना (पृ० २९); 'बसात' (भा० ३ पृ० ४) 'इजोडिया' (पृ० १०); 'रतनक मोल अन्न बिकाय' (पृ० ११) इत्यादि सैकड़ों परिशुद्ध मैथिली शब्दों को देख कर यह मालूम होता है कि इन कविताओं का रचनेवाला मैथिल छोड़ कर अन्य नही हो सकता है। इन्हीं सबों के आधार पर मै 'डाक' को मैथिल मानता हूँ तथा उन की भाषा को मैथिली मानता हूँ। प्रायः इन्हीं कारणों से श्रीयुक्त पीर मुहम्मद यूनिस ने इन्हें चंपारन और मुजफ्फरपुर की तरफ के रहने वाले कहा है, जो श्री त्रिपाठी जी की 'घाघ की जीवनी' पृ० १५ पर उद्धृत है।

दूसरा प्रश्न यह होता है कि यह थे कौन ? 'डाक' के किसी भी वचन से इन का स्पष्ट परिचय नही ज्ञात होता है। दंतकथा के ऊपर निर्भर रह कर इन को ज्योतिषाचार्य वराहमिहिर का पुत्र भी कहना संगत नहीं मालूम होता है। दंतकथा को छोड़ कर अन्य प्रमाण तो है ही नहीं, प्रत्युत विरुद्ध मे हो दो एक प्रमाण दिखाए जा सकते हैं। वराहमिहिर का समय छठी शताब्दी माना जाता है। यदि उन्हीं के पुत्र 'डाक' रहे हों, तो उन की कविताएँ ये कभी नहीं हो सक्तीं जैसा कि मैं ने पहले भी कहा है इस संग्रह में कोई भी ऐसा शब्द

नहीं है, जो १५ वीं शताब्दी के पूर्व का हो। यह वराहमिहिर कोई दूसरे ही रहे हों, यह भी ठीक नहीं कह सकते।

'डाक' के वचनों को पढ़ने से यह मालूम होता है कि यह जात के अहीर थे, इस में कोई भी संदेह नहीं है; क्योंकि कम से कम बीस बार इस संग्रह में 'कहथि गोआर'; 'कह डाक गोआर' 'कह शेष गोआर' 'कहल गोआर'; 'सुंदर डाक गोआर'; इत्यादि का उल्लेख मिलता है। अथ च यह जात के अहीर थे, इतना ही कह देने से काम नही चल सकता है। क्योंकि इस संग्रह मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के प्रत्येक कर्म के विधान के ऊपर सूक्ष्म-विचार देख कर यह अनुमान करना पड़ता है कि यह ब्राह्मण को छोड़ कर अन्य जाति के नहीं हो सकते हैं। ब्राह्मणों ही में इस प्रकार की स्वाभाविक विद्वत्ता सदा से चली आई है। किंतु प्रत्यक्ष के सामने अनुमान शिथिल हो जाता है। अब यह विचारना है कि अहीर होते हुए भी 'डाक' ऐसे प्रकांड ब्राह्मणवत् विद्वान कैसे हुए। 'आत्मा वै जायते पुत्रः' अगर इस को प्रमाण मानें तो उक्त दंतकथा के सहारे यह कहा जा सकता है कि 'डाक' के पिता कोई विशिष्ट विद्वान ब्राह्मण ही रहे होंगे और अपने पिता के ब्रह्मतेज के कारण अथवा पूर्व-जन्म के किसी पुण्य विशेष के पाकोन्मुख दशा प्राप्त होने ही से ये इस प्रकार के विद्वान हुए। क्योंकि भाग तृतीय के एक वचन से यह ज्ञात होता है कि यह भविष्य के ज्ञाता थे।

लगहरि गाय पिआवथि वाछा।
विघ्न दोष सब विसरू पाछाँ॥
'डाक' अग्र-जानी ई देखि।
शुभ यात्रा कहथि सब लेखि॥ (पृ० ४)

यदि यह 'अग्र-जानी' थे तो 'भून-जानी' भी अवश्य रहे होंगे। ऐसी अवस्था में संभव है कि ऐसे-ऐसे वचनों का निर्माण इन्हों ने किया होगा। तथापि मैं इन्हें शुद्ध अहीर कहने में कदापि सहमत नहीं हूँ।

अब यह प्रश्न है कि इन का जन्म-समय क्या था? भाषा की दृष्टि से बड़ी आसानी से मैं कह सकता हूँ कि पंद्रहवीं शताब्दी के पूर्व इन का समय

नहीं कहा जा सकता है। और इस तरफ के लिए एकमात्र प्रमाण ग्रंथ के आधार पर यह देख पडता है कि यह अठारहवीं शताब्दी के पूर्व रहे होंगे। क्योंकि मिथिला में माने जानेवाले गौने के प्रसंग के जितने शुभ मुहूर्त्त हैं, तथा जितने अशुभ मुहूर्त्त हैं उन सबों का उल्लेख 'डाक' ने किया है (भा० १, पृ० ६-७) किंतु एक विशेष मुहूर्त्त का उल्लेख इन्होंने नहीं किया, जिस के प्रारंभिक काल का ज्ञान प्रायः सभी मैथिलो को निश्चित रूप से ज्ञात है। मिथिला में हरिशयन के समय (आषाढ़ शुक्ल १९ से ले कर कार्तिक शुक्ल ११ तक मे) कोई भी वैवाहिक कार्य नहीं होता। किंतु महामहोपाध्याय सचल मिश्र जी ने यह सिद्धांत दिया था कि यात्रा-मात्र के लिए विजयादशमी शुभ है, अतः द्विरागमन भी विजयादशमी में हो सकता है। और तब से यह प्रथा मिथिला मे प्रचलित हो गई। किंतु इस प्रथा का उल्लेख 'डाक' के वचनों में नही देख पड़ता है। इस से अनुमान किया जा सकता है कि 'डाक' का जीवन-काल इस से पूर्व ही रहा होगा। पंडित सचल मिश्र अठारहवीं शताब्दी में वर्तमान थे, यह पूना के पेशवा माधवराव नारायण के दिए हुए दानपत्र से स्पष्ट मालूम होता है, और इन के वंशज अभी वर्तमान हैं। अतः 'डाक' का समय पंद्रहवीं शताब्दी के बाद और अठारहवीं के पूर्व हो कहना होगा। सोलहवीं शताब्दी मान सकते हैं।

अब मैं उन के वचनों के संग्रह के संबंध में कुछ निवेदन करना चाहता हूँ। मुझे खेद है कि श्री त्रिपाठी जी को मिथिला मे प्रचलित तथा प्रकाशित संग्रह का कुछ भो पता नहीं था, अन्यथा वे कभी यह नहीं लिखते कि "घाघ की कहावतों का जितना प्रचार अवध मे और कन्नौज के आस पास है, इतना युक्त-प्रांत के या बिहार के किसी जिले में नही है।" मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि जितनी कहावतें श्री त्रिपाठो जी ने प्रकाशित की है उन से अधिक नहीं तो कम भी नहीं कहावतों का संग्रह मिथिला में वर्तमान है। अच्छा तो यह होता कि इन कहावतों का एक द्वितीय भाग निकाला जाता जिस से सब की आलोचना करने की एकत्रित सामग्री सब को मिल जाती

मिथला के संग्रह में निम्नलिखित विषयों पर डाक की कहावतें प्रसिद्ध हैं :—

कार्य-मात्र के लिए मंगलवचन, तिथिनाम-ज्ञानवचन—सिद्धियोग; निंदितयोग; दग्धतिथि; ताराविचार तारा-नामकथन; होडा-चक्र—चंद्रमा-विचार—प्रसवार्थ प्रसूतिका का गृहप्रवेश समय—कुत्सितयोग में जन्मफल—प्रसूती-स्नान दिन—नवजात शिशु का प्रथमस्तन्यपान-दिन—मुण्डन दिन—कर्णवेध विचार—खड़ियाधरने का दिन—उपनयन विचार—विवाह—वधू-प्रवेश—द्विरागमन—शुक्रांध तथा संमुख शुक्र का विचार—द्विरागमन-समय के और भी उपाय—घर बनाने के पूर्व भूमि शुद्धि का विचार—वास्तु-विचार—शत्रु-मित्र विचार—घर बनाने मे ग्रहों की दशा का विचार—घर के परिमाण का विचार—चंद्रमंडल और सूर्यमंडल विचार—वास्तुखात विधि—घर छवाने की विधि—घर के समीप शुभ और अशुभ वृक्षों का फल और उन का नाम निर्देश—गृहस्थों के लिए त्याज्य वस्तु—गृहस्थों की सयमनीति।

खेती-प्रकरण—बैल खरीदना—हलचक्र-कथन—हल को प्रथम बार खेत मे जोतने का विचार—धान रखने का स्थान—बीज बोने और हल चलाने का विचार—श्रीपंचमी में हल की पूजाविधि और उस का शुभाशुभ विचार—श्रीपंचमी के दिन हल और बैल की चेष्टाओं का विचार—खेत जोतने का विचार—धान बोने तथा रोपने का विचार।

वर्षफल-प्रसंग—सावन कृष्ण एकादशी का शुभाशुभ विचार—सावन शुक्ल सप्तमी का—नींबू, आम, मटर आदि का विचार—कर्क संक्रांति से वर्ष-फल विचार—आर्द्रानक्षत्र में वर्षा न होने से वर्षफल विचार—पूस के अमावस ले कर विचार—सस्ता, महँगी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि समय-विचार—हवा-विचार—सक्रांति के दिन को ले कर वर्षफल विचार—दुष्ट वर्ष का लक्षण—शिवरात्रि को ले कर वर्ष-विचार—पर्व-विचार—दीवाली और गोमहिष-पूजन का फल—होलिकादाह और उस समय के वायु का फल—आषाढ़ी पूर्णिमा के वायु का फल—चंद्र-सूर्य-ग्रहण का विचार।

वर्षाविचार—मेघप्रवेश-लग्नफल—मेघ के दर्शन ही से वर्षा का विचार—स्वाती की वृष्टि और धान का विचार—पूस के महीने में वर्षा का विचार

वर्षा का गर्भाधान विचार—वर्षा और वायु का संबंध-विचार—वर्षा और शिवरात्रि के संबंध-विचार—जेठ की पूर्णिमा के संबंध-विचार—वर्षा या बदली का लक्षण।

यात्राविचार—भद्वा-गोधूली-विहित दिन, तिथि और नक्षत्र—योगिनी-दिक्शूल—कालचक्र—यात्राकाल में भोजन—सगुन और असगुन आदि का विचार—खंजन दर्शन—छींक—छिपकिली का गिरने का शुभाशुभ फल।

प्रकरण विशेष—बाल बनाने का दिन—नए वस्त्र पहनने का दिन—नवान्नभक्षण-दीक्षा लेने की विधि—दोस्ती जोड़ने का दिन। यह तो केवल प्रथम भाग की विषयानुक्रमणिका है। इन में प्रत्येक विषय को ले कर दो चार कभी-कभी आठ-दस भी कहावते हैं। इसी प्रकार द्वितीय भाग और तृतीय भागों का भी विस्तृत विवरण है जिसे स्थानाभाव के कारण देने की आवश्यकता नहीं।

अंत मे नमूने के तौर पर पाठकों के विनोदार्थ कुछ कहावतों का उल्लेख यहाँ किया जाता है:—

शनि रवि मंगल तीनू लेखा।
श्रवण धनिष्ठा ओ अस्लेखा॥
ओहि राति जौं बालक होय।
मातु पिता संहारय सोय॥
अपने मरए कुल भरि संहार।
रासि गुनइत बाभन मार॥

गुरु शुक्र चंद शनीचर दिन।
कहथि 'डाक' वधू प्रवेश नवीन॥
आठ षाट बारह बुधवार।
रिक्तहुँ त्यागी कहथि 'गोआर'॥

सीमरि तेतरि ओ पुनि तार।
तूति डुमरि अरु वट विस्तार

जामुन, अंडरी गाछ जौं होए।
कहए 'डाक' नासए पुनि सोए॥

कपटी मित्र कोसलिया माय।
बुडिबक बेटा टेटा जमाय॥
कहथि 'डाक' चारू परिहरी।
बुडिबक सन ससुरो नहिँ करी॥
महतम सौं बहिआ भेल बरी।
कहथि 'घाघ' से संतापें मरी॥

खयनहु मरी बिन खयनहु मरी।
कहथि 'डाक' जे सँय्यम करी॥

थोड कय जोतिह अधिक महि-अबिह, उंचकय बन्हिह आरि॥
जौं खेत तैओ नहिँ उपजहु, 'डाक' कएँ पढ़िहह गारि॥

छोट छोट घर बान्ही चौबरा।
तामे फार जोताबी हरा॥

आषाढ रोपी तान वितान।
साओन रोपी लवि कएँ धान॥
भादव रोपी ककोडाक वान।
तीनू काटी एक समान॥

जाही होए छेदा वेदा, ताही चुभाबी गाय॥
ताही होए होलाहोली, पुहमी रकत लोटाय॥

पानी वरिसय आधहिं पूस।
आधा गहुम आधा भूस॥

गामक ठक ठक बाँसक वान।
हाथ मूह दय चिक्का कान

ताहू सौं जौं भेटय अलहाबी।
की होइ राजा की अधिकारी॥

उत्तर छीकैं मान ग्मान।
सर्व सिद्धि लए कोन इलाज॥
पूर्ब क छिका मृत्यु हँकार।
अग्निकोन में दुःख क भार॥
सबहि क छिका कहि गेल 'डाक'।
अपने छिक्कें नहिँ करु काज॥
आकाश क छिक्कें जे नर जाय।
पलटि अन्न मंदिर नहिँ खाय॥

केरा रोपी काटी नहिँ पात,
केरे देतहु धोती ओ भात॥

फागुन केरा रोपल जाय।
आम्र मास फल बैसल खाय॥
भादव भदवा सीनो वारि।
केरा रोपी दील विचारि॥

चइत मूदि पडिवा जहि वार।
'डाक' करै छथि तकर विचार॥
रवि सोखा मंगल बरखा।
बुध में महगी काटह चरखा॥

आखाढ़ नवमी शुक्ल पखा,
की कर पंडित लेखा जोखा॥
बरिसय मेघ जौं मूसरधार,
भीम समुद्र में बगडा चार॥

फागुन मंगल होए पाँच।
पूसहु में पँच कुबडा नाच

काल पड़ए तहि सालहिं घोर ।
'भाँडरि' सुनह बात (एक ?) मोर ॥

जौं देखी कोदरि-कट्टा मेह ।
ताहि बीच में बातक नेह ॥
जाए खेत में बान्ही आरि ।
'डाक' कहैं छथि समय विचार ॥
ने ओहि दिन नें प्रात दिवस ।
वर्षा होअय अधिक अवस ॥

यत मास गर्भ नारि के नाम ।
यत जन बैसल छथि ओहि ठाम ॥
जोड़ि अक्षर सब हो यत अंक ।
सातें हरनें बाँचय जे निरंक ॥
'डाक' कहथि एक दुइ ओ पाँच ।
बाँचय पुत्र करविअह नाँच ॥
एहि सौं आन जौं बाँचए आबि ।
कन्या देखने बड़ सुख पाबि ॥

अक्षर दुइगुन चौगुन मात्रा ।
नामे नामे करी एकत्रा ॥
तीन अंक सौं भाग करी ।
भाग-शेष सौं उत्तर भरी ॥
एकें शून्यें पहिने पति ।
दुइ रहय तँ जाय युवति ॥

सुतब उठब पाँजर मोड़ा ।
ताहि बीच में जनमल छौंड़ा ॥
राजाक बेटा रामलाल ।
आठ बर्खो में 'डाक' नेहाल ॥

बतहाक चौदह बतहिक आठ।
अन्न त्यागि कए जीवन काट॥

बाभन कूकूर हाथि।
तीनू जातिहिं खाथि॥
कायथ कौआ रोड़।
तीनू जाति बटोर॥

डाक ने कौओं में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्ग होने का वर्णन किया है। जैसे—

तनु अति कारी बडका लोल।
पैघ काक अति ऊँचहि बोल॥
ताहि काक कएँ बाभन जान।
कहथि 'डाक' जे आन नहिँ मान॥
पिंगल आँखि नील रंग ठोर।
सब देह कारी छत्री सोर॥
पांडु नील रंग चोंच ओ देह।
कहथि 'डाक' जे वैश्य कहि लेह॥
मसमक रंग दुबर शरीर।
कर कर बाजए रह नहिँ थीर॥
ताहि 'डाक' कह सूद्र पुकारि।
एहि सौं आन थिक अन्त्यज हारि॥

वाम भाग में बाजए गीदर।
मन वान्छित फल पावहु शीघर॥
सम्मुख दहिन जौं बोल सियार।
महा अशुभ कहथि 'डाक' गोआर॥

सरदी सुंघनी बलक छिक्का।
डाक' कहथि जे ई सब फिक्का॥

पौष इजोडिया सप्तमी, अष्टमी नवमी बाज।
'डाक' जलद देखए प्रजा, पूरय सब विधि काज॥

इत्यादि अनेक अच्छी अच्छी कहावतें इस में हैं, जो कि प्रायः श्री त्रिपाठी जी के संग्रह में नहीं देख पड़ती हैं।

मिथिला के संग्रह में 'डाक' के नाम के साथ-साथ एक 'भाँडरी' का भी नाम देख पड़ता है। मालूम होता है कि इसी को श्री त्रिपाठी जी ने 'भड्डरी' कहा है और उन की कहावतें भी दी हैं। इस 'भाँडरी' के परिचय ढूँढने में बहुत कुछ ग्रंथ ही की सहायता मुझे मिलती है। इस संग्रह में कम से कम बीस बार 'भाँडरी' का नाम आया है जैसे कभी "कहए 'डाक' सुनु 'भाँडरी' "; कभी "कहहि 'डाक' सुनु 'भाँडरी' "; कभी "कहथि 'डाक' सुनु 'भाँडरि' सिद्धि"; कभी फिर "'भाँडरि' सुनह बात (एक ?) मोर"; कभी तो "'डाक' कहए सुनु 'भाँडरि' रानी" और फिर कभी "सुन 'भण्डरि' कह 'डाक' गोआर" तथा "कहत 'डाक सुन 'भण्डरी'" और कहीं 'भाडी' भी पाठ है। इस को देख कर मालूम होता है कि 'भाँडरी' स्त्री का नाम है, पुरुष का कदापि नहीं, क्योंकि 'भाँडरी' को रानी कह कर कई बार कहा गया है। इस के बाद यह प्रश्न होता है कि इस 'भाँडरी' से 'डाक' का क्या संबंध है। इस के तीन प्रकार के समाधान अभी मेरे मन में आते हैं—

(१) 'भाँडरि सिद्धि' यह देख कर कहा जा सकता है कि योगिनियों मे कोई 'भाँडरि' नाम की सिद्धि है, जिस के प्रभाव से 'डाक' भूत भविष्य को जानने वाले हुए होंगे। इसी लिए उन्हीं को लक्ष्य कर ये सब कहावतें 'डाक' ने कही होंगी।

२—" 'भाँडरि' रानी" इस पद से यह मालूम होता है कि 'भाँडरी' किसी प्रदेश के राजा की रानी का नाम रहा होगा और राजा या उन की रानी के 'डाक' प्रियपात्र थे, जिस के कारण 'डाक' ने उसी रानी के नाम पर कहावतें कहीं। इस प्रकार की प्रथा प्राचीन काल से चली भी आ रही है। इस की पुष्टि के निमित्त एक और भी प्रमाण ग्रंथ में मिलता है। 'डाक' ने कुछ कहावतें किसी राजा को लक्ष्य कर कही हैं जैसे—

कहए 'डाक' निश्चय भूपाल।
देशक राजा मरए ओहि साल॥

तथा—

चैतवदि पडिवा फल इहे।
सुनिले राजा 'डाक' हि कहे॥

इन दोनों स्थानों में 'भूपाल' और 'राजा' शब्द किसी एक राजा को लक्ष्य करता है। संभव है कि यह निरर्थक हो, जैसा कि एक स्थान मे "कहए 'डाक' तों सुनह रावण", रावण का भी उल्लेख है, किंतु ऐसा मानने से अनवस्था होगी। इस स्थिति में संभव है कि एक राजा जो कि 'डाक' के आदर-पात्र रहे हों, उन्हीं की रानी 'भाँडरी' रही हो।

३—तीसरा अनुमान यह है कि 'भाँडरी' डाक ही की अति प्रियपात्र स्त्री रही हो। इस में भी कुछ ग्रंथ से प्रमाण मिलते हैं। जैसे—

सुतहु पिया निचिन्त भय, बन्हए ने सारिक आरि॥
तुम जाओ पिय मालवा, मैं जाती गुजरात॥
कातिक कन्ता सिकियो न डोलय, कहाँक रख वह धान॥

ये कहावतें स्पष्ट रूप से पति ही को लक्ष्य कर कही गई हैं। संभव हो कि 'भाँडरी' ने ही इन कहावतों को कहा हो। मुझे यही संबंध समुचित मालूम होता है, और ऐसी स्थिति में 'डाक' ने अपनी ही स्त्री 'भाँडरी' के लिए 'रानी' आदि शब्द का प्रयोग किया है। इन बातों को देखते हुए मैं श्री त्रिपाठी जी से सहमत नहीं हो सकता, यह तो स्पष्ट है। और न मैं रायबहादुर दिनेशचंद्र सेन ही से सहमत हूँ, कि यह डाक या घाघ या खाना का समय ईसा की दशवीं शताब्दी में था। यह तो समझ में भी नहीं आता।

इस 'डाक' की मृत्यु के संबंध में जो कथा और कहावत श्री त्रिपाठी जी ने कही है, वही मिथिला में भी प्रसिद्ध है। अतः मैं उस का उल्लेख यहाँ करना व्यर्थ समझता हूँ।

चित्रकार "कवि" मोलाराम की चित्रकला और कविता

[लेखक—श्रीयुत मुकंदीलाल, बी० ए० (ऑक्सन), बैरिस्टर-एट्-लॉ]

[२१]

मेदिनीशाह

पृथिवीपत शाह का पुत्र और उत्तराधिकारी मेदिनीशाह अपने पिता की मृत्यु के बाद गढ़वाल के राजसिंहासन पर बैठा। मेदिनीशाह का राज्यकाल टेहरी की वंशावली के अनुसार सन् १६१४–१६६० है। पंडित हरिकृष्ण रतूड़ी ने सन् १६७६–१६९९ दिया है। बेकेट की सूची के अनुसार मेदिनीशाह ने ४६ वर्ष राज्य किया, और ६२ वर्ष की उम्र में सन् १७१७ में शरीर त्याग किया। अल्मोड़ावाली गढ़राज-वंशावली जो ऐटकिंसन ने दी है, उस मे पृथिवीपत शाह का समय सन् १६४०–१६६० दिया है। और मेदिनीशाह को पृथिवीशाह का उत्तराधिकारी बता कर मेदिनीशाह के पुत्र फ़तेहशाह का समय सन् १६८४–१७१६ दिया है। अल्मोड़ा की सूची के अनुसार मेदिनीशाह का राज्यकाल सन् १६६०–१६८४ है। हमारी राय में (जैसा हम पहले भी कह चुके हैं) अल्मोड़ावाली सूची सही है, और मेदिनीशाह का राज्यकाल सन् १६६०–१६८४ है। अर्थात् मेदिनीशाह २४ वर्ष गढ़वाल के राज्यसिंहासन पर रहा। परंतु मेदिनीशाह अपने पिता पृथिवीशाह के जीवन-काल में ही राज्यकार्य में बहुत दख़ल देता था, और गढ़वाल के शासन मे उस की बहुत चलती थी। सुलैमान शिकोह गढ़वाल में सन् १६५८ में आया था। मेदिनीशाह

मेदिनीशाह का ठीक समय सन् १६६०–८४ ई०

ने अपने पिता पृथिवीशाह की इच्छा के विरुद्ध सुलैमान को औरंगज़ेब के हवाले कर दिया था।

औरंगज़ेब मेदिनीशाह को बहुत मानता था। मेदिनीशाह औरंगज़ेब के दरबार में बहुत रहने लगा था। मेदिनीशाह के समकालीन कुमाऊँ के राजा बाज़बहादुर और उद्योतचंद थे। ऐटकिसन के अनुसार बाज़बहादुर का समय सन् १६३८–१६७८ और उद्योतचंद का समय सन् १६७८–१६९८ है। गढ़वाल के 'गज़ेटियर' के अनुसार मेदिनीशाह के समय में बाज़बहादुर और उद्योतचंद ने गढ़वाल के बधाण परगना पर हमला किया। उद्योतचंद ने पहिले सन् १६७८ में मात खाई। लेकिन दूसरे साल गणाई और पंडुवाखाल हो कर लोहवा और चाँदपुर में अपनी सेना को लेकर आया। उस ने चाँदपुर गढ़ पर आक्रमण किया। मेदिनीशाह ने डोटी के राजा रैंका की सहायता माँगी। उस से चंपावत पर हमला करवाया। और स्वयं मेदिनीशाह ने दूणागिरी और द्वारा (हाट) पर अधिकार किया। दो वर्ष तक लड़ाई चलती रही। अंत में मेदिनीशाह और रैंका राजा हार गए। अल्मोड़ा के राजा ने दूणागिरी और द्वारा में कुछ सेना गढ़वालियों को रोकने के लिए रख दी।[1]

मेदिनीशाह के समकालीन और उन से उस की लड़ाई

मोलाराम के अनुसार जब पृथिवीशाह—

देह तजी तब स्वर्ग हि पायो।
मेदिनीशाह भये सुत तिन के॥
कहूँ सुजस अब सुनियो इन के।
ख़बर गई दिल्ली में जब हीं॥
भेज्यो ऐंची गढ़ महिं तब हीं।

मेदिनीशाह का औरंगज़ेब की सहायता करना

---

[1] 'गढ़वाल डिस्ट्रिक्ट गज़ेटियर', (१९१०) पृष्ठ ११८

खिलत साथ पार्चा दीन्यो,
इत आवो तुम हुकुम हि कीन्ह्यो ॥
मेदनीशाह चले संग ताके।
फतेहशाह सुत राज में राखे ॥
दिल्ली जाय सलाम ही कीन्ह्यो।
देखि बादशाह हुकुम ही दीन्यो ॥
तुम क्यूंठलगढ[1] साधो जाई।
इत की फौजें हारि के आई ॥
जाकी वह गढ़ भयो मवासी।
हमरी उन कई फौज विनासी ॥
सुनी मेदनीशाह यह, झुकि के कियो सलाम।
कह्यो मै हजरत जात हूँ, यही हमारो काम ॥
करि सलाम हजरत को धायो।
गढ़ सों अपनो कटक मँगायो ॥

जो गढ़वाली सेना मेदिनीशाह गढ़वाल से औरंगजेब की सहायता के लिए, क्यूंठल के राजा पर आक्रमण करने को ले गया था, उस का विवरण हम इस से पूर्व दे चुके हैं।

संग लोभी वधाणी तिन के।
तुपक सरोही कर्मंहि जिन के ॥
ऐसी गढ़ सों फौजें धाई।
जाय क्यूंठल सबैहि घिराई ॥
मेदिनीशाह मंत्र ठहरायो।
सब मंत्रिन को इहै सुनायो ॥

मेदिनीशाह का क्यूठल-गढ़ पर आक्रमण

[1] क्यूंठलगढ़, पंजाब में एक पहाड़ी राज्य है, जो गढ़वाल व सिरमौर से मिला है इस को कैठल भी कहते थे

पानी रसत बंद करि राखो।
भली बुरी तिनसों मत भाखो ।।
बठफर गढ चहुँ पास फिरायो।
अंदर जान कोई नहि पायो ।।
गढ महिं बैठि कतल अरि कीने।
पड़े पाय मुख महिं तृण दीने ।।

क्यूंठलगढ़ पर विजय-प्राप्ति का समाचार जब दिल्ली के बादशाह (औरंगज़ेब) के पास पहुँचा तो उस ने मेदिनीशाह को अपने पास बुलाया।

मेदिनीशाह का औरंगजेब के दरबार में सम्मान और पारितोषिक पाना।

मेदनीशाह दिल्ली में आये।
बहु आदर से पास बुलाये ॥
हजरत कह्यो कुछ अर्जी लाओ।
जो तुम माँगो सोही पाओ ॥
राजा कहि मेहर जो कीजे।
दून हमारी हमको दीजे ॥
बहोत दिनन से छूट रही है।
बूझी तुम हम अर्ज कही है ॥
पट्टा तुरत लिखाय मँगाया।
ठपिके सही कराय दिलाया ॥
हुकम भयो रहो हमरे पासहि।
सब विधि पूरे तुमरी आसहि ॥
मेदनीशाह रहे तब तितही।
मजलस जात रहे जो नितही ॥

कोई दिन दिल्ली रहे, पाछे गढ महिं आय।
सुरगवास तिनको भयो, रह्यो सुजस जग छाय ॥

इस बात को पंडित हरिकृष्ण रतूड़ी भी मानते हैं कि "मेदिनीशाह की औरंगजेब से घनिष्ठ मैत्री हो गई थी। मेदिनीशाह औरंगजेब के दरबार में जा कर उस का मेहमान भी रहा करता था।" परंतु पंडित हरिकृष्ण रतूड़ी से हम इस बात में सहमत नहीं कि "इस राजा के जीवनकाल की और कोई विशेष ऐतिहासिक घटना नही पाई जाती है.........। इन के राज्य का समय साधारण समय माना जाता है। क्योंकि इन्हों ने कोई ऐसा काम नहीं किया जो इतिहास में स्थान पाने योग्य समझा जाता।"[1] हमारे नजदीक यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है कि औरंगजेब सरीखा सर्व-शक्तिमान् उत्तरी भारत का सम्राट् गढ़वाल सरीखे छोटे से राज्य की सहायता माँगे। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मेदिनीशाह ने गढ़वाल राज्य का वह भाग अर्थात् देहरादून जिला जो पहले गढ़वाल राज्य के अंतर्गत था और जिस को औरंगजेब ने सुलैमान शिकोह के श्रीनगर आने पर अपने अधिकार में कर लिया था, उस प्रांत को अपने बाहुबल का परिचय कराकर गढ़वाली सिपाहियों की वीरता के पुरस्कार मे औरंगजेब से प्राप्त किया। तीसरी ऐतिहासिक घटना मेदिनीशाह के राज्यकाल की यह है कि जब मेदिनीशाह दिल्ली के दरबार में रहने लगे तो उस समय मेदिनीशाह की अनुपस्थिति के कारण अल्मोड़ा के राजा उद्योतचंद ने बधाण, लोभा, और चाँदपुर के कुछ हिस्से पर अधिकार कर लिया था। चौथी उल्लेखनीय घटना जिस की चर्चा रतूड़ी जी ने भी की है, वह यह है कि सनातन, प्राचीन प्रथा, के अनुसार कुंभ के मेले में सब से पहले हरी जी के कुंड पर गढ़वाल का राजा स्नान करता था। क्योंकि हरद्वार उस समय गढ़वाल राज्य के अंतर्गत था। एक कुंभ के मेले में देशी राजाओं ने कहा कि हम पहाड़ी (गढ़वाली राजा) को पहिले हरी कुंड पर स्नान नहीं करने देंगे "यदि वह जबरदस्ती करे तो शस्त्र काम में लाये जायँ"। मेदिनीशाह ने "कहला भेजा कि इस परम पावन पुण्यक्षेत्र में

मेदिनीशाह के राज्य-काल का महत्त्व

"मेरी गंगा स्वतः मेरे पास आवेगी"

---

[1] 'गढ़वाल का इतिहास', पृष्ठ १९२

रक्तपात करना क्षत्रियों का काम नहीं। आप लोग पर्व पर जब चाहें, कुंड पर, स्नान करें। यदि गंगाजी को मेरा महत्त्व रखना होगा तो मेरी गंगा स्वत: मेरे पास आ रहेगी। मेदिनीशाह ने अपना डेरा गंगा के उस पार चंडी के नीचे मैदान में लगाया। "पर्व के दिन प्रात:काल को क्या देखा गया कि गंगा की धारा पलट कर राजा मेदिनीशाह के डेरे के पास बह रही है। हरी जी के कुंड पर बिना पानी के मछलियाँ तड़प रही हैं।·········तब राजा को सच्चा बद्रीनाथ का अवतार जान कर, अन्य सब राजा लोग और यात्रीगण राजा के दर्शन को गए। और उन से क्षमा माँगी। तब से वह गंगा जी की नील धारा प्रसिद्ध है। यह गाथा केवल गढ़वाल में ही नहीं किंतु दूण और हरिद्वार प्रांत में प्रसिद्ध है।"[1]

गंगा चाहे स्वयं हरी कुंड को छोड़ कर चंडी की तरफ़ गई हों, या मेदिनीशाह नहर निकाल कर गंगा को वहाँ ले गए हों, इस बात का प्रमाण मौजूद है कि गंगा की एक धारा चंडी की तरफ़ अवश्य गई।

[२२]

फ़तेहशाह

फ़तेहशाह को फतेहसिंह भी कहते थे। फ़तेहशाह का राज्यकाल सन् १६८४—१७१६ है। फ़तेहशाह ने १६९२ मे जिला सहारनपुर पर हमला किया। शाही सेनापति सय्यदअली ने फ़तेहशाह को सहारनपुर से मार भगाया। फ़तेहशाह ने तिब्बत पर भी हमला किया। और कहा जाता है कि फ़तेहशाह ने तिब्बत के कुछ भाग में अपना राज्य क़ायम कर लिया था। फ़तेहशाह की एक टोपी, कोट, तलवार, तोड़ेदार बंदूक़, दापा के मंदिर में अब तक, तिब्बत में, रक्खे हुए हैं। फ़तेहशाह के सन् १६८५, १७०६, १७१० और १७१६ के दान-

फतेहशाह के सहारनपुर और तिब्बत के आक्रमण

[1] पंडित हरिकृष्ण रतूड़ी, 'गढ़वाल का इतिहास' पृष्ठ ३९१ ३९२

पत्र मौजूद हैं। उक्त दानपत्रों में फ़तेहशाह का नाम फ़तेपतशाह लिखा हुआ है।

कुमाऊँ और गढ़वाल के बीच जो युद्ध छिड़ा हुआ था वह जारी रहा। अल्मोड़ का राजा ज्ञानचंद (सन् १६९८—१७०८) पिंडर नदी को पार कर थराली तक आया। फिर दूसरे साल रामगंगा को पार कर उस ने सावली खाटली और सैंधार पट्टियों को लूटा। सन् १७०१ मे इस आक्रमण का उत्तर फ़तेहशाह ने, गेंवाड़ और चौकोट पर हमला कर के दिया। इसी तरह गढ़वाल और कुमाऊँ के बीच, सरहदी पट्टियों पर, एक न एक ओर से हमला होता रहा। सन् १७०३ मे मेलचौरी के ऊपर दुदुली पर ज्ञानचंद और फ़तेहशाह की सेना के बीच घोर संग्राम हुआ। फ़तेहशाह की हार हुई। सन् १७०७ में कुमाऊँ की फौज ने बिचला चौकोट में जूनियाँगढ़ के क़िले पर अधिकार किया। और पंडुवाखाल और दिवालीखाल होते हुए चाँदपुर आ कर चाँदपुर क़िले को तोड़ डाला। ज्ञानचंद के उत्तराधिकारी जगतचंद (सन् १७०८—१७२०) ने अपने पिता की नीति के अनुसार लोहवा को लूटा और लोहवागढ़ पर अधिकार किया। पंडुवाखाल में अपनी फौज रख दी। और पिंडर नदी के किनारे किनारे सिमली होते हुए श्रीनगर पहुँचा। फ़तेहशाह देहरादून चला गया। जगतचंद ने श्रीनगर का शासन एक ब्राह्मण के सुपुर्द कर दिया। फ़तेहशाह बहुत थोड़े समय में देहरादून से श्रीनगर लौट आया। और फिर उस ने कुमाऊँ पर आक्रमण शुरू कर दिया। कुमाऊँ राज्य के एक हिस्से को बहुत समय तक उस ने अपने अधिकार में रक्खा। सन् १७१० के एक दानपत्र के लेख से विदित होता है कि फ़तेहशाह ने अपने बधाण के सेनापति को सूचित किया कि बैजनाथ के निकट का गुड़सार गाँव जो कुमाऊँ की कैंत्यूर पट्टी मे है, वह बद्रीनाथ को चढ़ा दिया गया है और आज्ञा दी कि सेना-नायक इस बात का ख़याल रक्खे और देखे कि गढ़वाल और कुमाऊँ के सिपाही इस गाँव (गड़सार) के लोगों को तंग न करें।

गढ़वाल और कुमाऊँ के बीच युद्ध

मोलाराम के **मेदिनीशाह की मृत्यु के बाद**

फतेशाह राजा इत रहे।
दिल्ली औरंगजेब ही भये॥
फतेशाह दाता भये ज्ञाता।
सुंदर सूरज गत विख्याता॥
दिल्ली औरंगजेब कसाई।
पिता भ्रात सब दिये मराई॥

जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं मोलाराम ने सुलैमान शिकोह का गढ़वाल में आना फतेहशाह के समय में बताया है। मोलाराम ने गलती से पृथिवीशाह के बदले फतेहशाह का नाम लिखा। सुलैमान शिकोह पृथिवीशाह के समय में आए थे। सुलैमान शिकोह के आने व जाने के विषय में हम पहले लिख चुके है।[1]

फतेहशाह और सुलैमान शिकोह

फ़तेहशाह के विषय में मोलाराम ने अपने काव्य में और कुछ नहीं लिखा है। हस्तिदल थापा से, जिस के कहने पर उन्हों ने अपना काव्य रचा, सिर्फ इतना ही कहा—

वही कथा अब फिर कै आई।
जो पहिलों हम तुम्हें सुनाई॥
तब हस्ति जू यों कही, आगे कहो सब हाल।
फतेहशाह पाछे भयो, जो राजा गढ़वाल॥

"वही कथा" से मोलाराम का मतलब सुलैमान के आने और जाने के इतिहास से है, जिस की चर्चा मोलाराम ने अपने पूर्वजों के गढ़वाल में आने का कारण बताते हुए अपने काव्य के आरंभ मे की है।

फ़तेहशाह ने गुरु रामराय को देहरादून के गुरुद्वारे के व्यय के लिए कई गाँव दान दिए और श्रीनगर मे भी गुरु रामराय का मठ स्थापित किया।

फतेहशाह का दान और अंतिम समय

---

[1] 'हिंदुस्तानी', अक्तूबर १९३२, पृष्ठ ४४०-४

'गढ़वाल गजेटियर' के अनुसार फतेहशाह की मृत्यु पर, सन् १७१६ मे, उस के पुत्र दिलीप के हाथ राज्य-शासन आया। और दिलीपशाह के नौ महीने राज्य करने के बाद राज्य का शासन न जाने किन कारणों से और कैसे उपेंद्रशाह के हाथ आया। उपेंद्रशाह ने भी सिर्फ नौ मास पर्यंत राज्य किया।

[२३]

उपेंद्रशाह

मोलाराम के काव्यानुसार—

उपेंद्रशाह भये पाछे राजा।
तिनहूँ किये सबै शुभ काजा॥
(उपेंद्रशाह का रामराज्य) सिंह मृग एक ठौर बँधायो।
एक घाट मे नीर पिलायो॥
निस रीत गढ़राज चलाई।
कहूँ अनीत होन नहीं पाई॥
हवन यज्ञ दान बहु कीने।
हय हाथी हि कविन को दीने॥
कलियुग में सतयुग ही चलायो।
राज करन बहुत नहीं पायो॥
नौ दस मास राजहि कीन्यो।
स्वर्ग जाय पुनि वासिह लीन्यो॥
टीका तिनके कोई न हुआ।
जो हुआ सोई तहँ मुआ॥

'गढ़वाल गजेटियर' और 'गढ़वाल का इतिहास' मे उपेंद्रशाह के विषय में कुछ नहीं लिखा है। केवल उन का नाम-मात्र दिया है। रतूड़ी जी ने उपेंद्रशाह की मृत्यु इकतालीसवें वर्ष होना बताया है। मोलाराम के उपेंद्रशाह बड़ा धार्मिक, सदाचारी और बड़ा अच्छा शासन

कर्ता, प्रजावत्सल, कवि गुणग्राहक राजा हुआ। जैसा गढ़वाल के 'गज़ेटियर' में भी लिखा है कि उपेंद्रशाह ने केवल नौ महीने राज्य किया; मोलाराम भी यही कहता है। मोलाराम दिलीपशाह को उपेंद्रशाह का भाई बतलाता है। और प्रदीपशाह को दिलीपशाह का पुत्र बताता है। 'गढ़वाल गज़ेटियर' ने भी प्रदीपशाह को उपेंद्रशाह का भतीजा अर्थात् दिलीपशाह का पुत्र माना है।

[२४]

प्रदीपशाह

प्रदीपशाह का समय १७१७ से १७७२ ई० तक है।

उपेंद्रशाह को भ्रात इक, छोटो शाह दुलीप।
देहांत तिनको भई, तिनको सुत परदीप॥

प्रदीपशाह की बाल्यावस्था में मंत्रि-मंडल की कुव्यवस्था

प्रदीपशाह बालक भये राजा।
मंत्रि करैं राज को काजा॥
पांच वरष महि राजहि पायो।
राज-काज सब भात चलायो॥
राणी राज भयो गढ़ माहीं।
मंत्री नूतन चक्रि बनाहीं॥
घोर कलो गढ़ माहि प्रकासा।
गोति विप्र मंत्री किये नासा॥
खसिया बहु रजपूत सिंहारे।
पहिले मंत्री सबहीं मारे॥
नूतन मंत्री नूतन राजा।
मंत्री करैं राज को काजा॥
राजा जहाँ बालक न्याय नाही।
मंत्री करैं आपस कलह माही॥

जैसे विना अंकुश मत्त दंती ।
जूहै महायुद्ध कवि यों वदंती ॥
ताके रहैं नूतन नित्य मंत्री ।
होवैं सु कैसे वह राज तंत्री ॥
भली बुरी ते कुछ ना लखंती ।
राजश्री गर्भ कवयो वदंती ॥
जहाँ ज्ञान सनमान की बात नाहीं ।
महा अंध की धुंद कहिये तहांही ॥
तहां क्या करैं पंडितें पंडिताही ।
जहां खाक बूरा बिकै एक सांही ॥

पंडित गुनिजन लोक जे, सबही भये उदास ।
जो पामर कुल हीन नर, मंत्री भयो वो खास ॥

....

गढ़ महि निरमानुखता भई ।
इहै खबर चहुँ दिस महीं गई ॥
कुरमांचल तैं बिगबत आई ।
पुरवा पछुवा पौन भी धाई ॥

कुरमांचल सो जोयसी, हरी राम तिहुँ नाय ।
होय तगीर श्रीनगर महिं, आयो वह गढ़ धाय ॥

हरीराम जोशी कुमाऊँ पर आक्रमण करने का आग्रह करता है ।

सिरीनगर महि जोसी आयो ।
या विधि उलका पात उठायो ॥
निरमानुखता गढ़ महि देखी ।
महाराज सौं कीनी सेखी ॥
हे महराज शरण हौं आयो ।
राज कुमाऊँ तुम्हें चढ़ायो ॥
चलो फौज ले राज कुमाऊँ ।
देस मुलक सब तुम्हें मिलाऊँ ॥

गढ़महि अपने पुत्र बिठावो।
राज कुमाऊँ तुमहिं चलावो॥
तुम राजा हम मंत्री तुहारे।
कुर्माचल सों हुए नियारे॥
राज काज सब हमरे हाथा।
सो हम निसिदिन तुमरे साथा॥
चंड भाज के देश हि जावें।
राज तखत महि तुम्हें बिठावें॥
प्रदीपशाह नरनाह, सुनि लागे बातन माहि।
आयो हाथ न राज वो, अपनो राख्यो नाहिं॥

....

प्रदीपशाह की कुमाऊँ राज्य पर चढ़ाई

सवालाख ले फौज संग, गये कुमाऊँ माहिं।
डेरा दीन्यो जूनियाँ, गढ़ महि खोद बनाहि॥
कोई दिन जो तहाँ रहाये।
प्रजा कोई नहि भेंटन आये॥

प्रदीपशाह हरीराम जोशी की बातों में आगया। जूनियाँगढ़ में जा कर उस को पता लग गया कि वास्तव में कुमाऊँ की स्थिति इतनी बुरी नहीं थी। कुमाऊँ की प्रजा का अभी अपने राजा पर प्रेम था। जोशी किसी व्यक्तिगत द्वेष के कारण प्रदीपशाह को कुमाऊँ पर हमला करने के लिए लाया था। मालूम यह होता है कि हरीराम जोशी कुमाऊँ के मंत्री पद से हटा दिया गया था। इसी लिए उस ने यह षड्यंत्र रचा था। जब प्रदीपशाह की गढ़वाली सेना सामने आ गई तो कुमाऊँ के राजा और मंत्रिमंडल ने—

हरीराम जोशी हि बुलायो।
सब ही ने मिलि जुलि समझायो॥
ताकी खिदमत ताको दीनी।
सबहि कुछ कीनी॥

हरीराम बक्सी कहलायो।
इन को साफ जवाब दिलायो॥
....

कुरमांचली सब एक हो, गढ़मंत्री लिये मिलाय।
कह्यो वेग गढ़ भूप को, इत सों देहु उठाय॥

गढ़मंत्री इह मसलत दीनी।
गुपत महा तहँ कौसल कीनी॥
लोग तुम्हारे जब चढ़ि आवैं।
राजा को हम तबहि उठावैं॥

कृतघ्न मंत्री की अनुमति के अनुसार कुमाऊँ की सेना ने गढ़वाली सेना पर आक्रमण किया।

कुमाऊँ की सेना का गढवाली सेना पर आक्रमण

राजा लियो घेर जब ताही।
बाप पूत दो लड़े उहांही॥
बाप पूत दो भाट भिखारी।
उनहूँ तहाँ लड़ाई भारी॥
राजा तितसों दियो बचाई।
बीस पचीसैं लोथ गिराई॥
तब किनहूँ ने गोली दागी।
बाप पूत दोनों के लागी॥
निमक हलाली में सिर दीना।
लालच लोभ कछू नहिं कीना॥

इन दो पिता-पुत्र भाटों की राज-भक्ति और नमकहलाली गढ़वाल और कुमाऊँ के मंत्रियों की कृतघ्नता के सामने काले बादलों में विद्युत्-छटा के सदृश है।

भागे गढ़ के लोग सबैं ही।
सरबसु सब को लुट्यो तबैं ही॥
कई लाख को द्रव्य लुटायो।
सो सब कुर्मांचली ने पायो॥

गढ़वालियों के अवगुण

राजा भाजि नगर महि आये।
मिल्यो राज नहि आपु लुटाये॥
ऐसे खसिया द्रुज हैं गढ़ के।
जानत हैं घर ही मे लड़ के॥
एक की एक करैं चुगली,
चुगली, बहु पेचन में बढ़ि कै।
परकाज बिगारत हैं अपनो,
सिर पाप चढ़ावत हैं अड़ि कै॥
याहि तैं थो गढ़वाल गयो,
कटि आपस माहि मरै लड़ि कै।
कधि मोलाराम विचार कही,
ऐसे खसिया द्रुज हैं गढ़ के॥

प्रदीपशाह की शांति-प्रियता और विलासिता

ता दिन तै परदीप शा,
बाहर निकसै नाहि।
घर ही में मजलस करी,
मंत्रिन के संग माहि॥
विक्रम छाड़ि संधि ही कीनी।
देश विदेश पत्रिका दीनी॥
लिखत पढ़त सब ही को राखी।
बैर करै नहिं संग माहि काकी॥

मोलाराम के कथनानुसार इस के बाद प्रदीपशाह शांति-प्रिय हो गया। और सारा समय उस का विलासिता, "वनिता और गनिका" की सुहबत में बीता और उस के आस-पास—

फिरैं पचास साठ ही चकना।
मदमाते ज्यों हाथी मकना॥
सबहीं को पुर महिं धुरकावैं।
तिन को देखि सबहि को डरावैं॥

ऐसे चकना जिन के चेरा।
तिन के पुर निस दिन हि अधेरा॥
बिभचारी कौ नाहि डरावैं।
गनिका मित्र सौं दंड भरावैं॥
परदारा गनिका हितकारी।
नीत रीत परदीप बिसारी॥
....

प्रदीपशाह की मृत्यु

इकसठ बरस लौं राजहि कीना।
आधा अँग अधँग ने लीना॥
जडी जंतु औषध वहु कीनी।
लगो एक नहिं काया लीनी॥
इकसठ बरस की उमर हीं, मरे जो शाह प्रदीप।
ललितशाह को राज भयो, खरी लगाई सीप।

प्रदीपशाह का समय (१७१७-१७७२ ई०) सही होने के प्रमाण प्रदीपशाह के दानपत्रों से मिलते हैं। जिलासु के जिलेश्वर महादेव के सन् १७२५ के, श्रीनगर के कपिलमुनि के १७३४ के, चंद्रापुरी के १७४५ के, कमलेश्वर (श्रीनगर) के सन् १७५३ के दानपत्र जो कि ट्रेल ने सन् १८१८ में माफी गाँव के पट्टों से इकट्ठा किए उन से सही साबित होता है।[1]

प्रदीपशाह का राज्यकाल

ऐटकिंसन में दी हुई अल्मोड़ावाली सूची के अनुसार प्रदीपशाह का राज्यकाल सन् १७१७-१७७२ है। अर्थात् उस के अनुसार ५५ वर्ष उस ने राज्य किया। मोलाराम ने ६१ वर्ष की अवस्था में प्रदीपशाह की मृत्यु होना बताया है। और मोलाराम ने यह भी लिखा है कि जब उस को राज्यसिंहासन प्राप्त हुआ, प्रदीपशाह की अवस्था पाँच वर्ष की थी। राज्य-काज, उस की बाल्यावस्था में, राजमाता और मंत्रियों के द्वारा होता रहा। बीस इक्कीस वर्ष

---

[1] ऐटकिंसन, 'हिमालयन, डिस्ट्रिक्टस ; जिल्द २ पृष्ठ ५७४ ५७६

की अवस्था से प्रदीपशाह स्वयं राज्य-प्रबंध करने लगा होगा। उस की नाबालगी के समय में, स्वार्थवश मंत्रियों ने, जो कुप्रबंध और अत्याचार किए उन की चर्चा मोलाराम ने की है। जो कि मोलाराम के शब्दों में ऊपर दी जा चुकी है।

'गढ़वाल गज़ेटियर' और ऐटकिंसन के अनुसार प्रदीपशाह के समय में जिला देहरादून, जो उस समय गढ़वाल के राजा के आधीन था, खूब हरा-भरा था। सन् १७४७ में देहरादून के चार सौ गाँवों से प्रदीपशाह को ९७,४६९ रुपये की आय थी। इस में से प्रायः आधी आय प्रदीपशाह ने मठ-मंदिरों को दान में चढ़ा दी थी। गढ़वाली राजा की इस आय को देख कर सहारनपुर के रुहेला नायक नजीर खाँ (नजीबुद्दौला) की लार टपकी। और सन् १७५७ में उस ने देहरादून पर आक्रमण किया और देहरादून पर अपना प्रभुत्व जमा लिया। नज़ीर खाँ के राज्य में देहरादून ने और भी उन्नति की। प्रदीपशाह इस बीच शांतिप्रिय और आमोदप्रिय हो गया था। इस लिए उस ने देहरादून को अपनाने की कोशिश नहीं की। सन् १७७० में नज़ीर खाँ की मृत्यु हो गई। उस के बाद देहरादून को फिर से अपने अधीन करने में प्रदीपशाह या ललितशाह को कोई कठिनाई नहीं पड़ी।[1]

देहरादून उस समय गढवाल राज्य के अंतर्गत था।

'गढ़वाल गज़ेटियर' में प्रदीपशाह की रणकुशलता के विषय में लिखा है—"प्रदीपशाह लड़ाई में कुमाऊँ के विरुद्ध विशेष सफल रहा। उस ने बधाण और लोहवा को अपने बाहुबल से वापिस ले लिया। कत्यूर पर हमला किया। रामचूला पर प्रदीपशाह ने हार खाई। कुमाऊँ के राजा देवीचंद ने उस ब्राह्मण से श्रीनगर वापिस लिया, जिस को उस के पिता जगतचंद ने दिया था। ब्राह्मण ने देने से इन्कार किया।

प्रदीपशाह की रणकुशलता

[1]'गढ़वाल डिस्ट्रिक्ट गज़ेटियर' ११९ २०

देवीचंद ने लड़ कर लेना चाहा। गढ़वालियों ने कुमाऊँनी राजा और उस की सेना को गढ़वाल से मार भगाया।"[1]

आगे चल कर 'गज़ेटियर' में यह भी लिखा है कि जब कुमाऊँ के राजा कल्याणचंद पर हाफ़िज़ रहमत ख़ाँ ने सन् १७४५ में दस हज़ार सिपाही ले कर हमला किया, अल्मोड़ा (कुमाऊँ) के राजा ने प्रदीपशाह से सहायता माँगी। प्रदीपशाह गढ़वाली सेना साथ ले कर रुहेलों से लड़ा। किंतु रुहेलों ने इन दोनों पहाड़ी राजाओं की सेना को बड़ी शिकस्त दी, और श्रीनगर पर भी हमला करना चाहा। तब प्रदीपशाह ने बीच-बचाव किया। और कल्याणचंद की तरफ़ से तीन लाख रुपया रुहेलों को दिया गया। तब रुहेलों ने कुमाऊँ का पीछा छोड़ा।

प्रदीपशाह का कुमाऊँ के राजा की सहायता में रुहेलों से लड़ना

"कुछ साल के बाद फड़नियाल फ़िरक़े के आग्रह पर प्रदीपशाह ने अल्मोड़े के राजप्रबंध में हस्तक्षेप किया। और रामगंगा के तट तक अपनी राज्य-सीमा बनाई। प्रदीपशाह की यह बात कुमाऊँ के राजा ने स्वीकार नहीं की। लड़ाई होने पर प्रदीपशाह की हार हुई। तामाढौंढ में, जो कि चौकोट में है, चार सौ गढ़वाली सिपाही रणक्षेत्र में काम आए।"[2]

प्रदीपशाह का कुमाऊँ पर हाथ मारना और उस की हार

मोलाराम ने लिखा है कि हरीराम जोशी प्रदीपशाह को बुला कर अल्मोड़े ले गया। और प्रदीपशाह से कहा कि तुम्हें अल्मोड़े के राज्य-सिंहासन पर बैठाएँगे। मालूम होता है वह हरीराम जोशी फड़नियाल फ़िरक़े की तरफ़ से आया था। और जिस युद्ध की चर्चा मोलाराम ने की है और जिस में भाट बाप-बेटे मारे गए वह रणक्षेत्र तामाढौंढ था, और जिस जूनियाँगढ़ का जिक्र मोलाराम ने किया है, कि वहाँ पर प्रदीपशाह ने सवा लाख फ़ौज ले कर डेरा जमाया था, वह जूनियाँगढ़ तामाढौंढ के पास चौकोट में था।

---

[1] 'गढ़वाल डिस्ट्रिक्ट गज़ेटियर', ११९-२०।

[2] वही पृष्ठ १२०

[२५]

ललितशाह

मोलाराम के काव्यानुसार प्रदीपशाह का पुत्र ललितशाह (सन १७७२-१७८०) अपने पिता के पश्चात् गढ़वाल के राजसिंहासन पर बैठा। ललितशाह को तीन रानियाँ और चार पुत्र थे। बड़ी रानी कैठल (क्यूँठल) राजकुमारी थी। उस का पुत्र जयकृत हुआ। दूसरी रानी डोटी की थी। उस के पुत्र प्रद्युम्न और पराक्रम हुए। तीसरी रानी गढ़वाली थी। उस का पुत्र प्रीतम था[1]। डोटी की रानी सब से प्यारी थी।

ललितशाह की कैकेई

बड़ो प्यार डोटी की रानी।
कहन में छोटी अत मनमानी॥
सो तिन के मंत्री बहिकाई।
जैसे मात कैकई गाई॥
सोई बात डोव्याली कीनी।
नृपताई निज पुत्र खों लीनी॥

रानी कीन्यों मान मन, एक दिन राजा साथ।
राजा रानी सों लगे, हँसि कै बूझन बात॥

....

राजा राज मम पुत्र को दीजे।
यह बिनती हमरी सुन लीजे॥

काम अंध ह्वै कह दियो, राजा राणी ताँहि।
पाछै आयो सोच यहि, भली भई यह नाँहि॥

---

[1] पंडित हरिकृष्ण रतूड़ी ललितशाह की दो रानियाँ बताते हैं। और हर एक से दो पुत्र अर्थात् एक से जयकृतशाह और — — और दूसरी से प्रद्युम्नशाह और प्रीतमशाह 'गढ़वाल का इतिहास', पृष्ठ ४०३

अपनी लाड़ली डोट्याली रानी के पुत्र प्रद्युम्नशाह को अपना उत्तराधिकारी बनाने का वचन दे कर ललितशाह को यह चिंता हुई कि अपने दो पुत्र जयकृत और पराक्रम के लिए और कोई राज्य ढूँढे। और उस ने चाहा कि कुमाऊँ और सिरमौर को सर कर के अपने इन दो पुत्रों को इन दो देशों का राजा बना देवे।

ललितशाह का सिरमौर राज्य पर आक्रमण

कूर्मांचल सिरमौर हि आवे।
राज करैं दोउ पुत्र तुहारे॥
इह राजा मन महिं ठहराई।
लागे फौजां रखन सिपाई॥
प्रथम फौज सिरमौर चढ़ाई।
चहूँ गिरद से ताक लगाई॥
गढ़ बैराट फूक सब दीन्यों।
हेला धाय कालसी कीन्यों॥
तब सिरमौर सों फौजां छूटी।
जित की तित गढ़ फौजें कूटी॥
कही बार जो पड़ी लड़ाई।
फते जो उन सौं कधी न पाई॥
रहे जबर सिरमौरी गढ़ सौं।
खैंच पड़े तलवारें मढ़ सौं॥
गढ़ की फौजें मार हटाई।
कियो मेल नहिं पार बसाई॥
तलब पड़ी देनी सब घर सों।
चाँदी सोना बेच्यो डर सों॥
खबर बरेली यह गई, हर्ष देव के द्वार।
सब जोशी कट्ठे भये, लागे करन विचार॥

मोलाराम के

कुमाऊँ में उस समय बड़ी गड़बड़ी मची

हुई थी। वहाँ मोहकमचद (मोहनसिंह) ने रानी शृंगारमंजरी को मार कर कुमाऊँ के राज्य-सिंहासन पर अधिकार कर लिया था। पुराने मंत्रि-दल को मोहनसिंह ने हटा दिया। पुराने मंत्री जोशी मोहनसिंह से नाराज़ हो गए। अपना प्रभुत्व जमाने की चिंता में लगे। इस लिए हर्षदेव जोशी अपने अनुयायी अन्य जोशियों को ले कर बरेली आया। और वहाँ से गढ़वाल के राजा, ललितशाह, को अल्मोड़े पर चढ़ाई करने और कुमाऊँ में राज्य करने के लिए लालच दिलाने लगा। बरेली में पहुँचने पर हर्षदेव जोशी को, ललितशाह की सिरमौरी हार का समाचार मिला।

कुमाऊँ राज्य में अराजकता

हर्षदेव जोशी का षड्यंत्र

हरपदेव इह बात सुनाई।
जोसी सब ही पास बुलाई॥
हमहुँ कुमाऊँ सैं इत आये।
यिन उदिम सबही अकुलाये॥
अब सब मिलि उदिम ठैरावो।
पाती लिखि गढ़ मैं पौंछावो॥
गढ़पति जो हमरे बस आवैं।
सकल काज हमरे बनि जावैं॥

... .

अरजी लिखि गढ़ मैं दई, जो मरजी तुमरी होय।
नाहण औ चंपावती, देहि मारि हम दोय॥

अरजी इह गढ़ मैं लिखि दीनी।
जोशी सब मिल मसलत कीनी॥
नाहण तुमहूँ फौज चढ़ाई।
मंत्री परजा कोइ न मिलाई॥
हमहुँ कुमाऊँ सै उठि धाये।
जब सौं मोहकमचंद [1]हि आये॥

---

[1] मोलाराम मोहनसिंह को मोहकमचंद कहता है

राजा राणी बालक मारे ।
तब सौं हमहूँ भये नियारे ॥
हम मंत्री जो मंत्र चलावे ।
एक पलक महि तिन्हैं उड़ावैं ॥
जो तुम आज्ञा हम कौं देहो ।
बाहण सहित कुमाऊँ लैहो ॥
प्रथम कुमाऊँ राजहि मारैं ।
ता पाछे बाहण पग धारैं ॥
तीनों ठौर तुम राजहि पावो ।
पुत्र आपने जो बैठावो ॥

सुनि अरजी महाराज इह , ललितशाह नर नाह ।
मनमे आई बात सब , भये प्रसन्न अथाह ॥

ललितशाह ने जोशियों को—

ललितशाह जोशियों की बातों मे आ कर कुमाऊँ पर आक्रमण करने को तैयार हो गए

प्रति उत्तर तुरतै लिखि दीन्यो !
....
पत्री बांच सिघ्र इत आवो ॥
फौज हमारी सँग ले जावो ।
मोहकन्चद को देहो उठाई ॥
तुम बैठो कुर्मांचल जाई ।
कुंवर हमारो सँग ले जावो ।
प्रद्युमन साह कौं राज बैठावो ॥

जोशियों ने इस के उत्तर मे ललितशाह को लिखा—

महाराज धन धन्न महा परताप तुम्हारे ।
मिले आफतैं आफ तुम्हें मंत्री जन सारे ॥
राज तुम्हारो भयो बात निश्चै इह आगो

जोशियों ने कहा अब हम तुम्हारे हो चुके। मगर हम कुमाऊँ तब तक नहीं जा सकते जब तक हमारे वहाँ का ऋण न तारा जाय।

लालची ललितशाह ने जोशियों का ऋण तारा

करज फरज सिर पै चढ्यो, बीस पचीस हज़ार।
आवन देत न ये तहाँ, हम को साहूकार॥

....

हुकम भयो जल्दी हि बुलावो।
बीस पचीस हजार पठावो॥
दई असरफी कछू रुपैया।
कह्यो तुरत आवो दोउ भैया॥

ललितशाह ने—

पत्री संग रुपैया दीने।
सो सब जोसी बाँट हि लीने॥

जोशियों ने बरेली में—

वस्तर नये सभी ने बनाये।

और तब बरेली से—

सजि कै जोसी गढ़ महि आये॥

जोशी दो भाई थे—जयानंद और हर्षदेव।

हर्षदेव तो बरेली रहा। जयानंद और कई जोशियों को ले कर श्रीनगर आया। राजा ने उन को रहने के लिए एक हवेली दी। और उन के खाने-पीने का प्रबंध बहुत अच्छा करा दिया। जोशियों को राजा ने अपनी सभा में बुलाया। जोशी राजा की तारीफ़ और चापलूसी करने लगे।

गढ़वाल की राजधानी, श्रीनगर, मे जोशियों का स्वागत

महाराज बलिराज अवतारी।
लागे बतियाँ करन पियारी॥

जयानंद जोशी तहँ बोले।
महाराज बड़भागी तोले॥
अरिपुर के सब मंत्री आये।
अरिपुर भेंट आफ की लाये॥
ललितशाह राजा तब कही।
कही तुम्हारी ह्वै है सही॥
तुमहूँ श्रीफल अरिपुर लाये।
दछिणा में हम पुत्र पठाये॥
पुत्र होत है प्राण सों प्यारो।
सो हमने तुम गोद ही डारो॥
प्रद्युमनसाह है याको नामहि।
सो तुमरे हम भेजें धामहि॥
इन को ले सँग महि तुम जावो।
कुर्मांचल को नृपति बनावो॥
तुम मंत्री इह राजा तुमरो।
देखि प्रसन्न होय जिय हमरो॥

कुवर प्रद्युम्नशाह कुमाऊँ के राज्यसिंहासन के लिए नियत किया गया।

जयानंद इत्यादि जोशियों ने कहा कि पहले इस समय हमारे साथ गढ़वाली सेना भेजो। हम कुमाऊँ जा कर पहले मोहकचंद (मोहनसिंह) को परास्त करेंगे। और उस को मार कर—

साध सत्रु को राज दबावें।
तब गढ़सों हम कुंवर ले जावें॥

कुर्मांचल के लिए प्रस्थान करने के पहिले जोशियों ने—

शुभ दिन नीको छांटि कै लीन्यो।
राज तिलक तब कुंवर को कीन्यो॥
प्रद्युमनचंद तहँ नाम धरायो।
कुर्मांचल को नृपति ठैरायो॥

गढ़वाल से गढ़वाली सैनिकों को लेजाकर जोशियों ने मोहकमचंद (मोहनसिंह) को परास्त किया

तब गढ़ से जोशी सब धाये।
मोहकचंद हि मारि भगाये॥
इहै खबर गढ़राज में आई।
घर घर बाजी मंगल बधाई॥

कुमाऊँ से जोशियों ने—

अर्जी लिख श्रीनगर पठाई।
तुम प्रताप हम जो फते पाई॥
मोहकचंद काढ़ि हम दीन्यो।
राज कुमाऊँ तुमरो कीन्यो॥
प्रद्युमनचंद अब हम को दीजे।
गढ़पति इह हमरो जस लीजै॥

राजा ने जोशियों को लिखा—

ललितशाह स्वयं कुमाऊँ जाने के लिए तैयार हुआ।

नवों राज इह खोटी परजा।
मानत नाहि हुकुम यह बरजा॥
यातें हम आवें तहाहीं।
सब को साधि करें बस माहीं॥
तब हम राज पुत्र बैठावें।
प्रद्युमनचंद हुकुम चलावें॥

यह सुन कर जोशी-बंधु घबड़ाए और उन्हों ने ललितशाह को लिखा—

जोशियों को राजा का स्वयं कुमाऊँ आना पसंद नहीं आया।

नाहक क्यों निज चरन दुखाओ।
गढ़ को छाड़ि कुमाऊँ आओ॥
हमहूँ इन को आफहि साधैं।
राजकाज सब तंत्र हि बाधैं॥
पुत्र आपनो शीघ्र पठाओ।
तुम क्यों गादी छोड़ि के आओ॥

जोशियों ने ललितशाह को परामर्श दिया कि आप गढ़वाल की गद्दी पर विराजमान रहिए। यहाँ—कुमाऊँ में—अपने पुत्र प्रद्युम्नचंद को भेज दीजिए। हम उन को कुमाऊँ की गद्दी पर बैठा देंगे।

गढ़ को राज करो नित तुम ही।
राज कुमाऊँ करें जो हम ही॥
इत के मंत्री इत ही रहैं।
तित के मंत्री तित ही कहैं॥

यह परामर्श ललितशाह को पसंद नहीं आया। वह जोशी मंत्रियों का मतलब समझ गया। और फौज ले कर कुमाऊँ को रवाना हुआ।

चढ़े फौज ले आप ही, ललितशाह महराज।
जोशी सुनि भैभीत भय, ज्यों तीतर लखि बाज॥
हर्षदेव पालायन कीन्यो।
जयानंद जोशी भय भीन्यो॥

जयानंद ने ललितशाह से कहा आप ने क्यों तकलीफ की; आप के यहाँ आने की खबर सुन कर यहाँ के सब लोग भाग गए हैं। मैं अकेला यहाँ रह गया हूँ। जनता-हीन कुमाऊँ राज्य का आप क्या करेंगे? कहाँ तक अकेले राजधानी में रहेंगे।

इस लिए उचित होगा कि आप राजधानी से बाहर दुलड़ी में रहें। मैं यहाँ राजधानी (अल्मोड़े) में राज्य-प्रबंध करूँगा। प्रजा को वापिस बुलाऊँगा। हर्षदेव को भी बुलाऊँगा। राजा ने जयानंद का कहना मान लिया। और अल्मोड़ा (राजधानी) के बाहर सात मील पर दुलड़ी (हवलबाग) में अपना डेरा डाला।

डेरा दुलड़ी में दियो, खेतसारी देहि छाड।
बस्यो शहर तहं मध्य महिं, चार तरफ करि बाड़।

फिर हर्षदेव को बुलाने की कोशिश की। ललितशाह हर्षदेव को वश में करना चाहता था हर्षदेव चाहता था कि वह अपना प्रभुत्व कुमाऊँ पर जमावे

र्षदेव ने कहा आप गढ़वाल को जाइए। राजा कहता था कि आप मुझ से आ कर मिलिए। ललितशाह और हर्षदेव के बीच समझौता नहीं हुआ। इसी तरह सात महीने बीत गए, और अंत में श्रावण के महीने में ललितशाह बीमार पड़ गया।

ललितशाह की मृत्यु

औषध कछू न लागी काहू।
मरे कही दुलड़ी में राऊ॥
राज प्रेत ले गढ़ महि आये।
जोशी बहु मन में हर्षाये॥
सिरीनगर माहीं गत कीनी।
राजश्री जैकीरत दीनी॥

मोलाराम के काव्यानुसार ललितशाह कुमाऊँ पर अपना राज्याधिकार अच्छी तरह से नहीं जमा पाए थे। किंतु पंडित हरिकृष्ण रतूड़ी के अनुसार "राजा ललितशाह ने प्रद्युम्नशाह को कुमाऊँ की गद्दी पर बैठा कर उन की सहायता के लिए जयचंद जोशी के भाई हर्षदेव को मंत्री-पद प्रदान किया, और स्वयं सेना ले कर श्रीनगर को लौटे। परंतु मार्ग में अचानक असाध्य रोग-ग्रस्त होने से दुलड़ी के मुक़ाम पर उन की देह छूट गई[1]।"

मोलाराम ने दुलड़ी का कुमाऊँ की सीमा पर, कुमाऊँ की राजधानी अल्मोड़े के पास होना संकेत किया है। जहाँ सात महीने ललितशाह क़िला बना कर अपनी फ़ौज के साथ रहे। गढ़वाल के 'गज़ेटियर' में लिखा है कि ललितशाह ठीक उस समय मरा जिस समय वह कुमाऊँ पर प्रायः विजय प्राप्त कर चुका था। पंडित हरिकृष्ण रतूड़ी ने भी ललित-

ललितशाह का समय और राज्यकाल में देहरादून की दुर्दशा

---

[1] 'गढ़वाल का इतिहास,' पृष्ठ ४०५। पंडित हरिकृष्ण रतूड़ी दुलड़ी में राजा की मृत्यु मानते हैं। किंतु दुलड़ी को कहीं रास्ते में बताते हैं। यह ग़लत है। दुलड़ी अल्मोड़े के पास हवलबाग़ है जहाँ ललितशाह ने नया क़िला व राजधानी बनाई थी

शाह के समय में कुमाऊँ राज्य में आंतरिक झगड़े और विसवों का होना माना है। और ललितशाह का कुमाऊँ पर आक्रमण करना लिखा है। किंतु कुमाऊँ के विसवों और ललितशाह के कुमाऊँ पर आक्रमण करने का जितना विस्तार-पूर्वक विवरण मोलाराम ने दिया है, उतना न तो रतूड़ी जी ने दिया है और न ऐटकिंसन ने। ऐटकिंसन ने ललितशाह का राज्यकाल सन् १७७२—१७८० माना है, अर्थात् आठ वर्ष राज्य करना बतलाया है। रतूड़ी जी ने ललितशाह का राज्यकाल ग्यारह वर्ष और आयु ५७ वर्ष लिखी है। और राज्य-समय सन् १७८०—१७९१ ई० में दिया है। किंतु यह ग़लत है। ऐटकिसन का दिया हुआ समय सही है। सन् १७७९ मे ललितशाह ने दशोली में क्रूर की नंदा (देवी) के मंदिर को जमीन दान कर के दी, और दूसरे साल लंगूर (लैंसडौन के पास के) भैरव को दान दिया। ये दानपत्र मौजूद हैं। जब ललितशाह कुमाऊँ से लड़ रहा था, देहरादून पर गूजर और सिक्ख लुटेरों ने हमला किया। खास कर सन् १७७५ और सन् १७८३ मे सिक्खो ने देहरादून प्रांत को लूटा। ललितशाह अपनी देहरादून की प्रजा की रक्षा न कर सका। उस ने सिक्ख लुटेरों को चार हज़ार रुपया सालाना नज़राना देना स्वीकार कर के अपना पीछा छुड़ाया। तब भी देहरादून के ज़िले को शांति नहीं मिली। और सिक्ख और गूजर सरदारों ने देहरादून से अपना आतंक जमा लिया। इस अराजकता के समय लंडौरा के राजा रामदयाल सिंह को भी देहरादून पर हाथ फेरने का अवसर मिला। इसी तरह गुलाबसिंह पुंडीर राजा ने भी देहरादून के कुछ हिस्से पर हाथ मारा। ललितशाह ने देहरादून की रक्षा के लिए पुंडीर राजा गुलाबसिंह की सहायता ली। और उस को देहरादून ज़िले के बारह गाँव अपनी कन्या के दहेज में दिए। इसी तरह रामदयाल सिंह को भी ललितशाह ने पाँच गाँव देहरादून की रक्षा के बदले मे दिए[1]।

---

[1] ऐटकिंसन 'हिमालयन डिस्ट्रिक्ट्स' जिल्द २ पृष्ठ ५७६ ७८।

हिंदुस्तान की पश्चिमोत्तरी "वैज्ञानिक सीमा"[1] की समस्या

[लेखक—श्रीयुत विश्वेश्वर प्रसाद, एम्० ए०]

देश की रक्षा का प्रश्न एक प्रधान प्रश्न है। इस कारण प्रत्येक शासन का कर्तव्य होता है कि अपने देश की सीमा या सरहद पर दृष्टि रक्खे और उस को सुदृढ़ बनाने का प्रबंध करे। इस काम के लिए यह आवश्यक है कि सरहद ऐसी बाँधी जाय कि प्राकृतिक स्थिति (पहाड़, नदी आदि) द्वारा दो देशों में भेद स्पष्ट प्रकट हो जाय। पहाड़ या नदी दो देशों को केवल एक दूसरे से स्पष्ट रूप से अलग ही नहीं करते हैं बल्कि देश की रक्षा के लिए भी उपयोगी होते हैं। ऊँचे पहाड़ वैरी को रोक लेते हैं और देश की सेना को यह अवसर देते हैं कि सुगमता से, अपनी सुविधा के अनुसार, उस का सामना करे। यदि कहीं हिमालय के समान हिमाच्छादित उच्च शिखर-शृंखला सीमा पर मौजूद हो तो बाहर से वैरी का आना प्रायः असंभव है। हमारे देश की सीमा प्रकृति ने आप ही निश्चित कर दी है। दक्षिण, पश्चिम और पूर्व के अधिकांश भाग समुद्र से घिरे हुए हैं, और उन का स्थल द्वारा अन्य देशों से कोई संपर्क नहीं है। उत्तर में पामीर से पूर्व लगभग १५०० मील लंबी आसाम की पहाड़ियों तक बर्फ़ से सदैव ढकी हुई ऊँची हिमालय की दीवाल है, जो संतरी के समान बाहर से आनेवाले वैरियों को रोके हुए है। इस दीवाल में कहीं-कहीं दर्रे हैं, लेकिन बर्फ़ से ढके रहने के कारण सेना के परिचालन के लिए अनुपयुक्त हैं। यह पर्वत-श्रेणी पश्चिमोत्तर तथा पूर्वोत्तर में नीची हो जाती है, और छोटी

[1] 'साइंटिफ़िक फ्रांटियर्स'।

नीची पहाड़ियाँ ही नजर आती हैं। इन पहाड़ियों के बीच काफी रास्ते हैं, जिन के द्वारा व्यापारी लोग ही नहीं बल्कि सेना भी सुगमता से आ-जा सकती है। इस कारण जितने भी आक्रमण मध्य-एशिया से हमारे देश पर हुए है, इसी पश्चिमोत्तरी पहाड़ी स्थल के बीच से हुए हैं। यह कुल स्थल लगभग १२०० मील लंबा है और उत्तर मे गिलगिट से ले कर दक्षिण मे समुद्र तक चला जाता है। इस के उत्तरी भाग मे पर्वत ऊँचे हैं, और दर्रे कम, तथा दक्षिणी भाग में छोटी पहाड़ियों पर रेतीली जल-हीन भूमि है। केवल मध्य-भाग में ही कुछ ऐसे दर्रे हैं जिन के द्वारा बाहर से वैरी आ सके हैं और सदा ही उन का भय रहता है। यदि ये मार्ग न होते तो सीमा और उस की रक्षा का प्रश्न हिंदुस्तान के इतिहास में इतना कठिन और जटिल न होता।

पंजाब-विजय के बाद ब्रिटिश सरकार के सम्मुख भी यह समस्या उपस्थित हुई, क्योंकि अब सिंधु नदी के पश्चिम मे पेशावर, कोहाट, बन्नू आदि स्थान उस के अधीन हो गए थे। सिंधु नदी की घाटी में संपूर्ण समतल भूमि पर जब अंग्रेजी अधिकार हो गया तब उत्तरी-पश्चिमी पहाड़ियाँ ही देश की सीमा बनीं। कुछ दक्षिण में, सिंध प्रांत पहले ही अधिकार में आ गया था और वहाँ के शासक अँगरेज़ कर्मचारी पश्चिम में स्थित मरुभूमि तथा पहाड़ी स्थल में रहने वाली बलूच जातियों पर अपना आधिपत्य जमाने का प्रयत्न कर रहे थे, और इस प्रकार उन को वहाँ की भौगोलिक स्थिति से अच्छा परिचय प्राप्त हो गया था। बलूच, मुरी, बुगती आदि जातियों पर सहज मे ही सफलता मिल जाने से उन कर्मचारियों का विश्वास हो गया कि आगे बढ़ने मे विशेष कठिनाइयाँ न पड़ेंगी और वे अफग़ानिस्तान की सीमा तक बढ़ने के लिए सरकार से अनुरोध करने लगे। परंतु पंजाब के अधिकारियो मे इतना आत्म-विश्वास न था और परिस्थिति की विभिन्नता के कारण आरंभ में वे पठान जातियों से कोई संबंध न रखना चाहते थे। ग़दर के कुछ समय बाद तक यह अवस्था रही।

इसी काल मे मध्य-एशिया में रूसी साम्राज्य की वृद्धि बहुत तेजी से हो रही थी और हर साल एक न एक स्वतंत्र राज्य उस की विजय लिप्सा का

शिकार हो रहा था। समरक़ंद, ताशकंद और बोखारा (१८६८ ई०) उस के अधीन हो गए थे और अब वह खीवा और दक्षिण-पश्चिम में मर्व की ओर बढ़ रहा था। मर्व पर रूस का अधिकार हो जाने से अफ़ग़ानिस्तान को पूरा भय था, और साथ ही हिंदुस्तान पर भी रूसी आक्रमण की संभावना थी। रूस का साम्राज्य धीरे-धीरे अफ़ग़ानिस्तान की ओर बढ़ रहा था और उस का अधिक जोर उस देश के उत्तरी-पश्चिमी कोने पर था। रूस की सरकार ने सेना तथा युद्ध-सामग्री के ले जाने के लिए रेल बना ली थी और वह लाइन अफ़ग़ानिस्तान की सरहद की ओर बढ़ रही थी। ऐसी स्थिति में अफ़ग़ानिस्तान का अमीर भयभीत हुआ और हिंदुस्तान की अँग्रेजी सरकार इस प्रकार के आक्रमण की संभावना से सशंक हो गई।

शंका के लिए कारण भी था। पूर्व-समय में जितने आक्रमणकारी मध्य-एशिया से इस देश में आए थे, वे अफ़ग़ानिस्तान हो कर ख़ैबर या बोलन दर्रों के मार्ग से यहाँ पहुँचे थे। परंतु अफ़ग़ानिस्तान में सभी जगह सुगम मार्ग न था। हिंदूकुश पर्वत, पूर्व में पामीर से ले कर पश्चिम में हेरात तक फैला हुआ है, और उत्तर से आनेवाले वैरियों को रोक सकता है। दर्रों की कमी न होते हुए भी इस पर्वत को पार करना किसी सेना के लिए दुष्कर है, क्योंकि ये दर्रे सदा बर्फ़ से ढके रहते हैं और ऊँचे भी हैं। केवल उत्तर-पश्चिम में पर्वत के नीचे हो जाने से और नदियों की घाटियों के कारण मार्ग मिलना संभव है। इस लिए रूसी सेना के लिए, यदि उस का ध्येय काबुल या हिंदुस्तान पर आक्रमण करना हो, तो केवल एक ही मार्ग रह गया था और वह कुश्की तथा हेरात के पास से था। हेरात से क़ंदहार हो कर बोलन पर, या ग़जनी तथा काबुल हो कर ख़ैबर पर धावा बोलना कोई कठिन बात न थी। अतः हेरात की ओर रूसी साम्राज्य के बढ़ने से हिंदुस्तान की सरकार का भयभीत होना स्वाभाविक था। इस बाधा को दूर करने के लिए और वैरी को, भय का अवसर आने से पहले ही, हटाने के लिए उन्नीसवीं शताब्दी में कई वर्षों तक एक नई नीति का अनुसरण किया गया जो "वैज्ञानिक सीमा" नीति के नाम से प्रसिद्ध है

लारेंस के वायसराय होने के लगभग आठ वर्ष पहले सिंध के शासक जैकब ने इस प्रश्न पर विचार किया था। उस का मत यह था कि "अपनी सीमा के भीतर किसी अन्य यूरोपीय शक्ति से युद्ध करने में हमारी ख्याति पर आघात होगा, क्योंकि हम अपने पूरे बल का प्रयोग न कर सकेंगे, यद्यपि वही शक्ति बाहर निकल कर लड़ने से विजय के लिए पर्याप्त होगी। भारत पर उत्तर-पश्चिम से आक्रमण करने के लिए केवल दो मार्ग हैं—खैबर और बोलन दर्रों से हो कर। हमारे दुर्ग और चौकियाँ उन सभी दर्रों के इस (हिंदुस्तान की) तरफ़ हैं—खैबर के पास पेशावर में और बोलन की ओर जैकोबाबाद में। पेशावर में हम बने रह कर दर्रे पर दृष्टि रख सकते हैं परंतु आत्म-रक्षा के लिए जैकोबाबाद से आगे बढ़ना ही पड़ेगा।......इस के लिए प्रथम आवश्यकता यह होगी कि हम क्वेटा पर अधिकार कर लें और बोलन दर्रे तक रेल बनाएँ और वहाँ से क्वेटा तक एक अच्छी सड़क। पुनः बलूचिस्तान में स्थित हो कर हम अफ़ग़ान लोगों को धन दें और शांति-पूर्वक हेरात पर अधिकार करें। क्वेटा में अच्छी छावनी होने से और हेरात के दुर्ग में बीस सहस्र सिपाही रख कर, हम केवल बोलन के मार्ग को ही न बंद कर लेंगे बल्कि संभवतः खैबर की तरफ़ जाते हुए वैरी की सेना पर पीछे से आक्रमण कर सकेंगे। तब हिंदुस्तान पर हमारा अधिकार पूर्ण हो सकेगा।"[1] इस नई नीति का जो आगे "वैज्ञानिक सीमा" की नीति के नाम से प्रसिद्ध हुई यहाँ से श्रीगणेश होता है। जैकब ने १८५६ ई० में कैनिंग से इस आशय की प्रार्थना भी की परंतु उस समय कोई फल नहीं हुआ क्योंकि लार्ड कैनिंग ने उस को स्वीकार न किया। फिर भी ये भाव स्थाई हो गए और आगे चल कर इन पर कार्य भी हुआ। जैकब तथा उस के समान विचार रखने वालों की इच्छा थी कि क्वेटा में छावनी हो जाय, जिस से रक्षा के निमित्त हिंदुस्तान की सीमा छोटी पहाड़ियों के उपरांत उत्तर-पश्चिम तक पहुँच जाय। क्वेटा पर

---

[1] लेविस पेली, 'सजेशंस टुवर्ड्स दि पर्मानेंट डिफेंस अव् नार्थ वेस्टर्न फ्रांटियर अव् इंडिया पृष्ठ २४५-५४

अधिकार हो जाने से क़ंदहार प्रभावित हो सकता था और हेरात की दिशा से भावी रूसी आक्रमण को सफलता-पूर्वक रोका जा सकता था।

कुछ काल पश्चात् लार्ड एलगिन की मृत्यु पर बार्टेल फ़्रेरे ने नए वायसराय के विचारार्थ एक पत्र भेजा, जिस मे उस ने नई नीति के अनुसरण करने का आग्रह किया था। परंतु भाग्यवश लारेंस नया शासक हो कर आया और वह नई नीति का कट्टर विरोधी था। लारेंस की नीति 'महान अकर्मण्यता'[1] की नीति कही जाती है। उस की धारणा थी कि रूसी सेना कभी भी इस देश पर आक्रमण नहीं कर सकती है, क्योंकि मार्ग मे अफ़ग़ान लोग उस को रोकेंगे और यदि दुर्भाग्य से वह हमारी सीमा तक पहुँच भी गई तो सिंधु नदी के किनारे तक उस का विरोध हो सकता है। वह सिंधु नदी को हिंदुस्तान की प्राकृतिक सीमा मानता था और उस के किनारे ही दुर्ग बना कर वैरी को रोकना चाहता था। इस के साथ वह काबुल के अमीर से मित्रता के पक्ष मे था, परंतु उस को सैनिक सहायता देने मे अथवा उस देश में दृढ़ शासन बनाने के लिए मदद देने में विश्वास न करता था। उस के शासन-काल मे इस बात की कोई भी आशा न थी कि नई नीति पर कुछ कार्य हो सकेगा, और १८६८ ई० के पूर्व रूस का इतना भय भी न था। दूसरी बार लारेंस के ही समय में (१८६६ ई०) सर हेनरी ग्रीन ने भी जैकब के समान ही क्वेटा पर अधिकार करने के लिए अनुरोध किया और चाहा कि वहाँ तक रेल बन जाय। इस प्रस्ताव से बंबई का गवर्नर सर बार्टेल फ़्रेरे भी सहमत था। अब राजनीतिक परिस्थिति में परिवर्तन हो जाने से ग्रीन के कथन में बहुत तत्त्व जान पड़ा। रूसी साम्राज्य की वृद्धि बहुत हो गई थी, और १८६५ ई० में ताशक़ंद पर भी उस का अधिकार हो जाने से उस ओर से भय भी बढ़ गया था। परंतु लारेंस ने ग्रीन के प्रस्ताव को स्वीकार न किया। वायसराय की कौंसिल के अन्य सदस्य भी आगे बढ़ने के विरुद्ध थे, अतः इस बार भी 'वैज्ञानिक सीमा" की नीति कोई व्यवहारिक रूप न धारण कर सकी।

---

[1] 'मास्टर्ली इनैक्टिविटी

इसी आशय का एक तीसरा प्रस्ताव २० जूलाई १८६८ ई० के अपने पत्र मे सर हेनरी रालिंसन ने भारत-सचिव से किया जिस की एक प्रति विचारार्थ हिंदुस्तान की सरकार के पास भेजी गई[1]। इस के पूर्व अफ़ग़ानिस्तान मे तख़्त के लिए पारिवारिक युद्ध छिड़ गया था और शेर अली तथा उस के भाइयों ने हिंदुस्तान सरकार से अपने-अपने लिए सहायता चाही थी। परंतु लारेंस ने किसी को भी सहायता न दी, और जो कोई भी कुछ समय के लिए काबुल का स्वामी हो जाता था उसी को वह अमीर स्वीकार कर लेता था। इस में उस का यह उद्देश्य था कि अफ़ग़ानिस्तान के झगड़े मे न पड़ कर वह अमीर तथा जनता की मित्रता का भागी रहे। यह नीति उस देश और उस समय की स्थिति को देखते हुए अच्छी थी, परंतु इस से एक हानि थी। अफ़ग़ानिस्तान दिन पर दिन निर्बल होता जा रहा था, जिस से वह रूस की बाढ़ को रोकने में असमर्थ होता जाता था। यह तो सभी दलवाले समझते थे कि अफ़ग़ानिस्तान की मित्रता और उस की शक्ति ही रूस के विरोध से हिंदुस्तान को बचा सकती है। भेद केवल इतना था कि लारेंस आदि वहाँ की राजनीति में हस्तक्षेप न करते हुए मित्रता चाहते थे और दूसरा पक्ष अपने आश्रित मित्र को तख़्त पर बिठा कर, धन और युद्ध-सामग्री की सहायता दे कर, अमीर को अपने हाथ में करना चाहता था, जिस से रूस का विरोध करने मे कभी काबुल की ओर से कोई संशय न रहे। रालिंसन ने अपने पत्र में लारेंस की नीति की त्रुटियों को दिखा कर लिखा था कि शेर अली को सहायता दे कर उस को काबुल में निर्द्वंद्व कर देना चाहिए, "क्योंकि काबुल मे प्रधानता प्राप्त करना हमारे लिए अत्यावश्यक है, जिस से हम रूस का वह मार्ग बंद कर सकते है"[2]। इस के साथ ही उस ने यह भी दिखाया कि तुर्की तथा यूरोपीय

---

[1] 'अफ़ग़ानिस्तान करेस्पांडेंस', सी २१९० (१८७८) पृष्ठ ३१। देखिए सेक्रेटरी अव् स्टेट फ़र इंडिया की आज्ञा से हिंदुस्तान की सरकार के पास भेजा हुआ २१ अगस्त, सन् १८६८ ई० का पत्र।

[2] पूर्वोद्धृत करेस्पांडेंस, पृष्ठ ३८

समस्याओं के कारण सदा ही इस बात का भय है कि रूस ब्रिटिश सरकार को एशिया में तंग करे। उस का यह भी अनुमान था कि रूस शीघ्र ही हेरात को अपने अधिकार में कर लेने में समर्थ होगा और यदि हेरात पर रूस का अधिकार हो गया तो उस की शक्ति मध्य-एशिया में बहुत प्रबल हो जायगी। रालिसन ने लिखा कि "हेरात 'हिंदुस्तान की कुंजी' कहा जाता है और मध्य-एशिया में उस की स्थिति सैनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।......वस्तुतः, यह कहना असत्य न होगा, यदि रूस पूर्णतया हेरात में अपने पैर जमा ले, और एक ओर मशद तथा अस्तराबाद से, दूसरी ओर मर्व होते हुए खीवा से और तीसरी दिशा में बोखारा और ताशक़ंद से उस का उचित मार्ग-संबंध हो जाय, तो एशिया की कुल सेनाएँ उस को वहाँ से हटाने में असमर्थ होंगी। फिर यदि वह कुटिलता पर उतर आए—और इंगलैंड का वैमनस्य ही उस के उस स्थान पर अधिकार करने का कारण होगा—तो उस के पास हम को हानि पहुँचाने की पूरी सुविधा होगी क्योंकि हेरात पर अनवरोध अधिकार हो जाने से फ़ारस तथा अफ़ग़ानिस्तान की पूरी सैनिक शक्ति उस के अधीन हो जावेगी।"[1] अंत में रालिसन ने इस कठिनाई से बचने के लिए उपाय बताया है। वह यह कि प्रथम फ़ारस के साथ ब्रिटिश सरकार मित्रता करे और वहाँ अपना दूत रख कर रूस के प्रभाव को मिटाए; दूसरे, शेर अली की स्थिति सुदृढ़ की जाय जिस से काबुल में ब्रिटिश प्रभाव प्रबल हो सके; तीसरे, लाहौर से पेशावर तक तथा अन्य छावनियों तक रेल बनाई जाय, और चौथे, क्वेटा में एक मज़बूत किला और छावनी बनाई जाय। परंतु यदि उस से शेर अली या अफ़ग़ान लोग अप्रसन्न हों तो कोई लाभ न होगा।[2]

रालिसन तथा इस नीति के अन्य समर्थक इस समय तक विशेषतः क्वेटा लेने के लिए ही अनुरोध कर रहे थे, यद्यपि उन की आँख क़ंदहार और हेरात पर भी थी। उन लोगों का विचार था कि सरहदी पहाड़ियों के इस तरफ़

---

[1] अफ़ग़ानिस्तान करेस्पांडेंस' पृष्ठ २९।

[2] वही, पृ० ४१।

रहने से वैरी को दर्रों के बाहरी मुख पर अधिकार कर लेने और पठान जातियो पर अपना प्रभाव डालने का अवसर मिल जायगा और तब आक्रमण का रोकना सहज न होगा। फिर यदि एक बार वैरी देश के भीतर आ गया तो हिंदुस्तान की असंतुष्ट प्रजा में विद्रोह का फैलना और वैरी की स्थिति का पुष्ट हो जाना कठिन न होगा। दूसरे, नैपोलियन के समय मे युद्धकला ने इतनी उन्नति कर ली थी कि पहाड़ियो की बाधा अब विशेष रुकावट नहीं समझी जाती थी। इस लिए यह आवश्यक था कि पहाड़ियों के उस पार दर्रों के दूसरे द्वार के बाहर, ब्रिटिश छावनियाँ बनें और वैरी का देश के बाहर ही सामना किया जावे। इस के साथ ही वे लोग अफ़ग़ानिस्तान के साथ दृढ़ मित्रता के पक्ष में थे, जिस से अवसर पड़ने पर उस देश के दुर्गों और सीमा की रक्षा का अच्छा प्रबंध हो सके। इस काम के लिए वे काबुल में अंगरेज राजदूत रखना चाहते थे और हेरात आदि सरहदी नगरों मे अन्य अधिकारी जो उस भाग के समाचारों से भारत सरकार को सूचित करते रहे। परतु लारेंस के समय मे और उस के बाद आने वाले दो वायसरायों के शासन-काल में उन के विचारों पर कार्य होना असंभव था क्योंकि वे सभी 'तटस्थ नीति'[1] के पक्षपाती थे।

इंग्लिस्तान में अनुदार दल का प्राबल्य होने पर डिसरायले प्रधान-मंत्री हुआ और तुर्की में रूस के अत्याचार के कारण 'निकट पूर्वीय समस्या'[2] का आरंभ हुआ। प्रधान-मंत्री ने रूस का विरोध करने के लिए हिंदुस्तान से सेना लाने की धमकी दी और रूस ने भी मध्य-एशिया में ब्रिटिश सरकार को छकाना चाहा। इस पर ब्रिटिश सरकार ने अफ़ग़ानिस्तान के प्रति नई नीति पर आचरण करना चाहा, जिस से अमीर पूर्णतया हिंदुस्तान सरकार के अधीन हो जाय और रूस का फंदा उस पर न पड़ सके। इधर इतने दिनों मे मध्य-एशिया में रूसी साम्राज्य भी बढ़ गया था। १८७३ ई० में खीवा पर उस का अधिकार हो गया था और अब वह मर्व पर दाँत लगाए हुए था। ताशकंद का रूसी गवर्नर

---

[1] 'पालिसी अव् नान-इंटर्वेंशन'।

[2] नियर ईस्ट प्राब्लेम

जेनरल काफ़मैन अमीर शेर अली से पत्र-व्यवहार करता था और उस को मित्रता तथा सहायता का आश्वासन दे रहा था। ऐसे समय मे विजय और साम्राज्य-वाद के विचारों से परिपूर्ण लार्ड लिटन वायसराय हो कर आया। चलते समय ब्रिटिश सरकार ने उस को हिदायत की थी कि वह अमीर से काबुल में अंग्रेज़ राजदूत रखने के लिए अनुरोध करे और रूस के विरुद्ध उस को सहायता का वचन दे। लिटन स्वयं यही चाहता था, और केवल इतना ही नहीं वह रूस को रोकने के लिए अफ़ग़ानिस्तान को पूर्णतया ब्रिटिश सरकार के अधीन करना चाहता था। उस ने 'वैज्ञानिक सीमा' की नीति को पुनर्जीवन दिया और अपने विचारों तथा कार्यों से उस को एक नया तथा पूर्ण रूप दिया, जिस के फल-स्वरूप अमीर काबुल के साथ एक निरर्थक युद्ध हुआ, परंतु हिंदुस्तान की सीमा मे कुछ वृद्धि हुई।

लिटन ने आते ही क्वेटा पर अधिकार कर लिया और सड़क बनाने की आज्ञा दी। इस प्रकार 'अग्रसर नीति' में पहला पग बढ़ाया गया। जब दक्षिण में स्थिति दृढ़ हो गई तो उस ने शेर अली से काबुल मे राजदूत रखने के लिए अनुरोध किया परंतु अमीर ने उस को स्वीकार न किया। इधर रूस का राज-दूत स्टोलीटाफ़ काबुल आया और शेर अली ने उस का स्वागत भी किया। इस घटना से लिटन के शरीर में आग लग गई और उस ने निश्चय किया कि या तो अमीर को अपनी इच्छानुसार दबा ही लेगा या उस को नष्ट कर डालेगा। इस लिए उस ने बलपूर्वक एक राजदूत काबुल भेजना चाहा और यह निश्चय किया कि यदि अमीर उस को मार्ग में रोकेगा तो युद्ध छेड़ दिया जायगा। इस आशय का उस ने २ अगस्त १८७८ ई० को एक पत्र भारत-सचिव क्रैनब्रुक को लिखा, जिस के आरंभ में उस ने 'वैज्ञानिक सीमा' और उस की रक्षा के संबंध में अपने विचार प्रकट किए। दूसरा अफ़ग़ान युद्ध (१८७८-८० ई०) इन्हीं आकांक्षाओं की तृप्ति के लिए हुआ था। अतएव 'वैज्ञानिक सीमा' की समस्या के इतिहास में इस पत्र का विशेष महत्त्व है। उस ने लिखा कि लोगों की यह धारणा कि रूस की शक्ति शीघ्र ही नष्ट हो जायगी और वह मध्य एशिया में बहुत दिन प्रबल न रह सकेगा भ्रांति पूर्ण है, क्योंकि "अब रूस की सरहद

१५० मील और निकट आ गई है और रूसी अधिकारियों तथा सेना का काबुल में सम्मान-पूर्वक स्वागत किया गया है, जो हमारी सीमा से १५० मील के भीतर ही है।" पुनः 'वैज्ञानिक सीमा' के संबंध में उस ने लिखा कि जो विचार मेरे यहाँ आने के पहले थे वे अधिक पुष्ट हो गए हैं और उन का अन्वय इस प्रकार है :—

"१—यद्यपि छोटी, संभवतः निर्बल और मित्र, एशियाई रियासतें एक प्रतिद्रोही प्रबल यूरोपियन साम्राज्य की अपेक्षा अधिक संतोषजनक पड़ोसी होंगी तथापि इस की आशा नहीं की जा सकती कि वे अधिक समय तक जीवित रह सकेंगी। अतः यह निश्चय है कि एक न एक दिन ब्रिटिश तथा रूसी साम्राज्य की सीमाएँ उत्तर-पश्चिम में एक दूसरे को स्पर्श करेंगी।

"२—अभी समय है कि हम इस पर विचार कर लें कि हम किस स्थान पर यह संपर्क चाहते हैं जिस में हम को कोई असुविधा या हानि न हो।

"३—संपर्क की रेखा जिसे हम निश्चय करें दृढ़ सैनिक रेखा होनी चाहिए।

"४—परंतु हमारी वर्तमान सीमा सैनिक दृष्टि से बहुत ही अनुचित है, क्योंकि उन सब दर्रों के बाहरी द्वार, जिन के द्वारा हिंदुस्तान में आने का मार्ग है, वैरी के हाथ में पड़ जाते हैं। भारतवर्ष को, उत्तर-पश्चिम में, प्राकृतिक सीमा हिंदूकुश पर्वत-श्रेणी है, और वह श्रेणी तथा ऐसी चौकियाँ ही, जो उस के दर्रों की रक्षा के लिए आवश्यक हों, हमारी अंतिम सीमा होनी चाहिए।

"जो लोग आधुनिक युद्ध कला के ज्ञाता हैं उन का मत है कि पर्वतों के पीछे रक्षा के लिए खड़े होने की प्रथा नैपोलियन के पूर्व थी, और वर्तमान काल में जहाँ भी उस का अनुकरण किया गया है वहाँ ही विनाश हुआ है। मेरे विचार में भारतवर्ष की एक रक्षा-योग्य दृढ़ सरहद बनाई जा सकती है। बाईं तरफ़ एक पार्श्व फ़ारस की खाड़ी से रक्षित है और पश्चिमी बलूचिस्तान की मरुभूमि से आच्छादित है। क्वेटा में अधिकार हो जाने से हमारी स्थिति अधिक पुष्ट हो जाती है, क्योंकि आते हुए वैरी का वहीं प्रतिरोध हो सकता है, और बोलन के इस ओर हम को तैयार होने के लिए काफ़ी समय मिल सकता

है। अतएव उस भाग में मुल्तान से ले कर समुद्र तक हमारी सीमा संतोष-जनक है। सैनिक दृष्टि से हम क़ंदहार पर अधिकार न करना चाहेंगे, परंतु राज-नीतिक दृष्टि से क़ंदहार को वैरी के हाथों में जाने देना हानिकारक होगा और कदाचित् रक्षा के निमित्त उस स्थान को भी अधीन कर लेना आवश्यक होगा जिस से खेलात-गिलजई ग़ज़नी और वहाँ से दर्रों में हो कर सीमा तक आने-वाले मार्गों को रोका जा सके।

"दाहिनी तरफ़ हिमालय की ऊँची दीवाल और तिब्बत की मरुभूमि से हमारी रक्षा होती है और उस ओर आगे बढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं है।...परंतु मध्य-भाग (क्वेटा से चित्राल) की रक्षा का प्रश्न जटिल है। मैं चाहता था कि हेरात तक हिंदूकुश और उस की शाखाएं हमारी मुख्य सीमा हों, बलख, मैमनह और हेरात में चौकियाँ रक्खी जाएँ और आमू नदी तक हमारा आधिपत्य समझा जाय। परंतु बदख्शां, बलख इत्यादि रूस के अधि-कार में हो जावेंगे, इस से हम को उन का विचार छोड़ देना चाहिए। तब हमारे लिए आवश्यक होगा कि शीघ्र ही बामियान आदि स्थानों को हम अपने अधिकार में कर लें, क्योंकि वे हिंदूकुश के उत्तरी द्वारों को बंद कर सकेंगे। हमारे लिए दो रेखाएँ हैं, एक बाहरी, आमू नदी तक, और दूसरी, भीतरी पर्वतों के पास, जिस की चौकियाँ बामियान आदि में होंगी। यदि हम भीतरी रेखा को ही निश्चित करें तो हमारी सीमा बामियान से पश्चिम हेलमंद नदी के बराबर गिरिश्क तक आएगी। यह तो सैनिक दृष्टि से उचित होगा, लेकिन अंततः हम को राजनीतिक कारणों के अनुसार ही कार्य करना होगा।...मर्व को हम रूस के हाथ में जाने से नहीं बचा सकते हैं।...हेरात ही हमारे और रूस के बीच में झगड़े का स्थान है और राजनीतिक दृष्टि से उस को रूस, फ़ारस या अन्य किसी वैरी के हाथ में पड़ जाने देना हमारे लिए अनुचित होगा।"

इसी पत्र में उस ने लिखा कि हमारी नीति इस प्रकार होनी चाहिए कि प्रथम, अमीर को धमकी या लोभ से बाध्य करें कि वह अफ़ग़ानिस्तान से रूसी प्रभाव को सदा के लिए हटाए, और यदि वह स्वीकार न करे तो, दूसरे, उस को कोई सहायता न दें और अफ़ग़ान राज्य को नष्ट कर के एक मित्र शासक

गद्दी पर बैठाएँ और तीसरे, उस देश का इतना भाग अपने अधिकार में कर लें जिस से उत्तरी-पश्चिमी सीमा की रक्षा सदा के लिए सुगम हो जाए।

इस आशय का लिटन ने अकेला यही पत्र नहीं लिखा। ९ सितंबर १८७८[1] ई० के हिंदुस्तान सरकार के पत्र का भी यही विषय था। लिटन ने 'वैज्ञानिक सीमा' को उत्तरी-पश्चिमी पहाड़ियों के उस पार तक ही परिमित न रख कर हिंदूकुश तक बढ़ाना चाहा और कंदहार, हेरात, बामियान आदि स्थानों में अपनी सेना रखने का प्रस्ताव किया। वह अफ़ग़ानिस्तान को मध्यवर्ती-राष्ट्र[2] का पद न देना चाहता था वरन् उस को और उस की सैनिक तथा पर-राष्ट्र नीति को अपने अधीन करना चाहता था, जिस से रूस को इस देश से बहुत दूर पर ही रोका जा सके। हिंदूकुश तक अपनी सरहद बढ़ा कर वह मौर्य तथा मुग़ल सम्राटों की नीति का अनुसरण करना चाहता था। इस के लिए काबुल की स्वतंत्रता का अपहरण आवश्यक था और इस कारण कि अमीर शेर अली अपना गला न फँसाना चाहता था, उस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी गई। दूसरे अफ़ग़ान युद्ध का विशेष कारण यही 'वैज्ञानिक सीमा' का प्रश्न था।

लिटन पहले से ही अफ़ग़ानिस्तान को दो भागों में विभक्त करना चाहता था। और एक पश्चिमी रियासत[3] बनाना चाहता था जिस से क़ंदहार तथा हेरात के शासक पर उस का पूरा आधिपत्य रह सके और उस के द्वारा सीमा की रक्षा सहज हो जाय। अतः जब अवसर आया तो उस ने क़ंदहार में अलग शासक नियुक्त किया। काबुल के लिए उस ने अब्दुर्रहमान को चुना और उस से बात-चीत आरंभ हुई। परतु इसी समय इंगलैंड में शासन-परिवर्तन हुआ और उदार-दल के नेता ग्लैड्स्टन प्रधान-मंत्री हुए। इस दल ने लिटन की नीति का घोर विरोध किया था अतः उस ने वायसराय पद

---

[1] 'अफ़ग़ानिस्तान करेस्पांडेंस' १८८१ नं० २, पृ० ४-२१।

[2] 'बफ़र स्टेट'।

[3] 'वेस्टर्न खानेट'।

से इस्तीफ़ा दे दिया और उस के स्थान पर रिपन नियुक्त हुआ। नए शासन के आने के पूर्व ही क़ंदहार के संबंध में विचार हुआ था। जेनरल राबर्ट्स का मत था कि क़ंदहार में ब्रिटिश सेना का रहना आवश्यक है, इस लिए उस नगर पर अधिकार रक्खा जाय और शेष पराजित भाग लौटा दिए जायँ। वह ख़ैबर तथा कुर्रम के मार्गों की तनिक भी चिंता न करता था, यदि क्वेटा और क़ंदहार में सेना रहे। राबर्ट्स का समर्थन लिटन, ग्रीन, मेरवेदर रालिसन तथा नेपियर कर रहे थे और उस के विरोध में वोल्सले, ऐंडी, लारेंस तथा पेरी थे। फ़ील्ड-मार्शल सर डोनेल्ड स्टीवर्ट, और नार्मन भी उस के पक्ष में न थे, परंतु सेनाध्यक्ष हेन्स के अनुसार क़ंदहार पर अधिकार रखना उचित था[१]। परंतु इस समय कंदहार के अतिरिक्त अफ़गानिस्तान के किसी भी भाग पर ब्रिटिश आधिपत्य कोई भी न चाहता था और लिटन की हिंदूकुश तथा हेरात तक विस्तृत 'वैज्ञानिक सीमा' का विशेष समर्थन न था। रिपन के आने पर ब्रिटिश मंत्रिमंडल ने निश्चित किया कि क़ंदहार भी अब्दुर्रहमान को दे दिया जाय और इस घटना के बाद लिटन की नीति का सर्वथा अंत हो गया। परंतु युद्ध के फलस्वरूप पिशिन, सीबी और कुर्रम घाटी हिंदुस्तान सरकार के आधिपत्य में आगई, और पीछे वापस आने की इच्छा रहते हुए भी रिपन या डफ़रिन क्वेटा को न छोड़ सके, बल्कि रेल का संबंध चमन तक होगया। 'अग्रसर नीति' का यह अंश तो स्थायी रहा ही।

रिपन ने पुनः अफ़गानिस्तान को 'मध्यस्थ राष्ट्र' का पद दिया और उस ने प्रयत्न किया कि अब्दुर्रहमान की स्थिति काबुल में पुष्ट हो जाय। नया अमीर भी हिंदुस्तानी सरकार का मित्र था इस से जब तक वह जीवित रहा झगड़े का कोई विशेष अवसर न आया। पुनः ब्रिटिश सरकार ने प्रयत्न किया कि अफ़गानिस्तान तथा रूस की सीमा निश्चित हो जाय, जिस से रूसी साम्राज्य हमारे देश की ओर अधिक न बढ़ सके। सरहदी कमीशन बैठा और

---

[१] इन लोगों की सम्मतियाँ 'क़ंदहार संबंधी पत्र' शीर्षक पार्लियामेंट की रिपोर्ट (अफ़ग़ानिस्तान १८८१, नं० २) में दी हुई हैं।

उस ने स्थान पर जा कर १८८६ ई० में सीमा नियत कर दी। जब तक अफ़ग़ानिस्तान मित्र तथा शक्तिशाली है, तब तक रूस के आक्रमण का कोई भय नहीं है, इस विचार से फिर कभी हेरात तथा क़ंदहार तक बढ़ने की नीति का अवलंबन न किया गया। लार्ड लैंसडाउन तथा सेनाध्यक्ष राबर्ट्स भी 'अग्रसर नीति' के प्रतिपक्षी थे परंतु वे केवल उत्तरी-पश्चिमी पहाड़ियों के दूसरे पार्श्व पर सुदृढ़ स्थानों को ही अपने अधीन कर के वहां तक रेल तथा सड़क का संबंध करना चाहते थे। इस से अमीर भयभीत हुआ और संभव था कि परस्पर द्वेष की आग सुलग उठती, परंतु ब्रिटिश सरकार ने वायसराय को सहयोग न दिया और अंत में डूरेंड ने अमीर से मिल कर हिंदुस्तान तथा अफ़ग़ानिस्तान के बीच की सीमा को भी निश्चित कर दिया, जो 'डूरेंड लाइन' के नाम से विख्यात है। रूस का भय न रह जाने से इस के उपरांत भारत सरकार की नीति 'डूरेंड लाइन' तक विस्तृत भूमि-भाग तथा पठान जातियों को अपने अधीन करने की रही है, और एलगिन तथा कर्ज़न के समय में दुर्ग, सड़कें तथा रेलें इस भाग में बनाई गईं और पठान जातियों के विद्रोह को दमन किया गया। इस समय दक्षिण भाग में चमन तक, मध्य में कुर्रम की घाटी में, और ख़ैबर दर्रे में रेल बन गई है, जिस से उत्तर-पश्चिम की रक्षा का उचित उपाय हो गया है।

'वैज्ञानिक सीमा' का क्या अर्थ है? द्वितीय अफ़ग़ान युद्ध के लगभग बीस वर्ष तक इस का अर्थ यही लिया जाता था कि युद्ध की आवश्यकता के अनुसार वह कौन भूमि-भाग है, जिस की रक्षा करना, मध्य-एशिया से आक्रमण होने पर, नितांत आवश्यक है। युद्धविद्या-विशारद इस प्रश्न पर सहमत न थे। कुछ लोग हेरात तक को संमिलित कर लेते थे, दूसरे बलख़ को भी अधीन करना चाहते थे, परंतु बहुमत काबुल-ग़ज़नी-क़ंदहार के पास एक रेखा डालना चाहता था, जिस की रक्षा अनिवार्य हो। यह भाग छोटा भी है और कोई वैरी इस को बचा कर उत्तर या दक्षिण में नहीं जा सकता है, क्योंकि एक ओर ऊँचे पहाड़ हैं और दूसरी ओर मरुभूमि। उन की यह भी धारणा थी कि यदि ये स्थान हिंदुस्तान की छावनियों से रेल द्वारा संबद्ध हो जायँ तो दोनों

पार्श्वों पर सुगमता और शीघ्रता से सेना लाई जा सकती है। परंतु द्वितीय अफ़गान युद्ध के बाद इस भाग से भी लौटना पड़ा और 'वैज्ञानिक सीमा' के विचार को छोड़ देना पड़ा। तिस पर भी एक युद्ध इस के कारण हुआ और ये भाव बहुत समय पश्चात् तक बने रहे, जिस से हिंदुस्तान सरकार की उत्तर-पश्चिमी सरहदी नीति पर बहुत प्रभाव पड़ा है।

समालोचना

साहित्य का इतिहास

आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास—लेखक, श्रीयुत कृष्णशंकर शुक्ल, एम० ए० । प्रकाशक, हिंदी-साहित्य-कुटीर, बनारस । १९३४ । मूल्य २॥)

इधर कुछ वर्षों के भीतर, हिंदी साहित्य के इतिहास पर अनेक ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं । इन में हमारे साहित्य के इतिहास पर समष्टि-रूप से दृष्टिपात किया गया है । परंतु अब आवश्यकता इस बात की प्रतीत होने लगी है कि हम अपने साहित्य के इतिहास पर समष्टि-रूप से न विचार कर, विशेष कालों को लें, और उन का विशेषता के साथ अध्ययन करें । प्रस्तुत ग्रंथ इसी दिशा में एक प्रयास है । इस ग्रंथ के लेखक पंडित कृष्णशंकर शुक्ल से, हिंदी-संसार उन के केशवदास-संबंधी आलोचनात्मक ग्रंथ द्वारा परिचित हो चुका है । इस पुस्तक में लेखक ने हमारे साहित्य की पिछले सत्तर वर्षों की प्रगति का वर्णन किया है ।

यह मानी हुई बात है कि इस काल में हम अपने साहित्य में गद्य और पद्य के जितने विविध रूप पाते हैं, इतने इस से पूर्व के कालों में नहीं मिलते । बलशाली पाश्चात्य सभ्यता के संघर्ष ने और वहाँ के साहित्य ने हमारे साहित्य में जो परिवर्तन उपस्थित किए हैं, उनका भी परिचय हमे इसी काल में मिलता है । परंतु इस काल का वर्णन उठा लेने में एक विशेष असुविधा है । यद्यपि यह संभव है कि इस काल के आरंभ के व्यक्तियों पर विचार करते हुए हम तटस्थ रह सकें परंतु हमें बहुत-से ऐसे साहित्यिकों पर विचार करना है जो हमारे सम-सामयिक है । ऐसा करने में लेखक में पक्षपात या विरोध की झलक आजाना स्वाभाविक है । इसी प्रकार साहित्यिकों के चुनाव में हम ऐसे नाम

रख सकते हैं जिन का कदाचित् काल के प्रवाह के साथ नाम मिट जावे। ऐसे नाम हम से छूट भी सकते हैं जिन को भविष्य मान्य समझे; तो भी समकालीनों पर विचार करना उचित ही है और समकालीनों द्वारा उपस्थित किया हुआ कार्य्य उपेक्षणीय न होना चाहिए।

इस बात को स्वीकार करने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए कि लेखक ने अपनी सम्मति देने में यथा-साध्य पक्षपात से दूर रहने का प्रयत्न किया है। पुस्तक में पर्याप्त सामग्री जुटाने का और उस के आधार पर आलोचनात्मक वर्णन का प्रयत्न किया गया है। यद्यपि पुस्तक का आलोचनात्मक अंश अधिक गंभीर और सुसंयत हो सकता था, फिर भी यह मान्य होना चाहिए कि इस में एकत्र की गई सामग्री मूल्यवान है।

पुस्तक के विषय का विभाजन उचित रीति से किया गया है। पूर्व-पीठिका के रूप में हिंदी-साहित्य के इतिहास के आरंभ से ले कर वर्णित काल के आरंभ तक की प्रमुख साहित्य-धाराओं का अतिसंक्षेप में वर्णन है, जो पंडित रामचंद्र शुक्ल की सम्मति के अनुसार है। आधुनिक काल में भी ब्रज-भाषा और खड़ी बोली की विभिन्न धाराओं का अलग-अलग वर्णन है। खड़ी बोली वाले भाग के आदि मध्य और वर्तमान इस प्रकार से उप-विभाग किए गए हैं, और इन प्रत्येक भागों में पद्य तथा गद्य के लेखकों, नाट्यकारों, औपन्यासिकों और आलोचकों पर अलग-अलग विचार किया गया है। पुस्तक में इस काल के सामयिक साहित्य की अति-संक्षिप्त चर्चा भी की गई है। सब मिला कर पुस्तक के ५०० पृष्ठों में बहुत कुछ पाठ्य सामग्री एकत्र हुई है।

यह नहीं कहा जा सकता कि पुस्तक में त्रुटियाँ नहीं हैं। पुस्तक का एक मुख्य दोष यह जान पड़ता है कि लेखकों के वर्णन में कहीं अति विस्तार हो गया है, और कहीं पर अति संक्षेप। बाबू मैथिली शरण गुप्त की एक रचना 'साकेत' की आलोचना में सोलह पृष्ठ लग गए हैं। दूसरी ओर कुछ प्रसिद्ध कवियों के वर्णन अति संक्षेप में दे दिए गए हैं। कुछ साहित्यिकों के जीवन-परिचय दिए गए हैं, अन्यों के नहीं, यद्यपि थोड़ी ही खोज करने पर वह प्राप्त किए जा सकते थे और उन का होना   था   छापे की अशुद्धियाँ भी

अनेक हैं। आशा है कि दूसरे संस्करण मे इन दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया जायगा।

लेखक पंडित रामचंद्र शुक्ल के शिष्य हैं और उन्हीं ने इस पुस्तक की भूमिका लिखी है।

कविता

शूल-फूल—लेखक, श्रीयुत नरेंद्र। प्रकाशक, साहित्य-भवन लिमिटेड, इलाहाबाद। १९१८। मूल्य ॥)

पंडित सुमित्रानंदन पंत ने अपनी रचनाओं द्वारा जितने नवीन हिंदी कवियों को प्रभावित किया है, उतना प्रभाव इस काल के किसी अन्य कवि ने नहीं डाला है। परिणाम-स्वरूप नवीन कवियों का एक वर्ग उत्पन्न हो गया है जो पंत-स्कूल नाम से ज्ञात है। श्रीयुत नरेंद्र शर्मा इसी वर्ग के होनहार और प्रतिभाशील कवि हैं। समालोच्य पुस्तक उन की कविताओं का पहला संग्रह है। इस मे लगभग चालीस छोटी-बड़ी कविताएँ हैं। यह देख कर संतोष होता है कि इन में से अधिकांश अच्छे कोटि की हैं। यह कदाचित् अनिवार्य था कि इन कविताओं का रचयिता, अपने वर्ग की प्रचलित शब्दावली और बहुत कुछ उस की शैली ग्रहण करता। साथ ही इस बात को भी स्वीकार करना चाहिए कि लेखक ने अपने निजी विचारों, भावों और कल्पनाओं को प्रकट करने का उद्योग किया है, और इन कविताओं मे हमें लेखक का व्यक्तित्व प्रकट होता है। यह व्यक्तित्व ऐसा है जो प्रकृति के निरीक्षण से भी प्रभावित हुआ है और मनुष्य के अंतर्हित सूक्ष्म मनोभावों से भी।

कई ऐसी कविताओं के नाम लिए जा सकते हैं जो उच्च कोटि की हैं। 'शिव-स्तुति' की शब्द-ध्वनि प्रभावशाली है। 'वेश्या' और 'पापियों से क्रुद्ध के प्रति' नामक कविताओं में पापियों के प्रति सहानुभूति परिलक्षित है। 'तुहिन-बिंदु' और 'शैलकुमारी' प्रकृति संबंधी कविताओं के अच्छे उदाहरण हैं। 'फुहार' और 'चमेली' सुंदर गीति-काव्य हैं।

पंडित अमरनाथ झा ने इस पुस्तक की प्रस्तावना में लेखक के संबंध में प्रोत्साहन के वाक्य लिखे हैं

हिमानी लेखक, श्रीयुत शांतिप्रिय द्विवेद प्रकाशक हिंदी मंदिर इलाहाबाद १९३४। मूल्य)

लगभग पाँच वर्ष हुए पंडित शांतिप्रिय द्विवेदी ने अपनी कविताओं का एक छोटा-सा संग्रह 'नीरव' नामक प्रकाशित किया था। इस संग्रह का उस समय साहित्यिकों ने स्वागत किया था। यह बात नहीं कि इस पहले संग्रह में परिपूर्णता लक्षित रही हो। परंतु इस मे एक भावुक होनहार कवि का प्रथम परिचय अवश्य मिला था। श्रीयुत शांतिप्रिय द्विवेदी ने इन वर्षों के बीच बहुत सी रचनाएँ नहीं कीं, जो कि एक अच्छी ही बात हुई। वर्तमान पुस्तक में उन के भावों में अधिक स्पष्टता और भाषा मे अधिक परिमार्जन दिखाई पड़ता है। द्विवेदी जी भी पंडित सुमित्रानंदन पंत के शब्द-सौन्दर्य से बहुत प्रेरित हैं और स्वयं पत जी ने इस पुस्तक की रचनाएँ एक दृष्टि देख भी ली हैं। कुछ कविताएँ सचमुच मार्मिक हुई हैं। हमें आशा है कि द्विवेदी जी की प्रतिभा आगे चल कर और भी सुंदर विकास पाएगी।

भिखारिन—लेखक, श्रीयुत शंभुदयाल सक्सेना। प्रकाशक, नवयुग ग्रंथ-कुटीर फ़र्रुखाबाद। १९३४ मूल्य ।)

इस छोटी सी परंतु सुंदर कविता-पुस्तक मे पाठकों के सामने हमारे समाज के एक करुण चित्र का—अर्थात् भिखारिन के जीवन का—चित्रण किया गया है। रचना अच्छी श्रेणी की है और खड़ी बोली का उपयोग साधारणतः बहुत शुद्ध हुआ है। कवि को रचना में एक मोहक प्रवाह है। श्रीयुत शंभुदयाल सक्सेना ने हिंदी कविता की कई छोटी पुस्तकें लिखी हैं, इन में 'अमरलता' मुख्य थी। प्रस्तुत पुस्तक 'अमरलता' के लेखक के अनुरूप है।

गद्य-गीत

तूणीर—लेखक, श्रीयुत देवदूत। प्रकाशक, हिंदी-मंदिर प्रेस, इलाहाबाद। १९३४। मूल्य ॥)

इस छोटी-सी पुस्तिका में इकतीस गद्य-गीत एकत्र किए गए हैं। इन में हमें एक मृदु सुरभि मिलती है। लेखक में कवि की कल्पना है और वह

उन्हें सुंदर शब्दों में भाव प्रवणता के साथ प्रस्तुत कर सका है इन गीतों के विचार पाठकों के चिंतन को उन्नत बनाएँगे

पंडित रामनरेश त्रिपाठीजी ने पुस्तक के लिए एक प्रशंसात्मक भूमिका लिखी है।

नाटक

राजयोग और सिंदूर की होली—लेखक, श्रीयुत लक्ष्मीनारायण मिश्र। प्रकाशक, भारती-भंडार, बनारस। १९३४। मूल्य प्रत्येक का १।)

पंडित लक्ष्मीनारायण मिश्र हिंदी के उदीयमान नाट्यकार हैं। पिछले तीन-चार वर्ष के भीतर इन्हों ने प्रायः आधे दर्जन नाटक प्रकाशित किए हैं। समालोच्य दो नाटक उन की सब से नवीन कृतियाँ हैं। इन नाटकों पर समष्टि-रूप से विचार करते हुए यह कहना पड़ेगा कि श्रीयुत लक्ष्मीनारायण मिश्र ने आधुनिक हिंदी साहित्य में अपने नाटकों के कारण एक सुंदर स्थान प्राप्त किया है। लेखक का पहला नाटक 'अशोक' सफल नहीं हुआ था। उस के पढ़ने से इस का पता चलता है कि लेखक ऐतिहासिक नाटकों के लिखने के साधन नहीं रखता। परंतु ज्योंही लेखक ने वर्तमान सामाजिक विषयों और समस्याओं को अपने नाटकों का विषय बनाया उस की विशेषता सामने आई। इस से यह परिणाम न निकालना चाहिए कि पंडित लक्ष्मीनारायण मिश्र जी के सामाजिक नाटक सर्वथा दोष-हीन है। क्योंकि उन में वास्तव में अपरिपक्वताएँ हैं—चरित्र-चित्रण तथा प्लाट दोनों में ही। यह भी विचार उठता है कि लेखक का नाट्यमंच का ज्ञान विशेष व्यावहारिक होता तो अच्छा होता। लेकिन यह बात मान्य होनी चाहिए कि हिंदी-जगत में जो इने-गिने नाट्यकार हैं उन में मिश्र जी न केवल अपने उद्योग में कौशल प्राप्त करने के लिए उत्सुक जान पड़ते हैं वरन् वास्तव में उन्हों ने बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त की है। ये दो नाटक जो सामने हैं उन में उन की विकासोन्मुखी कला का परिचय प्राप्त होता है। मिश्र जी ने आधुनिक सामाजिक प्रश्नों पर स्वयं भी विचार किया है और पाश्चात्य साहित्य का ज्ञान भी उन के लिए सहायक हुआ है।

'राजयोग' और 'सिंदूर की होली' दोनों ही समस्या-नाटक हैं। इन में से प्रथम केवल आठ घंटे के भीतर घटित घटनाक्रम का चित्रण करता है। इस समय के भीतर हमारे सामने कई विभिन्न समस्याएँ उपस्थित होती हैं और गहरे प्रतिस्पर्द्धी मनोभावों से परिचय मिलता है। पात्रों की संख्या अधिक नहीं और दृश्यों का परिवर्तन भी बहुत बार नहीं होता। प्रत्येक पात्र अपनी विशेष और विभिन्न समस्या के सुलझाने में लगा हुआ है। सर्व-प्रथम तो शत्रुसूदन है। यह एक राज्य का युवा स्वामी है। यद्यपि इस की पहली स्त्री जीवित है वह एक दूसरी कन्या से, उस की आधुनिक शिक्षा और संस्कृति देख कर, विवाह कर लेता है। इस पर भी वह इस बात का अनुभव करता है है उस की सुख की पूर्ति में कुछ कमी रह जाती है। इस कन्या की सगाई इस से पूर्व शत्रुसूदन के दीवान के पुत्र से हो चुकी थी। दीवान रघुवंश पुराने विचारों का स्वामिभक्त कर्मचारी है और उसे अपने पद के पितृपरंपरागत होने का विशेष गर्व है। वह वृद्ध होने पर भी अपने पद से नहीं हटना चाहता परंतु अपना पद अपने पुत्र के अतिरिक्त दूसरे को देना भी नहीं चाहता। उस का पुत्र नरेंद्र अपने विवाह के विषय में हताश हो कर अज्ञातवास में चला गया है। परंतु वह नाटक के मध्य में लौट आता है—एक योगी के वेश में। उस ने इस अज्ञातवास के अवसर मे बड़ी शक्तियाँ प्राप्त कर ली हैं। गजराज एक वृद्ध और विश्वस्त नौकर है परंतु उस के हृदय पर एक बड़ा भार है, वह यह कि वह अपनी नई स्वामिनी का औरस पिता है और इस रहस्य को वह छिपाए हुए है। योगी अपनी शक्तियों द्वारा इस रहस्य का उद्घाटन कराता है और इस प्रकार एक नई परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस सब घटना-चक्र में सब से दुःखी आत्मा चंपा की है। वह शिक्षिता है और सुसंस्कृत। अपने पति के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करना चाहती है, परंतु नरेंद्र के प्रति अपना प्रेम, जो दे चुकी है उसे भूल नहीं सकती। इस घटना-चक्र का कुशलता-पूर्वक निर्वाह किया गया है। अंत में नरेंद्र महान् त्याग करता है और अंतिम पटाक्षेप होने के पूर्व वह अपने उपदेश द्वारा अन्य पात्रों के बीच एक प्रकार का समझौता करा देता है।

'सिंदूर की होली' में भी मनोभावों का वैषम्य है परंतु दूसरे प्रकार का। इस में पात्रों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है परंतु मुख्य पात्र तीन हैं। मुरारी-लाल एक सरकारी कर्मचारी है, जिस का अपने एक मित्र की हत्या में हाथ है। वह अपने मित्र का धन अपहरण करता है परंतु उस के पुत्र मनोजशंकर का पालन करता है, और उस की शिक्षा का प्रबंध करता है तथा उसे अपना दामाद बनाने का इच्छुक है। मुरारीलाल एक हत्यारे से घूस का रुपया भी ग्रहण करता परंतु जिस युवक की हत्या होती है उस से मुरारी लाल की कन्या चंद्रलेखा हृदय में मुग्ध थी। मनोजशंकर पर अपने पिता की मृत्यु का रहस्य खुल जाता है और इस से वह बहुत विचलित होता है। उधर चंद्रकला भी अपने पिता के प्रति विरोध प्रकट करती है और मुरारीलाल को छोड़ कर जाना चाहती है परंतु मुरारीलाल अपने विचारों के आवाल मे पड़ जाता है।

पंडित अमरनाथ झा ने पहले नाटक पर और डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी ने दूसरे नाटक पर अपने महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तावना-रूप में दिए हैं, जिन से पुस्तकों का मूल्य बढ़ जाता है।

उपन्यास और गल्प

चित्रलेखा—लेखक, श्रीयुत भगवतीचरण वर्मा। प्रकाशक, साहित्य-भवन लिमिटेड, इलाहाबाद। १९३४। मूल्य १॥)

श्रीयुत भगवतीचरण वर्मा कवि-रूप में हिंदी संसार में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके हैं। कुछ वर्ष हुए जब आप की कविताओं का संग्रह प्रकाशित हुआ था, तब साहित्यिकों ने उस का स्वागत किया था। इस के बाद वह कविताएँ और गल्प समय-समय पर लिखते रहे है और इन्हों ने हिंदी की प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में स्थान पाया है। अब वह उपन्यासकार के रूप में प्रकट हुए हैं।

कुछ विचारों से 'चित्रलेखा' एक अच्छा उपन्यास है। जहाँ तक हिंदी में उपन्यास-लेखन की बात है, यह एक नए पथ पर चला है। पुस्तक लिखने की प्रेरणा लेखक को अनातोल फ्रांस की उत्कृष्ट रचना 'थायस' पढ़ कर हुई, इस बात को लेखक स्पष्ट रूप से और विनीत भाव से अपनी छोटी-सी भूमिका

में स्वीकार कर लेता है इस पुस्तक में तथा फ्रांसीसी महारथी की कृति म कुछ साम्य भी है। दोनों उपन्यासों की कथा वस्तु चिर अतीत काल से गृहीत है। प्रस्तुत पुस्तक का कुमारगिरि पैफन्यूटियस और बीजगुप्त निसियस का स्थान ले रहे हैं। उपन्यास की प्रधान पात्री चित्रलेखा के चित्रण से स्वयं थायस की स्मृति होती है। दोनों उपन्यासों में मनुष्य के सामने उपस्थित प्रलोभनों की और उस के पतन की समस्या वर्णित है। इस पतन को सुस्पष्ट करते हुए, दोनों उपन्यासों में हमें ऐसे चरित्र मिलेंगे जो प्रलोभनों के वशवर्ती होते हुए भी एक ऐसी दार्शनिक दृष्टि रखते हुए प्रतीत होते हैं, जो उन के चरित्रों की रक्षा करती है। दोनों उपन्यासों में हम पाप और पुण्य के विषय पर लंबे विचार पाते हैं, और दोनों मे संशयवाद का संपादन।

इन साम्यों को छोड़ कर, कदाचित् प्रस्तुत पुस्तक की समानता प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक की महान रचना से करनी उचित नहीं। विषय तथा कथा के निर्वाह और साहित्यिक परिमार्जन और उत्कृष्टता के लिए फ्रांसीसी महारथी अनातोल अपने जीवन-काल में अपनी बराबरी करने वाला नहीं रखता था। परंतु श्रीयुत वर्मा के पक्ष में यह कहना पड़ेगा कि उन्हों ने एक ऐसी कथा प्रस्तुत की है जो अंत तक पाठक का मनोरंजन करती है और जो हिंदी पाठकों के सामने कुछ नवीन विचार प्रस्तुत करती है।

पुस्तक में अनेक ऐतिहासिक संभ्रांतियाँ हैं, परंतु इन का और छापे की भूलों का सुधार दूसरे संस्करण में सुगमता-पूर्वक हो सकता है। यह स्वीकार न करना अनुचित होगा कि इस पुस्तक मे हमें लेखक की उन्नतिशील प्रतिभा का परिचय मिलता है।

तरकस—लेखक, पंडित रामनरेश त्रिपाठी। प्रकाशक, हिंदी-मंदिर, इलाहाबाद। १९३४। मूल्य ॥)

लेखक ने इस संग्रह में अपनी दस कहानियाँ एकत्र की हैं। पंडित रामनरेश त्रिपाठी न केवल हिंदी के आजकल के एक प्रमुख कवि हैं वरन उन की गद्यशैली भी एक विशेषता रखती है। उन की लेखनी के प्रवाह का परिचय इस पुस्तक में भी मिलेगा। इन कहानियों में अधिकांश हमारे सामा-

जिक जीवन का चित्रण है बफाती चाचा' शीर्षक कहानी बहुत करुण हुई है कुछ अन्य कहानियो म शिक्षा देने की प्रवृत्ति कथा की स्वाभाविक गति मे बाधक-सी है।

द्वादशी—लेखक, पंडित वाचस्पति पाठक। प्रकाशक, भारती-भंडार, बनारस। मूल्य १॥)

यह पाठक जी की कहानियों का एकमात्र संग्रह है। इस की भूमिका मे श्रीयुत पंडित नंददुलारे बाजपेयी लिखते हैं—"उन की कहानियाँ सामाजिक रूढ़ियों के फोटोग्राफ नहीं, स्वरचित चित्र हुई हैं।.........स्वभाव के अनुकूल ही उन की कहानियों मे कथानक की नहीं, कथा पात्रों की प्रमुखता है।" इस कथन से सहमति रखते हुए यह भी कहना ठीक होगा कि ये कहानियाँ भावुकता-पूर्ण हैं, जिन्हे हम कथा-रूप में सुंदर गद्य-काव्य कह सकते हैं।

पाठक जी ने थोड़ी ही कहानियाँ लिखी हैं, किंतु इन कहानियों में उन के उत्साहपूर्ण हृदय का आशाजनक भविष्य है। निःसंदेह उन की ये कहानियाँ, नवयुवकों का स्नेह प्राप्त कर सकती हैं। यों तो द्वादशी की अधिकांश कहानियाँ अच्छी हैं, किंतु 'रानी, 'अभिभावक' 'किन्नरी', 'पगली', 'कलाकर', 'जागरण'—शीर्षक कहानियाँ विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। इन कहानियों में लेखक की प्रतिभा हमें विश्वास दिलाती है कि आगे वे और भी अच्छी कहानियाँ लिखेंगे।
